Reg. No. MAHHIN / 2008 / 26222 ISSN-2250-2335

समीचीन

(साहित्य-समाज-संस्कृति और राजनीति के खुले मंच की अर्द्ध वार्षिक-अव्यावसायिक पत्रिका)

पीयर रिव्यूड व यू. जी. सी. केयर लिस्ट में सम्मिलित जर्नल

शोध-समीक्षा अंक

● वर्ष-16 ● अंक 37 ● अक्टूबर - दिसंबर 2023 ● पूर्णांक 75 ● मूल्य 100 रुपए 37

● संपादक - डॉ. सतीश पांडेय

देवेश ठाकुर

रचना-यात्रा के सात दशक

जन्म : 23 जुलाई, 1933, नानी के गाँव पैठानी (अल्मोड़ा, उत्तरांचल) में

रचना संसार

उपन्यास : भ्रमभंग, प्रिय शबनम, काँचघर, इसीलिए, अपनाअपना अकाश, जनगाथा, गुरुकुल, शून्य से शिखर तक, अंततः, शिखर पुरुष, जंगल के जुगनू, कातर बेला, जीवा, देवता के गुनाह, संध्या छाया, स्वप्न दंश, व्यक्तिगत, मारिया, कैम्पस कथा, स्मृतियों के कोलाज,

शीघ्र प्रकाश्य : तीसरी लड़ाई, ऐसा भी होता है, अपने अपने अंतर्द्वंद्व

काव्य : मयूरिका, अंतरछया, अवकाश के क्षणों में, कविताएँ (संपूर्ण कविताएँ)

कहानी : सिर्फ संवाद, फैसला तथा अन्य कहानियाँ

समीक्षा : नयी कविता के सात अध्याय, नदी के द्वीप की रचना प्रक्रिया, मैला आँचल की रचना प्रक्रिया, हिन्दी कहनी का विकास, साहित्य की सामाजिक भूमिका, साहित्य के मूल्य, आलेख

शोध : प्रसाद के नारीचरित्र (पीएच. डी.), आधुनिक हिन्दी साहित्य की मानवतावादी भूमिकाएँ, हिन्दी साहित्य तथा साहित्येतिहास : अंतरानुशासनों का अनुशीलन (विश्वविद्यालय अनुदान अयोग की विशिष्ट परियोजना के अंतर्गत)

संपादन : कथाक्रम1, कथाक्रम2 (कुल 175 कहानियाँ), कथावर्ष1976, कथावर्षझ1977, कथावर्ष1978, कथावर्ष1979, कथावर्ष1980, कथावर्ष1981, कथावर्ष1982, कथावर्ष-1983, कथावर्ष1992, कथावर्ष1994, हिन्दी की पहली कहानी, रचना प्रक्रिया और रचनाकार, प्रेमचंद साहित्य के अध्येता : डॉ. कमल किशोर गोयनका किशोर साहित्यः दो सहेलियाँ (कहानी संग्रह), ममता (उपन्यास)

समाज और राजनीति : आजादी की आधी सदी और आम आदमी (तीन खंडों में)

जीवनी : बुद्धगाथा

आत्मकथा : मैं यों जिया (आरंभिक अंर्तयात्रा, चंदन वन के बीच, इस यात्रा में) (तीन खंडों में) इसके अतिक्त 6 लोकप्रिय अंग्रेजी पुस्तकों का अनुवाद। 1500 से अधिक लेखों, शोधपत्रों, कहानियों, कविताओं, पुस्तक समीक्षाओं और स्तम्भ लेखों का प्रकाशन।

ISSN-2250-2335 Reg. No. MAHHIN/2008/26222

समीचीन

(साहित्य-समाज-संस्कृति और राजनीति के खुले मंच की त्रैमासिक-अव्यावसायिक पत्रिका)
पीयर रिव्यूड व यू. जी. सी. केयर लिस्ट में सम्मिलित जर्नल

प्रबंध संपादिका :
डॉ. रोहिणी शिवबालन
संस्थापक :
डॉ. देवेश ठाकुर
संपादक :
डॉ. सतीश पांडेय
संयुक्त संपादक :
डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट
संपादकीय सहयोग :
डॉ. भगवती प्रसाद उपाध्याय
डॉ. अनंत द्विवेदी
डॉ. ज्योत्सना राम
श्री. संतोष कुमार यादव

संपादकीय-संपर्क :
बी-23, हिमालय सोसाइटी, असल्फा,
घाटकोपर (प.),
मुंबई-400 084.
Email: sameecheen@gmail.com
website-www.http//:
sameecheen.com

विशेष :
'समीचीन' में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार संबद्ध रचनाकारों के हैं। संपादक-प्रकाशक की उनसे सहमति आवश्यक नहीं है। सभी विवादों का न्याय-क्षेत्र मात्र मुंबई होगा। सभी पदाधिकारी पूर्णरूप से अवैतनिक।

परीक्षक विद्वत मंडल : (Peer Review Team)
1) डॉ. राम प्रसाद भट्ट
भारत-विद्या विभाग,
हैम्बर्ग विश्वविद्यालय, हैम्बर्ग, जर्मनी
2) प्रो. (डॉ.) देवेन्द्र चौबे
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
3) प्रो. (डॉ.) वशिष्ठ अनूप
हिन्दी विभाग, काशी हिंदू विवि.,
वाराणसी, (उ. प्र.)
4) डॉ. नरेन्द्र मिश्र
प्रो. हिंदी, मानविकी विद्यापीठ, इग्नू मैदानगढ़ी,
दिल्ली110068
5) प्रो. (डॉ.) करुणाशंकर उपाध्याय
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, मुंबई विश्वविद्यालय,
मुंबई
6) प्रो. (डॉ.) अनिल सिंह
अध्यक्ष, हिन्दी अध्ययन मंडल, मुंबई
विश्वविद्यालय, मुंबई
7) प्रो. (डॉ.) सदानंद भोसले
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, सवित्रीबाई फुले पुणे
विद्यापीठ, पुणे
8) प्रो. (डॉ.) शरेशचंद्र चुलकीमठ
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, कर्नाटक
विश्वविद्यालय, धारवाड़
9) डॉ. अरुणा दुबलिश
पूर्व प्राचार्य, कनोहरलाल महिला स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, मेरठ (उ. प्र.)

स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक : डॉ. सतीश पांडेय ने प्रिंटोग्राफी सिस्टम (इंडिया) प्रा. लि., 13/डी, कुर्ला इंडस्ट्रियल एस्टेट, नारी सेवा सदन रोड, नारायण नगर, घाटकोपर (प.) मुंबई-400 086 में छपवाकर बी-23, हिमालय सोसाइटी, असल्फा, घाटकोपर (प.), मुंबई-400084 से प्रकाशित किया।

● वर्ष-16 ● अंक 37 ● अक्टूबर-दिसंबर-2023 ● पूर्णांक 74 ● मूल्य 100 रुपए
सहयोग : एक प्रति रु. 100/-, वार्षिक रु. 400/-, पंच वार्षिक रु. 2000/-

सीधे समीचीन के खाते में भेजने के लिए : खातेधारक का नाम : **समीचीन** / sameecheen
A/C No. 60330431138, Bank of Maharashtra,
Dr. Ambedkar Road, Dadar, Mumbai. IFSC : MAHB0000045

अनुक्रमणिका

1. अपने तईं 07
2. महानगरीय जीवन का यथार्थ और 'जंगल के जुगनू'
   - प्रो. डॉ. अनिल सिंह 08-11
3. 'विसर्जन' : मुक्त बाजार और उदारीकरण का नया विमर्श
   - डा. मृत्युंजय सिंह 12-17
4. 'कारे जहाँ दराज है' में अस्मितामूलक विमर्श'
   - डॉ. मिर्झा अनिसबेग रज्जाकबेग 18-22
5. अमर देसवाः महामारी एवं अन्य समस्याओं का यथार्थ चित्रण
   - डॉ. राजेश कुमारी कौशिक 23-28
6. स्त्रीगाथाः बेनाम स्त्री की मनोदशा का चित्रण
   -डॉ बसुन्धरा उपाध्याय 29-34
7. 'तमस' में पंजाब का लोकजीवन - किरन रानी 35-39
8. मेहरून्निसा परवेज के उपन्यासों में संघर्षशील नारी की व्यथा
   - डॉ. सविता टॉक (शोध-निर्देशक) सुश्री दुर्गावती (शोधार्थी) 40-45
9. 'पत्ताखोर' उपन्यास के परिप्रेक्ष्य में युवापीढ़ी में नशाखोरी
   की समस्या- डॉ. रीना सिंह 46-49
10. हिमांशु जोशी के उपन्यासों में प्रेम सम्बन्धों के
    विविध रूप- डॉ. गजेन्द्र सिंह 50-53
11. महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में नारी पात्रों का मातृत्व
    के प्रति द्वन्द्व का चित्रण- डॉ. झेलम झेंडे 54-62
12. हिंदी के 'डूब' और नेपाली के 'यहाँदेखि त्यहाँसम्म'
    उपन्यास में स्त्री चेतना का स्वरूप- टिंकू छेत्री 63-68
13. महाश्वेता देवी के उपन्यास 'सूरज गगराइ' में आदिवासी
    चेतना- गुरप्रीत कौर (शोधार्थी) 69-73
14. सुशीला टाकभौरे कृत 'वह लड़की' उपन्यास में दलित महिला
    चेतना- डॉ. एल. तिल्लै सेल्वी (शोध-निर्देशक)
    एस. जानकी (शोधार्थी) 74-79
15. 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान' उपन्यास में
    शरणार्थियों की समस्याएँ' - प्रोफेसर आर.पी. गंगवार (शोध-निर्देशक)
    पूनम लाकर (शोधार्थी) 80-83
16. लिहाफ से ओढी सदाचार- डॉ .प्रणीता.पी 84-88
17. संजीव की कहानियों में आदिवासी चिंतन
    - डॉ. मीनाक्षी चौधरी 89-94
18. हिंदी कहानियों में पल्लवित दिव्यांग विमर्श : आत्मनिर्भरता
    एवं जिजीविषापूर्ण कहानियों का निरीक्षण- वैशाली सिंघल 95-99
19. गाँवों के बदलाव की कहानी-'अग्निलीक'
    - डॉ. गोविंद शिवशेट्टे 100-103
20. संबंधों पर पड़ता तनाव का सच- डॉ सिन्धु जी नायर 104-108

21. विकास बिश्नोई की कहानियों में बदलते वर्तमान
परिदृश्य- डॉ. रश्मि शर्मा 109-112
22. प्रेमचन्द के आलोचकों का सांस्कृतिक अधिष्ठान
- मिन्नु जोसेफ 113-117
23. भारतीयता के उपासक : प्रेमचंद- राघवेन्द्र सिंह 118-123
24. बेरोजगार युवा मानस की व्यथा-कथा और अखिलेश का कथा-
साहित्य- प्रो. नवीन चन्द्र लोहनी,(शोध-निर्देशक),डॉ. योगेन्द्र सिंह 124-128
25. 'धर्म और अधर्म' नाटक - पौराणिक परिप्रेक्ष्य में- डॉ. शर्लिन 129-132
26. दलित विमर्श के आइने में हिन्दी नाटक और रंगमंच
- विभीषण कुमार 133-138
27. 'मुआवजे' नाटक में चित्रित सामाजिक यथार्थ'
- मनोजकुमार सुभाष शर्मा 139-144
28. भक्ति की पृष्ठभूमि पर स्त्री की आत्माभिव्यक्ति
- डॉ. उमा मीणा 145-151
29. मीराबाई की भक्ति भावना का स्वरूप - छविन्दर कुमार 152-156
30. भारतेन्दु युगीन कवि : दत्त द्विजेन्द्र के काव्य में राष्ट्रीय चेतना
- डॉ मिथिलेश शर्मा 157-163
31. समय से साक्षात्कार की कविताएँ - प्रोमिला 164-171
32. संत रविदास : आस्था और विश्वास के कवि - प्रो. चंद्रकांत सिंह 172-177
33. प्रकृति, पारिस्थितिकी और समकालीन हिंदी कविता- ध्रुव कुमार 178-183
34. मराठी संतों का हिंदी काव्य- डॉ रूपा चारी 184-190
35. विचलन प्रतिमान के निकष पर ज्ञानेंद्रपति की कविताएँ
- प्रो. सदानंद भोसले, (शोध-निर्देशक)
रेवनसिद्ध काशिनाथ चव्हाण, (शोध - छात्र) 191-196
36. मनुष्यता का अकाल और जसिंता की कविता - अपर्णा ए. 197-201
37. विराट व्यक्तित्व के साहित्यकार : देवेश ठाकुर
- डॉ प्रवीण चंद्र बिष्ट 202-211
38. रामदरश मिश्र :व्यक्तित्व एवं रचना-संसार- सौरभ मिश्र 212-216
39. अट्टालिका से देखिए झोपड़ी का दैन्य- अभिषेक गुप्ता 217-221
40. संस्मरण में पशु-जीवन : मनुष्यता की पहचान
- डॉ. मधुबाला शुक्ल 222-226
41. साहित्य का स्त्रीवादी चेहरा - डॉ. सुनीता कुमारी 227-233
42. महिला सबलीकरण की दिशा में महात्मा गांधी चिंतन
- प्रा. रेणुका चव्हाण 234-239
43. भूमंडलीकरण के खिलाफ एक प्रतिरोध के रूप में आदिवासी
संस्कृति- डॉ. अनीश के. एन. 240-243
44. कच्छ के छोटे रण में अगरिया समुदाय की सामाजिक आर्थिक
स्थिति का अध्ययन- डॉ. हसमुख पंचाल 244-248
45. सहयोग और सहकारी संघवाद - डॉ सुमन यादव 249-253

46. हिंदी साहित्य में सौंदर्य-वर्णन
- भारती गोरे 254-258
47. उत्तर आधुनिकता की स्थापनाएँ और सीमाएँ
- डॉ. शशिभूषण मिश्र 259-263
48. नवजागरण और स्त्री - डॉ. जितेंद्र कुमार बाजपेयी 264-266
49. धूमिल की राजनीतिक दृष्टि - डॉ. सन्दीप सिंह 267-269
50. राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का हिंदी के प्रति दृष्टिकोण
- डॉ. विनय कुमार पटेल 270-273
51. समाज सुधार और आधुनिकीकरण
- संदीप सामंत सिंह 274-276
52. स्वातंत्र्योत्तर मराठी कविता
- प्रो. विजयकुमार रोडे 277-283

अपने तईं

साहित्य और समाज का हमेशा से घनिष्ठ संबंध रहा है और इस संबंध को अपनी प्रगतिशील सामाजिक दृष्टि के तहत उर्वर रचनाधर्मिता द्वारा अनवरत सुदृढ़ बनाने का कार्य साहित्यकार करता है। वह एक सजग और सक्षम प्रहरी की भाँति समाज में व्याप्त अनैतिकता, विद्रूपता, अराजकता, गरीबी, बेरोजगारी, सामाजिक न्याय-अन्याय, शोषण, भ्रष्टाचार, स्त्रियों की दुर्दशा, अमीरजादों का अनैतिक व्यवहार, सरकार के अनीतिपूर्ण निर्णय, साम्प्रदायिक विद्वेष तथा गरीबों के संघर्ष आदि स्थितियों पर न सिर्फ पैनी नजर रखता है बल्कि उसकी सार्थक अभिव्यक्ति द्वारा समाज में चेतना जागृत करता है।

'समीचीन' का उद्देश्य ऐसे ही प्रतिबद्ध रचनाकारों के साहित्य से पाठकों को अवगत कराना एवं सुधी समीक्षकों, विचारकों और चिंतकों के विष्लेषण को समाज के सामने लाना हमेशा से रहा है, जिससे समाज को सही दिशा मिल सके।

आज देश में विकास के नाम पर पर्यावरण को नष्ट किया जा रहा है तथा मंदिर-मस्जिद, भारत-पाकिस्तान व भारत-चीन जैसे संवेदनशील मुद्दों को तवज्जो दी जा रही है और महँगाई, बेरोजगारी तथा व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताओं - रोटी-कपडा और मकान को दरकिनार कर दिया गया है। ऐसे समय में समीचीन का यह अंक देश के प्रसिद्ध आलोचकों, समीक्षकों व शोधार्थियों द्वारा विविध-विधाओं और विविध विमर्शों के विष्लेषण को पाठकों के सामने लाने के अपने संकल्प को पूरा कर रहा है जिसमें महानगरीय जीवन की त्रासदी, मुक्त बाजार और उदारीकरण, महामारी, स्त्रियों की मनोदशा, पंजाब का लोक-जीवन, युवा पीढ़ी में नशाखोरी, आदिवासी चेतना, दलित महिला, शरणार्थियों की समस्या, दिव्यांग विमर्श, बदलते गाँव, बढ़ते तनावपूर्ण पारस्परिक संबंध, बेरोजगार युवाओं का यथार्थ, आस्था व विश्वास, प्रकृति, मनुष्यता का अकाल, तथा पशु जीवन आदि विषयों पर केन्द्रित रचनाओं को शामिल किया गया है। आशा है कि यह अंक भी पाठकों के लिए उपयोगी होगा । अपने रचनाकार साथियों तथा सहयोगियों के प्रति हम हृदय से आभारी हैं। - अस्तु!

- डॉ प्रवीण चंद्र बिष्ट

महानगरीय जीवन का यथार्थ और 'जंगल के जुगनू'

- प्रो. डॉ. अनिल सिंह

देवेश ठाकुर हिंदी साहित्य के ऐसे लेखक हैं जो पिछले कई दशकों से सक्रिय हैं और आज भी नब्बे वर्ष से अधिक की आयु हो जाने के बाद भी लेखन के क्षेत्र में सक्रिय बने हुए हैं। वे समर्पित लेखन का साक्षात उदाहरण हैं। हिंदी साहित्य में ऐसे समर्पित लेखक कम ही हुए हैं। उन्होंने बहुत से उपन्यासों की रचना की है, जिनमें से 'जंगल के जुगनू' उपन्यास इस लेख के केंद्र में है। देवेश ठाकुर का लेखन संपूर्ण जीवन को केंद्र में रखकर लिखे गए लेखन का उदाहरण है। पिछले कई दशकों में सक्रिय कई विमर्शों और रचना संदर्भों के प्रभाव से अलग रहकर उन्होंने विशुद्ध मानव को अपनी रचनाओं के केंद्र में रखा है। 'जंगल के जुगनू' उपन्यास ऐसे साहित्य का श्रेष्ठ उदाहरण है। इस उपन्यास के केंद्र में महानगरीय जीवन है और साथ ही महानगरीय जीवन में संघर्ष करते मनुष्य को सार्थकता से चित्रित किया गया है।

यह उपन्यास जीवन के बहुपदीय संघर्ष को विशिष्ट तरीके से व्यंजित करता है। महानगरीय परिवेश, कथा-साहित्य के केंद्र में आजादी के बाद विशिष्ट तरीके से सम्मिलित हुआ है, जिसमें मानवीय जीवन की समस्याएँ, बुनियादी जरूरत को लेकर होने वाला संघर्ष तथा अस्मिता का संघर्ष इत्यादि सभी सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्ति का अपना पारिवारिक संघर्ष और आत्मिक संघर्ष भी विशिष्ट अनुभव दिशा से संपन्न होकर इन उपन्यासों में आया है। जंगल के जुगनू उपन्यास में यह समस्त दिशाएँ अत्यंत सार्थक तरीके से कथा संरचना में गुम्फित की गई हैं।

उपन्यास की कथा संरचना के केंद्र में पल्ली या पलक शिवशंकरन नामक पात्र है। तमिलनाडु के एक छोटे से गाँव तिरची से शुरू हुआ पल्ली का संघर्ष उसे मुंबई ले आता है और मुंबई में जीवन को लेकर उसकी जद्दोजहद और बढ़ गई। उसके पास रोजमर्रा की समस्याएँ तो थी ही, रिश्तों के खोखलेपन ने इन समस्याओं को और बढ़ा दिया था। उसके व्यक्तिगत जीवन में उसकी माँ और सब्बू के व्यवहार ने जहाँ विसंगतियाँ पैदा कर दी थी, वहीं नियति ने भी उसके साथ खासा मजाक किया। नौकरी मिल जाने और विवाह के बाद जब उसके जीवन में एक सुकून का क्षण आया तो नियति ने उसे विधवा बना दिया और उसका जीवन पुनः संकटों में घिर गया। ऐसे में उसके व्यक्तिगत रिश्ते भी उसे नोच-खसोट रहे थे। जिससे उसकी पीड़ा और भी बढ़ गई। अपनी बहन बब्बो से अपनी माँ के व्यवहार के बारे में वह कहती है, 'पता नहीं बब्बो, उसने हमेशा मेरे साथ ऐसा ही किया है। एक बार जब राज्य श्री दो ढाई साल की थी, बहुत बीमार हो गई थी। मैंने उसे वाडिया में दाखिल करवा कर प्राइवेट रूम ले लिया था। .....एक दिन सवेरे-सवेरे अम्मा वहाँ आ धमकी। मुझे आश्चर्य भी हुआ और थोड़ी राहत भी मिली। राज्यश्री के स्वास्थ्य के बारे में एक दो वाक्य पूछकर वह बोली - 'पल्ली सात तारीख आ रही है। सोसाइटी वालों को मेंटेनेंस का चेक देना है। तू मुझे एक चेक काट दे।' बब्बू सच कहती हूँ उस दिन मैं अपने भाग्य को कोसती रही कि आखिर में पैदा ही क्यों हुई। और हुई भी तो इस माँ की कोख से क्यों हुई..... क्या सभी माएँ पूजनीय होती हैं? मेरी आँखें भर

आई थी।'[1] इस तरह अपनी बहन बब्बो से वह अपनी पीड़ा को व्यक्त करती है। उसका समस्त जीवन इस तरह का रहा कि उसने दुख को अपने जीवन का दर्शन ही बना लिया। उपन्यास में एक स्थल पर वह कहती है, 'आज सोचती हूँ, मैंने कब-कब, क्या-क्या नहीं सहा। पूरी जिंदगी सहते-सहते ही बीत गई। जब से मुंबई में आयी, सहते रहना ही मेरी नियत ही बन गयी। कभी माँ की दुत्कारें और व्यंग्य सहे। कभी पिता की असमर्थता सही और कभी बहन की स्वार्थपरता। शुभम के निधन में अपने दुर्भाग्य को सहा और बच्चों के पोषण में अपने अकेलेपन को। ऐसे उदास क्षणों में वे दिन भी याद आते हैं जब कॉलेज के प्रिंसिपल से लेकर बिल्डिंग के आवारा लोगों तक ने मेरे अकेलेपन का फायदा उठाना चाहा।'[2] इस तरह इस उपन्यास में लेखक ने एक तरफ महानगरीय जीवन के यथार्थ को तो व्यक्त किया ही है, वहीं दूसरी तरफ एक स्त्री के जीवन की विसंगतियों को भी उजागर किया है। एक प्रोफेसर होने के बावजूद भी अंततः वह एक स्त्री थी और स्त्री होने का अभिशाप उसे भी झेलना ही पड़ा। यह सच महानगरीय जीवन का ही सच नहीं है, बल्कि पूरे समाज का सच है, जिसे पल्ली के माध्यम से लेखक ने व्यक्त किया है। यद्यपि बब्बो के रूप में उसकी बहन और पिता से उसे भावनात्मक सहारा मिलता था परंतु सच तो यह है कि जीवन में भावनात्मक सहारे के साथ-साथ जिस सुरक्षित आश्रय की आवश्यकता होती है, वह उसके जीवन में जैसे कभी रहा ही नहीं। और उसने भी अपने दुखों से निजात पाने के लिए उपन्यास के अन्य पात्र देवांगी की तरह समाज सेवा को ही अपना सहारा बना लिया। कॉलेज में रहते हुए फातिमा जैसी छात्राओं के लिए वह प्राणपण से समर्पित रहती थी। और कॉलेज के बाहर देवांगी की प्रेरणा से उसने देवांगी की संस्था में काम करना शुरू किया। जहाँ से उसे थोड़ा सुकून भी मिला। देवांगी और पलक दोनों के ही माध्यम से उपन्यासकार ने व्यक्तिगत स्वार्थ से परमार्थ की ओर बढ़ने की आवश्यकता पर भी बल दिया है।

देवांगी भी इस उपन्यास का महत्वपूर्ण पात्र है, जिसके माध्यम से लेखक ने अलग ही तरह के यथार्थ का खुलासा किया है। देवांगी का अपना व्यक्तिगत जीवन विवाह के बाद बोझ सा बन गया है। वह एक झूठी जिंदगी जी रही है। उसका पति अशोक विदेश में एक दूसरी युवती से विवाह कर लेता है। यद्यपि उसे अपने ससुर का सहारा मिलता है, जो कि अपने पुत्र को अपनी जायदाद से बेदखल कर देते हैं। परंतु उसका व्यक्तिगत जीवन तो दुखमय हो ही जाता है, 'बस, मोहभंग हो गया। धीरे-धीरे मेरे सामने अशोक की असलियत खुलने लगी। बाहर से वह जितना शालीन और सभ्य लगता था, भीतर से उतना ही कठोर और कामुक था। उसकी नजर में मैं उसके लिए एक जिस्म थी। एक खिलौना, जिससे वह जब चाहे खेल सकता था। सुबह, दिन, रात, शाम, कभी भी। बिस्तर, बाथरूम, गैलरी, किचन कहीं भी। बाद में पता लगा कि उसके दूसरी औरतों से भी संबंध थे। मैं पहले तो बहुत डिस्टर्ब रही। बाद में उसे देखते ही मुझे उबकाई आने लगती। मेरा जीवन मरण हो गया।'[3] लेकिन जीवट इरादों की देवांगी अपने जीवन का लक्ष्य समाज में ढूंढती है, और इस तरह अपने व्यक्तिगत दुखों से निजात पाती है। वह समाज सेवा के कार्य में संलग्न हो जाती है और सारा समाज, उसके दुख-सुख आदि उसके व्यक्तिगत जीवन का मरहम बन जाते हैं।

महानगरीय जीवन में आपसी रिश्तों की परिभाषा बदल गयी है। महानगरीय जीवन में आपसी रिश्ते किस कदर छलावा साबित होते हैं, इसे पलक की माँ के चरित्र को उजागर करती हुई इस घटना से समझा जा सकता है कि पलक की बहन सब्बू की शादी में पैसे होते हुए भी माँ कुछ भी देने से इनकार कर देती है। परंतु शादी के दो दिन पहले लड़के वालों की माँगें सुनकर वह बिफर जाती है, 'माँ ने लड़के वालों से साफ-साफ कह दिया था कि हम शादी में कुछ खर्च नहीं कर सकते। लड़के वाले पहले तो मान गए, लेकिन ऐन शादी से दो दिन पहले उन्होंने अपनी माँगों की एक लिस्ट माँ के हाथों में थमा दी। माँ बिफर गई। यह नहीं कि एक औसत शादी के लिए उसके पास पैसा नहीं था, लेकिन अपने पैसे को दाँत से पकड़ने वाली माँ के लिए सब्बू की शादी से ज्यादा अहमियत अपने आगे के दिनों के लिए अपने पैसों को बचाए रखने की थी।'[4] यह प्रसंग एक तरफ जहाँ स्वार्थपरता को सामने रखता है, वहीं दूसरी तरफ महानगरीय जीवन में रिश्तों की बजाय स्वार्थ को प्रमुखता देने के तथ्य को निर्ममता से पाठकों के सामने रखता है। यह परिस्थितियों के संघर्ष से उपजा हुआ सत्य है, जिसकी सत्यता से कोई इनकार नहीं कर सकता। महानगरीय परिवेश के लिए यह दुर्घटना नहीं बल्कि एक आम घटना है। हालांकि कस्बों और ग्रामीण अंचल में हम आए दिन बहन-बेटी की शादी के लिए जायदादें दाँव पर लगते हुए सुनते हैं। परंतु मानवीय संवेदना की दृष्टि से महानगर निर्मम यथार्थ को दिखाने वाले सिद्ध होते हैं। यह सच, हर महानगर का सच है। आजादी के बाद विकसित हुए महानगरों में जीवन इसी तरह धीरे-धीरे निर्मम होता चला गया है, जहाँ मानवीय संवेदनाएँ चुकती चली गई हैं और स्वार्थपरता अपना चंदोबा फैलाती चली गई है।

आपसी रिश्तों में स्वार्थ का संघर्ष भी उपन्यासकार ने बड़े यथार्थपूर्ण ढंग से दशार्या है। एक स्थल पर अपने वर्णन में उपन्यासकार लिखता है कि, 'सब्बू हम तीनों बहनों में बड़ी चालाक और कैलकुलेटिव रही है।..... शादी के ढाई साल बाद जब उसका पहला बेटा हुआ, उसने अप्पा को भी मद्रास से अपने पास बुला लिया। सीधे-साधे अप्पा यहाँ आकर उसके घर और बच्चे की रखवाली करने लगे। तभी अगले साल सब्बू का एक और बेटा हो गया। तभी राजन ने बांद्रा में एक थोड़ा बड़ा फ्लैट ले लिया। इस फ्लैट की रकम अदा करने के लिए सब्बू ने माँ से एक लाख से भी ज्यादा ऐंठ लिए। माँ जिसने कभी किसी बहन के हाथ पर एक पैसा नहीं रखा था, पता नहीं कैसे सब्बू को इतनी राशि देने को तैयार हो गयी।'[5] यह प्रसंग हर पीढ़ी के एक-दूसरे के साथ अंतर्द्वंद्व को प्रदर्शित करता है। जहाँ माँ का अपना स्वभाव इतना स्वार्थी था, वहीं जीवन संघर्ष में सब्बू जैसी बेटियों ने भी उसे अपना लिया। यह महानगरीय जीवन का कटु यथार्थ है। हालांकि इन्हीं के बीच में देवांगी और पलक जैसे लोग भी हैं, जो इस तरह के छल कपट से परे रहकर न केवल अपने जीवन स्तर को बदलना चाहते हैं, वहीं दूसरी तरफ अपने आसपास के लोगों के संदर्भ में भी किसी आत्मीयता से सोच विचार करते हैं। जीवन अंधेरे और उजाले की यात्रा है। जहाँ एक तरफ महानगरीय जीवन संघर्ष के इस निर्मम यथार्थ को उपन्यासकार ने उजागर किया है, वहीं दूसरी तरफ देवांगी और पलक की समाज सेवा के माध्यम से महानगरीय जीवन के परमार्थ पक्ष का भी उज्जवल चित्रण किया है।

डॉ. देवेश ठाकुर का लेखन कथा साहित्य में सपाट बयानी का लेखन नहीं है। जीवन के फलसफे जहाँ-जहाँ जरूरी है, अनायास आते रहते हैं। यह फलसफे गहरे जीवन अनुभवों को प्रदर्शित करते हैं और अनुभूति प्रधान होना इनका विशिष्ट गुण हो जाता है, 'जिंदगी भी क्या अजब चीज है। कहाँ से शुरू होती है। कहाँ-कहाँ भटकती है और फिर कहाँ पहुँच जाती है। लगता है, नदी की धारा है जिंदगी। एक उद्गम होता है जहाँ से वह शुरू होती है। फिर पहाड़ों से झरती हुई, चट्टानों से टकराती हुई, समतल पर आ पहुँचती है और अपना पाट फैलाकर कभी द्वीप बनाती हुई, कभी गहन गंभीर मुद्रा में, कभी बाढ़ का उग्र रूप धारण कर और फिर कभी अठखेलियाँ करती हुई सागर बन जाती है। जिंदगी भी ऐसी ही होती है। बस, नदी में और जिंदगी में थोड़ा सा फर्क होता है। नदी अपने स्वभाव में, या यों कहो, सभी स्वरूपों में सौंदर्य की अनुभूति कराती है। लेकिन जिंदगी नदी से ज्यादा ऊबड़-खाबड़ होती है।'[6] या फिर 'अकेले क्षणों में अक्सर ऐसा ही होता है। व्यक्ति का सारा व्यक्तित्व या तो शून्य बनकर रह जाता है या अतीत की घटनाओं में कहीं खो जाता है।'[7] और 'मन भी क्या चीज है, कभी शांत नहीं बैठता।'[8] आदि। इस तरह उन्होंने जीवन अनुभव के छोटे-छोटे फलसफों को व्यक्त किया है इससे लेखक की दार्शनिक प्रवृत्ति का भी खुलासा होता है। उपन्यास में ऐसे वक्तव्य को यत्र-तत्र लक्षित किया जा सकता है। इससे गद्य में गीतों के समान स्वर सम्मिलित हो जाता है। यह उपन्यास उन्हें यथार्थ का कुशल चितेरा सिद्ध करने के लिए काफी है।

सन्दर्भ :

1. ठाकुर, देवेश - जंगल के जुगनू; वाणी प्रकाशन, पृष्ठ-82, नई दिल्ली; सं 2004
2. ठाकुर, देवेश - जंगल के जुगनू; वाणी प्रकाशन, पृष्ठ-83, नई दिल्ली; सं 2004
3. ठाकुर, देवेश - जंगल के जुगनू; वाणी प्रकाशन, पृष्ठ-75, नई दिल्ली; सं 2004
4. ठाकुर, देवेश - जंगल के जुगनू; वाणी प्रकाशन, पृष्ठ - 68, नई दिल्ली; सं 2004
5. ठाकुर, देवेश - जंगल के जुगनू; वाणी प्रकाशन, पृष्ठ-69, नई दिल्ली; सं 2004
6. ठाकुर, देवेश - जंगल के जुगनू; वाणी प्रकाशन, पृष्ठ - 5, नई दिल्ली; सं 2004
7. ठाकुर, देवेश - जंगल के जुगनू; वाणी प्रकाशन, पृष्ठ - 7, नई दिल्ली; सं 2004
8. ठाकुर, देवेश - जंगल के जुगनू; वाणी प्रकाशन, पृष्ठ - 8, नई दिल्ली; सं 2004

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

सोनुभाऊ बसवंत महविद्यालय, शहापुर.

'विसर्जन' : मुक्त बाजार और उदारीकरण का नया विमर्श

- डॉ. मृत्युंजय सिंह

माना जाता है कि किसी भी देश में भूमंडलीकरण के अवतरित और प्रसारित होने की प्रक्रिया को राजनैतिक नेतृत्व ही संभव बनाता है। सत्ता पक्ष जिस रूप में अपने देश की नीतियों, विशेषतः आर्थिक, मौद्रिक नीतियों का नियमन कर उदारवाद, नवउदारवाद तथा मुक्त बाजार की व्यवस्था करता है, वे भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के दरवाजे खोल देते हैं। कहना न होगा कि भारत ने पूर्ण उन्मुक्त भाव से भूमंडलीय आर्थिक व्यवस्था के फलने-फूलने के पूर्ण उन्मुक्त अवसर प्रदान किए। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए सुविधाजनक और लाभकारी स्थितियाँ पैदा करने की एक होड़ सी विभिन्न राजनीतिक दलों में निरंतर बनी रही। बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने मोटी-मोटी राशि घूस के रूप में देकर राजनेताओं को अपने न्यस्त स्वार्थों के लिए एक प्रकार से खरीद-सा ही लिया है। राजनीति के अपराधीकरण का यह सबसे विकृत रूप है। उपन्यासकार राजू शर्मा ने एक प्रशासनिक अधिकारी के रूप में काफी समय तक देश की सेवा की है। वे इसके जर्रे-जर्रे से परिचित हैं। इसलिए वे गहराई में जाकर इसे समझने की कोशिश अपने उपन्यास 'विसर्जन' में करते हुए दिखाई देते हैं। उपन्यासकार भूमंडलीकरण के आर्थिक पक्षों- उदारीकरण और मुक्त बाजार व्यवस्था की बारीकियों को बड़ी ही सूक्ष्मता से विवेचित करता है।

भूमंडलीकरण की आर्थिकता ने जहाँ समाज के एक वर्ग को भले ही उसका प्रतिशत अत्यंत न्यून हो, कुछ ही वर्षों में एक अकल्पनीय समृद्धि दे डाली और उसे बाजारवाद और उपभोक्तावाद का परिचालक, कारक और नियंता बना दिया तो दूसरी ओर जो गरीब था, गरीबी की रेखा से नीचे की जिंदगी जी रहा था, उसे और भी गरीब बना डाला, 'सरकार ने देश का भविष्य बहुराष्ट्रीय कंपनियों की तिजोरियों में गिरवी रख दिया है, भारत की सभ्यता, अखंडता, संस्कृति और सुरक्षा को खतरा पैदा हो गया है; ...सरकार देश के नवरत्न उपक्रम, किसान की जमीन, गरीब की रिहाइश, मेहनतकश का पसीना, सब कुछ चंद डॉलर के लिए विदेशी कंपनियों को लुटाना चाहती है।'[1] पर देश के लोगों को इस बात का विश्वास है या विश्वास दिया जाता है कि विकास हो रहा है। उपन्यास सवाल उठता है कि आखिर यह किसका विकास है?

उपन्यास का पात्र शॉ वेंकट किस प्रकार उस विकास का लाभ उठाता है, जो पिछले 25-30 वर्षों में हिंदुस्तान को मिला है, इसका चित्रण उपन्यास में इस प्रकार हुआ है - 'मौको की कोई कमी नहीं है। जिनमें हुनर है, चतुराई है, दमखम है, उनके लिए सोना बरस रहा है। एक्सपोर्ट, रियल एस्टेट तथा शेयर बाजार में लोगों ने अकूत पैसा कमाया है, अपनी आँखों के सामने उसने टूटपूँजियों को बड़े खिलाड़ी बनते देखा है। जिनके पास दो टके जेब में नहीं थे अब यूरोप में छुट्टियाँ मनाते हैं।'[2] शॉ वेंकट भी भीतरी खरीद-फरोख्त के लिए काफी जानकार है, वह शेयर ब्रोकिंग भी कर सकता है पर वह पी.वी. (उपन्यास का प्रमुख पात्र) नहीं बन सकता, इसे वह अच्छी तरह जानता

है। शॉ वेंकट जो पैदाइशी दलाल और बिचौलिया है और पिछले बीस साल से यह काम बड़ी मुस्तैदी और सफलता से कर रहा है, अब अचानक धंधा छोड़ना चाहता है। उसके काम में जो रिस्क है वह अब बेमानी लगता है। वह अब खुद का धन्धा करना चाहता है। उसे पी.वी. जैसे महानायकों और धुरंधरों से खोज रहती है।

उपन्यास का पात्र पी.वी. कुछ ही समय में, मात्र पाँच साल में अरबों का मालिक बन गया, पर कैसे? 'किसी समय पी.वी. ने निजी निवेश और वेन्चर कैपिटल में आहिस्ता से, मानो शौक पूरा करने के लिए कदम रखा और पाँच से कम साल में डॉलर बिलिनेयर बन गया।'[3] गांधी के तीन बंदर की तरह पी.वी. के भी तीन बंदर हैं जिन्हें वह सिंहासन पर बैठाता है - हायेक, नोजिक और फ्रिडमैन। रॉबर्ट नोजिक एक मिनारकिस्ट था। वह मानता था कि किसी भी देश में एक न्यून सरकार होनी चाहिए। उसकी नजर में ''सरकार के बस तीन काम हैः जानमाल की सुरक्षा, हिंसा का दमन और निजी करार का प्रवर्तन।'[4] पी.वी. भी इन्हीं विचारों को अपने अंतर्मन में जगह देते हुए आगे बढ़ा। हायके ने निजी सम्पत्ति के तत्व को सभ्यता का जन्म बताया। उसके अनुसार मुक्त मूल्य प्रणाली उतनी ही मौलिक है जितनी भाषा की उत्पत्ति। और पी.वी के अनुसार 'फ्रीडमैन ने अन्तिम रूप से साबित कर दिया कि असली सामाजिक और राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए मुक्त बाजार और न्यून स्टेट एकमात्र सही विकल्प है।'[5] प्रो. पी.वी.बी.आर. रंगराजन आई.आई.टी. से इंजीनियरिंग कर कई कीर्तिमान स्थापित करता है तथा गोल्ड मेडल जीतकर विदेश चला जाता है। वहाँ वह अर्थशास्त्र का अध्ययन कर डाक्टरेट की उपाधि धारण करता है। उसके कई महत्वपूर्ण शोध प्रत्र भी प्रकाशित होते हैं। नब्बे के दशक में भारत लौटकर वह कई प्रकार की लाभकारी संस्थाओं का निर्माण करता है, 'इनमें सामाजिक संस्थाएँ थी, गैर सरकारी ट्रस्ट, परोपकारी संस्थान, नीति परामर्श संगठन और कई अनुसंधान संस्थाएँ व थिंक टैंक जो अपने-अपने क्षेत्र में सक्रिय थे और जिनके समान सूत्र थे- मुक्त बाजार, मानव अधिकारों का संरक्षण, सरकार पर अंकुश, नवउदारवाद और इच्छा स्वातंत्र्य।'[6] पी.वी चाहता है कि देश की आर्थिक वृद्धि दर मशहूर क्रिब (चीन, रूस, इंडिया और ब्राजील) के अनुमानों से कतई कम न हो। अपनी इस तीव्र इच्छा की पूर्ति के लिए वह हर प्रकार का षडयंत्र करने के लिए उद्यत रहता है। उसका नाम धारावाहिक घोटालों से भी जुड़ा है। कुल मिलाकार उपन्यास में चित्रित बहुमुखी प्रतिभा का धनी पी.वी वाणी का जादुगर है। कविता, कहानी, शायरी, रूबाइयाँ और हाइकु आदि वह सब जानता है।

देश में आर्थिक सुधार और उदारवाद की शुरूवात को उपन्यास के पात्र प्रो. चंद्रशेखर जो खुद एक अर्थशास्त्री हैं और पहले कभी पी.वी. के काफी नजदीक रह चुके हैं, ऐसा को समझाते हुए उनका कथन है- ''किसी भी आर्थिक उपाय को संदर्भ और नजरिया प्रकाशित करता है। भारत के आर्थिक अनुभव की लोकप्रिय विवेचना यह है कि हमने अस्सी के दशक तक समाजवादी राह पकड़ी, नतीजा हिंदू वृद्धि दर, घोर गरीबी और अक्षमता, कुछ अपवादों को छोड़कर। फिर 1991 के बाद आर्थिक सुधार और तदोपरांत आर्थिक वृद्धि का सदगुणी चक्र। पर बहस इस तरह भी कर सकते हैं कि भारतीय एलीट ने सोशलिज्म का दामन तब तक नहीं छोड़ा जब तक लाभ था (तुम्हें यह

जानकर आश्चर्य हो कि ऊँची इजलास में रिट के अधिकार का सर्वाधिक इस्तेमाल पहले जमींदारों ने और बाद में उद्योग ने राज्य से लाभ वसूलने के लिए किया)। पर जब यह बोझ बनने लगा, आर्थिक सुधार और उदारवाद की दुन्दुभि बजना शुरू हुई।'[7]

पी. वी. भारत को एक उभरती अर्थव्यवस्था के रूप में देखता है और विश्व बैंक और भारत के बीच करार का पहला दस्तावेज बनाने में महत्वपूर्ण रोल अदा करता है। वस्तुतः पी.वी. उपन्यास का ऐसा चरित्र है जो देश की उदार अर्थव्यवस्था में समय-समय पर अपनी निर्णायक भूमिका अदा करता है। देश जिस रूप में महाशक्ति का रूप ले रहा है, उसमें पी.वी की प्रमुख भूमिका किसी प्रसिद्ध अर्थशास्त्री की है जो एक 'थिंक टैंक' के रूप में अपने परामर्श और अनुसंधान संस्थाओं का संजाल बनाकर मुक्त बाजार का 'गुरू प्रचारक' बन गया है, 'पी.वी के बारे में सर्व स्वीकार धारणा है कि वह आक्रामक और उतना ही उदारवादी है, तेज गति से आर्थिक सुधारों का हिमायती और मुक्त बाजार का गुरु प्रचारक। उसे अडिग विश्वास है कि इक्कीसवीं सदी पर चीन के अलावा भारत का नाम लिखा है और यह देश तेज और मजबूत कदमों से एक आर्थिक महाशक्ति का रूप ले रहा है।'[8]

विश्व स्तर पर क्रिब रिपोर्ट आदि की जो परिकल्पनाएँ की गई, पी.वी. के माध्यम से उपन्यास में उनका परिचय देकर भी सूचित किया जाता है कि 2050 तक चार प्रमुख देश-चीन, भारत, रूस और ब्राजील के आर्थिक सुधारों का यह महानायक 'बाजारवाद और ग्लोबलाइजेशन का एक देशी संस्करण' ईजाद करता है जो गांधी दर्शन के 'आत्मत्याग और सरल जीवन' के आदर्श से बिल्कुल उलट है, 'गांधी जी ने आजादी के लिए अहिंसा और सत्याग्रह का अनोखा तरीका ईजाद किया, पी.वी ने बाजारवाद और ग्लोबलाइजेशन का एक देशी संस्करण सामने रखा। महात्मा गांधी ने आत्मत्याग और सरल जीवन का पाठ पढ़ाया और पी.वी. ने अनंत अभिलाषा और लाभ के लिए उधारजनित उपभोग को दिव्य बोध की रोशनी दी।'[9] उपन्यासकार उपभोक्तावाद के बढ़ते कदमों द्वारा अर्थव्यवस्था को अपने ही रूप में ढालने की जुगतों की तह में गहराई से उतरता है और शिल्पा शेट्टी की यू.के. के रियल्टी शो में जीत, टाटा और मित्तल की कोरस और आर्सिलोर डील से सेज (विशेष आर्थिक क्षेत्र), रियल एस्टेट का विस्फोट, देश में अरबपतियों की निरंतर बढ़ती संख्या आदि सबके पीछे देश को विदेशी आँख से देखने का प्रयत्न मानता हुआ, इन स्थितियों का प्रतिरोध प्रस्तुत करता है।

भूमंडलीकरण के दौर में यदि हम भारतीय परिदृश्य पर दृष्टि डालें तो इंडिया शाइनिंग के शोर के बीच भी कंगालीकरण की प्रक्रिया थमी नहीं है। सरकारी रिपोर्ट और विभिन्न पत्रिकाएँ हमारी अमीरी का बखान करते थकती नहीं है। प्रसिद्ध व्यापार पत्रिका 'फोर्ब्स' के अनुसार भारत में प्रतिवर्ष 10 हजार नए अरबपति बन रहे हैं। 2007 के उत्तरार्ध से, विशेषतः जनवरी 2008 से मंदी की मार का जो कहर पूरे विश्व में छा रहा था, उस समय भारत में अमीरी और गरीबी के बीच की विरोधाभासी स्थितियों के तथ्य चौंकाने वाले हैं। सरकारी स्तर पर आर्थिक सुधार के अनेक कार्यक्रम सामने आए लेकिन इन कार्यक्रमों से गरीबों की हालत और बदतर बनाकर कुछ लोग और अमीर हो रहे हैं, नव धनाढ्य बन रहे हैं। उपन्यास में चित्रित पी.वी. रंगराजन का चरित्र इसी आर्थिक सुधार

का नतीजा है। उपन्यास यह विवेचित करता है कि किस प्रकार रंगराजन जैसा एक साधारण नागरिक देखते ही देखते व्यवस्था में अरबों का मालिक बन बैठता है।

पी.वी. ने सन् साठ के दशक में आई.आई.टी. में पढ़ाई के कई कीर्तिमान बनाते हुए सारे गोल्ड मैडल जीते। फिर वह विदेश चला गया और किसी वक्त इंजीनियरिंग और मैनेजमेंट की लाइन छोड़कर उसने अर्थशास्त्र की राह पकड़ ली और बहुत कम अवधि में डाक्टरेट हासिल कर ली। अमरीका की अकादमिक दुनिया में उसका एक कल्ट बना जब उसने कुछ बेहद लोकप्रिय और मौलिक पेपर प्रकाशित किए। जैसे बीटिल्स मेनिया का अर्थशास्त्र, हिप्पी विचारधारा का खास अर्थ जगत। उस वक्त के सांस्कृतिक प्रतिवाद के आन्दोलनों को पी.वी. ने बाजार की तात्कालिक विकृतियों और मौद्रिक राजकोषीय नीतियों की पैबन्द व्यवस्था से जोड़ा और इस तरह साठ की पीढ़ी को मुक्त बाजार व्यवस्था का वफादार मगर भटका हिमायती सिद्ध किया।

उसके बाद कुछ वर्षों तक के लिए पी.वी. मुख्य अकादमिक धारा से पृथक-सा हो गया। पर उसका प्रभाव, उसका कल्ट अनुगमन पूरी तरह कभी खत्म नहीं हुआ। बीच-बीच में उसके पर्चे अचानक आते और अर्थविद्वता के वजनी इलाकों में तहलका मचा देते। उपन्यास में इस बात का चित्रण किया गया है कि, 'पी.वी. लगातार शास्त्र और लीक से हटकर काम कर रहा था। वह आर्थिक सिद्धांतों का इस्तेमाल नए विषयों को प्रकाशित करने के लिए कर रहा था। उसने हिंसा और मनोगत विद्रूपताओं पर लिखा। एक चर्चित पर्चे में उसने यह मीमांसा रखी कि क्रमिक या धारावाहिक हत्यारे का उद्भव एक महाशून्य, नीरस और आत्मतुष्ट समाज की अतृप्त माँग का नतीजा था। उसने भय और आतंक का जो डिमांड-सप्लाई कर्व बनाया वह वर्षों तक काटूर्नों में इस्तेमाल होता रहा।'[10] उपन्यास में इस बात की भी चर्चा की गई है कि किसी वक्त पी.वी. ने निजी निवेश और वेन्चर कैपिटल में आहिस्ता से, मानों शौक पूरा करने के लिए कदम रखा और पाँच से कम साल में डॉलर बिलियनेयर बन गया। लेकिन वह इस बात को भी स्पष्ट करता है कि 'यह उसका क्षेत्र नहीं' है। उसने 'ट्रस्ट, फाउण्डेशन, पारिवारिक कन्सर्न और अनेकानेक कम्पनियों का एक मकड़जाल स्थापित किया जो एक-दूसरे पर आधारित, पूरक और निर्भर थे। हर इकाई की एक प्रोफेशनल प्रबंधन टीम और उद्यम पाइलट पर आसानी से चल रहा था।'[11]

नब्बे के दशक के प्रारंभ में पी.वी. भारत आता है और दिल्ली उसका स्थायी पता बन जाता है। कहा जाता है कि 1991 के आर्थिक संकट के वक्त, जब देश को विदेशी मुद्रा के लिए अपना सोना गिरवी रखना पड़ा था उस समय विश्व बैंक और भारत के बीच करार का पहला ड्राप्ट तैयार करने में पी.वी. ने अपना महत्वपूर्ण रोल अदा किया था, 'हिन्दुस्तान में बसने के बाद पी.वी. ने योजनाबद्ध तरीके से गैर लाभ और सोद्देश्य संस्थाओं का एक नेटवर्क बनाना शुरू किया। इनमें सामाजिक संस्थाएं थी, गैर सरकारी ट्रस्ट, परोपकारी संस्थान, नीति परामर्श संगठन और कई अनुसंधान संस्थाएँ व थिंक टैंक जो अपने-अपने क्षेत्र में सक्रिय थे और जिनके समान सूत्र थे : मुक्त बाजार, मानव अधिकार का संरक्षण, सरकार पर अंकुश, नवउदारवाद और इच्छा स्वातंत्र्यवाद।'[12]

नई अर्थव्यवस्था ने बहुराष्ट्रीय बाजार को जन्म दिया और इस बहुराष्ट्रीय बाजार के

लुभावने उत्पादों में से आप क्या खरीदते हैं या खरीदना चाहते हैं, यह आपकी इच्छा पर निर्भर नहीं रह गया क्योंकि इसका निर्धारण विज्ञापन करता है। भूमंडलीकरण की इस आंधी ने उपभोक्तावाद को जिस रूप में बढ़ावा दिया है, उससे मनुष्य में लालसाओं का ज्वार जगा दिया। आर्थिक दृष्टि से बड़ी से बड़ी वस्तु की प्राप्ति के लिए छोटा से छोटा आदमी लालसा पाले हुए है। भले ही वह उसकी पहुँच में न हो।

उपन्यास की कथा में दिल्ली सरकार द्वारा आयोजित कामनवेल्थ खेल के आयोजन को लेकर नागरिकों के मौलिक अधिकारों के हनन के प्रयासों पर गहरा व्यंग्य किया गया है और यह बताया गया है कि किस तरह इस खेल के आयोजन को सफल बनाने के लिए दिल्ली को बर्बाद किया गया। वहीं दिल्ली जिसे तैमूर और नादिरशाह ने क्रमशः छह सौ साल पहले और दो सौ चालीस साल पहले भयानक तबाही मचाई थी। उपन्यासकार की टिप्पणी है कि 'लगता है यह शहर हर चार सौ साल में तबाही का मुन्तजर हो जाता है। और आज के युग में बुलडोजर और कटिंग मशीन की सहूलियत के कारण खुदकुशी की इस भूख को ग्रास देना आसान हो गया है।'[13] उपन्यास का पात्र ऐस्सार अपने लंबे शोध के बाद यह पाया कि दिल्ली में सिर्फ सात दुकानें वैध हैं जो एक करोड़ तीस लाख जनता के लिए वैध राशन-पानी और ऐयाशी की वस्तुओं का इन्तजाम करती है। ये सात दुकानें, केवल 'यहीं से वैध खरीदारी की जा सकती है, चाहे दवाई हो या कण्डोम, सब सड़क से दूर हैं, चाहे सड़क अस्सी फीट की है या 130 फीट की, क्योंकि कहते हैं एक नियम है कि दूकानें सड़क के किनारे नहीं हो सकती, क्योंकि सड़कें चलने, भागने या कार में फरार्टे से निकल जाने के लिए होती हैं, न कि इसलिए कि आप वहां फालतू ताकें, यहाँ-वहाँ खड़े रहें और खरीद-फरोख्त जैसी चीज करें।'[14]

इस दौरान दिल्ली के लिए अनेक मास्टर प्लान बनाए गए ताकि लोगों को आकर्षित किया जा सके। दिल्ली में क्या कानूनी है और क्या गैरकानूनी इसका जबाब ईश्वर के पास भी नहीं है। एस इसे व्यंग्यात्मक रूप में प्रस्तुत करता है, 'लोग धीमी आवाज में बताते हैं कि कहीं, शायद सात तालों के पीछे, एक बड़े आकार का मास्टर प्लान है और वही यह अंतिम रूप से तय कर सकता है कि घर या दुकान कानूनी है या गैरकानूनी, यह अधिकार भगवान के पास भी नहीं, और हो सकता है यह मास्टर प्लान असल में एक नक्शा है जो शायद शहर जितना ही बड़ा है।' दिल्ली के जो आशावादी लोग हैं उन्हें यह धुंधला भरोसा है कि एक दिन शायद ऊँची आदालत में इस मास्टर प्लान के नक्शे पर गौर करने की फरमाइश करे और लोगों को न्याय मिले क्योंकि 'इंसान सर्वोपरि है और उसकी खोज में हर जतन जायज है, और तब शायद कुछ तरतीबी फैसले हो सकें, घर घर हो जाएँ और दूकान दूकान।'[15]

उपन्यासकार उपरोक्त बातों को भूमंडलीकरण के ही संदर्भ में समझना चाहा है, क्योंकि यह वैध-अवैध का मुद्दा भी इसी संदर्भ से जुड़ा हैं। दिल्ली में एक तो यह हुआ कि हजारों लोगों ने हलफनामें के जरिए कहा कि वे ऐसे घरों में रहते हैं जो संयोगवश दूकान की तरह दिखाई देते हैं यानी किसे घर कहा जाए और किसे दुकान यह उसमें रहने वाले लोग तय नहीं कर पा रहे हैं। एस्सार की टिप्पणी है- ''आजाद देश में हर आदमी को घर की मनपसंद सजावट करने का अधिकार है, और मान्यवर जब रिश्तेदार

या मेहमान घर आते हैं, तो यह नजर का धोखा है कि वे ग्राहक की तरह लगते हैं, हमारे बीच जो संवाद होता है उसे सुनकर गलतफहमी होती है कि खरीद-फरोख्त हो रही है, असल में ऐसा नहीं है, इस प्रकार का भ्रम स्वाभाविक भी है क्योंकि नई अर्थव्यवस्था ने जरूर लोगों का दिमाग फिरा दिया है, हर नागरिक को ग्राहक की नजर से देखा जा रहा है।'[16] आज की नई अर्थव्यवस्था ने या कहिए शक्तिशाली कंपनियों ने ग्राहक यथा नागरिक को कुछ श्रेणियों में बाँट कर रख दिया है। उपन्यास में इसे इस रूप में बयान किया गया है- 'पहला वर्ग भक्षक का है जिन्हें बाजार के बाजार खरीदने ही हैं, दूसरी श्रेणी में आकांक्षी हैं और तीसरा समूह वंचितों का है और तीनों वर्ग को बाजार द्वारा लुभाने के अलग-अलग तरीके और यंत्र हैं।'[17] दिल्ली में हर वक्त सीलिंग के खतरे बने रहते हैं और आंदोलनकारी भी इस रस्साकशी का मजा लेते रहते। जनता क्या करे, वह तनाव में आ जाती है और अपने तनाव को दूर करने के लिए या अपने को शांत रखने के उद्देश्य से सरकारी भवनो को तोड़फोड़ करना चाहती है। बाजार ऐसे लोगों के गुस्से को शांत करने का इंतजाम पलक झपकते ही कर देता है। दिल्ली वाले जानते हैं कि इस समय निमार्ण के कचरे के दाम बेहद गिर गए हैं, लेकिन वे सिर्फ जानते हैं कुछ कर नहीं सकते। उपन्यास में एक होशियार उद्यमी का वर्णन किया गया है जो इसका अनोखा फायदा इस प्रकार उठाता है- 'उसने रातोंरात कौड़ियों के दाम लोहा, इस्पात, लकड़ी, धातुओं का कबाड़ खरीदा और एक अधबने गोदाम में 'हथौड़ाबाजी' का एक अखाड़ा कायम किया। ग्राहक घंटे के हिसाब से शुल्क देकर वहाँ अपनी भड़ास और हताशा दूर करने के लिए जैसे चाहे तोड़-फोड़ कर सकते थे। इस मौज के लिए वही दैत्याकार हथौड़े थे जिनका इस्तेमाल नगर निगम करता था। इस खेल में ग्राहकों को बेहद सुकून मिला और बहुत से लोग योग और ध्यान छोड़कर आत्मशांति के लिए हथौड़ाबाजी करने लगे।'[18]

सचमुच उपन्यासकार का यह कथन उसकी बाजार व्यवस्था की सूक्ष्म दृष्टि को दिखाता है। और यह सही भी है क्योंकि आज जनभाषा भी व्यापार की भाषा हो गई है। अतः कहा जा सकता है कि दिल्ली वाले किसी नियम या कानून को नहीं तोड़े हैं, उन्हें गलती से दुकानदार मान लिया गया है। इसलिए कहा जा सकता है कि 'विसर्जन' उपन्यास बहुत विस्तार में जाकर बाजारवाद और उपभोक्तावाद को गहराई से विश्लेषित करता है। नई अर्थव्यवस्था में आज प्रत्येक व्यक्ति को मात्र ग्राहक की नजर से ही देखा जाता है। उपन्यास बाजार के अर्थ पंडितों के विभिन्न सिद्धांत-कथनों और बाजारवाद के दुष्परिणामों का सविस्तार आकलन करता है।

संदर्भ :

1 राजू शर्मा : विसर्जन - राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009
2 वही, पृष्ठ 191-192, 3 वही, पृष्ठ 108, 4 वही, पृष्ठ 149, 5 वही, पृष्ठ 149, 6 वही, पृष्ठ 108, 7 वही, पृष्ठ 148, 8 वही, पृष्ठ 108, 9 वही, पृष्ठ 110,10 वही, पृष्ठ 108, 11 वही, पृष्ठ 108, 12 वही, पृष्ठ 110, 13 वही, पृष्ठ 218,14 वही, पृष्ठ 218, 15 वही, पृष्ठ 219, 16 वही, पृष्ठ 219, 17 वही, पृष्ठ 219,18 वही, पृष्ठ 221

'कारे जहाँ दराज है' में अस्मितामूलक विमर्श'

- डॉ. मिर्झा अनिसबेग रज्जाकबेग

अनेक सम्मानों से सम्मानित कुर्रतुल ऐन हैदर, उर्दू की मशहूर लेखक और एक लोकप्रिय किस्सागो, न केवल उर्दू साहित्य बल्कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य धारा में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। ऐनी आपा के नाम से प्रसिद्ध कुर्रतुल एन हैदर पूरी दुनिया घूमी। लंदन रहीं। देश के बंटवारे के बाद पाकिस्तान चली गईं। वहाँ भी रही पर उनका मन हिंदुस्तान और उसके बिजनौर जिले के कस्बे नहटौर में भटकता रहा। मुंबई रही या नोयड़ा उनके दिल से नहटौर एक पल के लिए भी नहीं गया। उन्होंने अपने नाविल कारे जहाँ दराज है, में अपने परिवार का एक हजार साल का इतिहास संजोया है। कुर्रतुल ऐन हैदर का जन्म उत्तर प्रदेश के शहर अलीगढ़ में हुआ था। उनके पिता 'सज्जाद हैदर यलदरम' उर्दू के जाने-माने लेखक थे। उनकी माँ 'नजर' बिन्ते-बाकिर भी उर्दू की लेखिका थीं। वो उर्दू में लिखती और अँग्रेजी में पत्रकारिता करती थीं। उनके बहुत से उपन्यासों का अनुवाद अंग्रेजी और हिंदी भाषा में हो चुका है। उन्होंने दुनिया के उतार-चढ़ावों, बँटवारों, कौमों के पतन को नजदीक से देखा और महसूस किया और ये उनके अफसानों में झलकता भी है।

कुर्रतुल ऐन हैदर आजादी के बाद भारतीय फिक्शन का सबसे मजबूत स्तंभ मानी जाती थीं। वह साहित्य अकादमी में उर्दू सलाहकार बोर्ड की दो बार सदस्य रहीं। विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में वह जामिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से जुड़ीं। वह कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में अतिथि प्रोफेसर भी रहीं। उनके पात्र दर्शन की बातें करते हैं और अपने सुख-दुख को इतिहास के दर्पण में तौलते हैं। उन्हें हमेशा लगता था कि मजहबी समस्याओं का हल मिली-जुली तहजीब में निहित है और उससे ही इसका हल किया जाए। उन्होंने कहीं लिखा था कि ये तहजीब किसी अखबार की सुर्खी नहीं, जो दूसरे दिन ही भुला दी जाए। यह तहजीब दुनिया के इतिहास का उन्वान है जो अपनी जगह महफूज है और दूसरी तहजीबों को अपनी ओर खींचता है।' दरअस्ल मेरी नजर में बात ये है कि कुर्रतुल ऐन हैदर उस माला का एक मनका हैं जो अमीर खुसरो, तुलसीदास, कबीर जैसे मनकों से बनी है। उन्होंने बहुत कम आयु में लिखना शुरू किया था। उन्होंने अपनी पहली कहानी मात्र छः वर्ष की अल्पायु में ही लिखी थी। 'बी चुहिया' उनकी प्रथम प्रकाशित कहानी थी। जब वह १७-१८ वर्ष की थीं तब १९४५ में उनकी कहानी का संकलन 'शीशे का घर' सामने आया। १९ वर्ष की आयु में उनका प्रथम उपन्यास 'मेरे भी सनमखाने' प्रकाशित हुआ। उन्होंने अपना कैरियर एक पत्रकार की हैसियत से शुरू किया लेकिन इसी दौरान वे लिखती भी रहीं और उनकी कहानियाँ, उपन्यास, अनुवाद, रिपोर्ताज वगैरह सामने आते रहे। कुर्रतुल ऐन हैदर के बारे में वरिष्ठ साहित्यार गोपी चंद नारंग लिखते हैं, 'कुर्रतुल ऐन हैदर, ऐसा कहाँ से लाऊँ कि तुझ सा कहें जिसे, बीसवीं सदी में प्रेमचन्द की विरासत के बाद कोई कथाकार ऐसा नहीं हुआ जैसी कुर्रतुलऐन हैदर। उनके कथा-साहित्य में भारत की रंगारंग तहजीब का दिल धड़कता हुआ नजर आता है। हमारा स्वतन्त्रता संग्राम क्या था और हम कैसे

आजादी की कगार तक पहुँचे और कैसे अपने ही खंजर से हमने अपनी तहजीब का खून किया, इस सब तहजीबी विरासत के दर्द को अगर नयी नस्लों को समझना हो तो हर पाठक के लिए कुर्रतुलऐन हैदर को पढ़ना बहुत जरूरी है।'[1]

कुर्रतुल ऐन हैदर के लेखन में विद्रोह का भी स्वर था। वह इस मत पर विश्वास रखती थीं कि नारी देह न तो कोई प्रदर्शन की चीज है, न मनोरंजन की और न लेन-देन की, वे नारी देह की बजाय उसके दिमाग पर जोर देती थीं। उनका मानना था कि दिमाग पर बात आते ही नारी पुरुष के समक्ष खड़ी दिखाई देती है, जो कि पुरुषों को बर्दाश्त नहीं। वह कहती उपन्यास लेखन ने वह सिक्का जमाया कि हर अखबार हर मैगजीन, हर छापखाना और अगर अतिश्योक्ति न हो तो हर दिमाग उपन्यासों से भर गया है .... स्वर्गीय 'तहजीबुल अखलाक को भी इस साहसिक शासक के सामने नतमस्तक होना पड़ा और सम्भवतः यह गौरव केवल हिन्दुस्तान ही को हासिल है कि सारा देश इस तरफ को दुल पड़ा, फिर भी उच्च कोटि के उपन्यासकार न पैदा हुए। उच्च कोटि के तो क्या मामूली और कम दर्जे के भी पैदा नहीं हुए। वे लिखती हैः- 'इस समय उर्दू में नावेल लिखने वाले उंगलियों पर गिने जा सकते हैं। उनमें से भी जो चोटी के गिने जाते हैं, दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आधा दर्जन से भी कम है। मगर लोकप्रियता और प्रसिद्धि के आधार पर मैं तो यही तीन नाम ज्यादा सुनता हूँ, यानी शमसुल उलमा मौलवी नजीर अहमद, मौलवी अब्दुल हलीम शरर और पण्डित रतननाथ 'सरशार'।'[2]

उनकी कहानियों के संग्रह 'पतझड़ की आवाज' पर साहित्य अकादेमी ने उन्हें पुरस्कृत किया और बाद में फैलोशिप भी प्रदान की। 'आखिर-ए शब के हमसफर' पर उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हुआ। वह 'पद्मश्री' और 'पद्मभूषण' से अलंकृत थीं। उनकी कृतियों में 'कारे जहाँ दराज है' एक खास तरह की किताब है जो जितना ही उनके खानदान और पुरखों की गाथा है उतना ही वह एक अद्भुत उपन्यास है। वाणी प्रकाशन समूह ने उनकी आत्मकथा 'कारे जहाँ दराज है' प्रकाशित की है। इसका हिंदी में तजुर्मा किया है इरफान अहमद ने। यह आत्मकथा उपन्यास चार खंडों में है। 'कारे जहाँ दराज है' पूरी तरह से आत्मकथात्मक वृत्तचित्र उपन्यास है। ऐसी कोई पुस्तक उर्दू में नहीं लिखी गयी। तीन भाग में छपे इस विशाल उपन्यास में वह बताती हैं कि कैसे उनके पूर्वज एक हजार साल पहले नहटौर आकर बसे। वह इसमें अपने घर उसके आगे की झील, मुहल्ले का जिक्र करती है। नहटौर के बागात के किस्से कहतीं हैं। वह कहती हैं कि 1962 की बरसात में मुहल्ला सादात सैदरी नहटौर के वीरान खंडहर, पुश्तैनी मकान बारिश की झड़ी में धड़ाधड़ गिरते जा रहे थे। दो सौ बरस पुराने बड़े दरबार नहटौर का दूसरा फाटक गिरा और झील के किनारे खड़ी बूढ़ी पिलखन बारिश और हवाओं की भेंट चढ़ गई। कुर्रतुल एन कहती हैं कि नहटौर वाले नहटौर को छोटा दिल्ली कहते थे। आइना अकबरी में अल्लामा अबुलफजल फरमाते हैं कि इलाके के जागीरदार युद्ध के समय मुगल फौज के सेनापति को छह सौ अस्सी घुड़सवार और एक हजार चार सौ पैदल सिपाही देते थे। नहटौर वाले दानिश मंदा नए नहटौर (नहटौर के बुद्धिमान) कहलाते थे।

उनकी लेखनी में बला की शिद्दत और शक्ति थी। उनके कथा-साहित्य में भारत की

रंगारंग तहजीब का दिल धड़कता हुआ नजर आता है। विभिन्न प्रवृत्तियों के अंतर्गत इस उपन्यास का अध्ययन किया गया है। कभी इसे पारिवारिक गाथा कहा जाता है, कभी इसे नॉन-फिक्शन-फिक्शन कहा जाता है, कभी इसे डॉक्यूमेंट्री कहा जाता है और कभी इसे जीवनी उपन्यास कहा जाता है। एक महान उपन्यास को कभी भी एक फ्रेम में फिट नहीं किया जा सकता, वह बहुमुखी होता है। यदि हम इस उपन्यास के स्पष्ट विभाजन को देखें तो यह उपन्यास तीन खंडों का है। पहला खंड 1977 में, दूसरा खंड 1979 में, और तीसरा खंड 2001 में प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास के कालों के बँटवारे के बारे में कुर्रतुल ऐन लिखती हैं: 'पाठकों की रुचि के लिए, मैंने पहले खंड में अपने माता-पिता का उल्लेख किया है और दूसरे खंड में मेरे मित्र मंडली के अधिकांश साहित्यकारों का उल्लेख किया है। पहला खंड 1947 को समाप्त होता है। खंड (तस्वीरों के साथ) 1948 से 1961 और 1976 तक की काल्पनिक कथा है।'[3]

उपन्यास का पहला महत्वपूर्ण पात्र सैयद कमालुद्दीन तिर्मिजी है, जो बारहवीं शताब्दी का है। वह भारत आकर कैथल में बस गया और भारत में सादात नहटौर का पूर्वज कहलाता है। उसके वंशज नहटौर में बस गए। उसके बाद अन्य पात्र भी आते हैं लेकिन दूसरे पात्र मीर बंदे अली तिर्मिजी और मीर अहमद अली तिर्मिजी हैं। मीर बंदे अली तहसीलदार हैं और मीर अहमद अली ब्रिटिश सेना में हैं। नहतूर शहर एक केंद्र है। इन दोनों पात्रों के माध्यम से 1857 के तथ्यों का विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रस्तुति का उद्देश्य अवसर का माहौल और माहौल बनाना है। इन पात्रों की मनोवैज्ञानिक और आंतरिक स्थितियों का वर्णन उन्हीं के शब्दों में किया जा सकता है। अभिव्यक्ति की इस शैली के कारण लेखक शब्दों के माध्यम से इस युग की तस्वीर बनाने में सक्षम प्रतीत होता है। जैसे-'सैयद जलालुद्दीन गाजी, सैयद कमालुद्दीन तिरमिजी के बेटे इस वृत्तांत लिखने वाली के पूर्वज हैं। सैयद जलालुद्दीन गाजी उस इलाके में जाकर बसे जो बाद में रुहेलखण्ड कहलाया। सैयद जलालुद्दीन के उत्तराधिकारियों में सैयद अशरफ गंज बख़्श, सैयद अहमद, सैयद मोहम्मद, सैयद महमूद और सैयद हसन अस्करी का काल पंद्रहवीं शताब्दी का है। सैयद हसन अस्करी के साहिबजादे सैयद जियाउद्दीन सरकार सम्भल में चार हजारी थे। यह कटिहर राजपूतों को काबू में रखने के लिए कस्बा नहटौर जिला बिजनौर में तैनात थे। सैयद जियाउद्दीन तिरमिजी को एक बगावत कुचलने के लिए लश्कर के साथ पूर्व की ओर भेजा गया। युद्ध में काम आए और जिया शहीद कहलाए।'[4]

'कारे जहाँ दराज है' कुर्रतुल ऐन हैदर के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक अनुभवों की कथाएँ हैं जो एक इकाई से प्रारम्भ होकर सार्वभौमिकता का विराट रूप धारण कर लेती हैं। वे एक सामान्य बात को भाषा की संजीदगी के सिरहाने रख उसमें ऐसा तेवर रच लेती हैं जो उन्हें मंटो, कृष्णा सोबती आदि लेखकों की सूची में सबसे आगे ले आता है। भारतीय साहित्य की मुख्य धारा में उस समय कुर्रतुल ऐन हैदर ही ऐसी लेखक थीं जिन्होंने विभाजन की त्रासदी को अपने लेखन में अलग ही आयाम दिये। इस आत्मकथात्मक औपन्यासिक पुस्तक के अध्याय से कुर्रतुल ऐन हैदर के कुछ शब्द- 'वर्तमान दास्तान, पश्चिम एशिया से हिन्दुस्तान पहुँचकर इसी वीरता के युग में शुरू

होती है। लेकिन सामाजिक दृष्टि से यह इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि उसी समय हमारी मिली-जुली संस्कृति भाषा और साहित्य की जड़ें जमना प्रारम्भ हुईं।'[5]

सांस्कृतिक बोध की मान्यताओं को अपने ऐतिहासिक पक्ष के समकक्ष रख कुर्रतुल ऐन हैदर ने न केवल अपने समय को एक शब्द-संयोजन प्रदान किया है बल्कि इसे एक विरासत के रूप में अपने पाठकों के लिए संजोया भी है। 'अप्रसिद्ध यलदरम' की ज़िंदगी इस दास्तान का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है, उन्होंने नाम, प्रसिद्धि, पुरस्कार और प्रशंसा से बेपरवाह एक खामोश व संतुष्ट लेकिन बेहद रंगारंग जिंदगी गुजारी। वे एक ऐसे साहित्यिक अग्रगामी और रचनात्मक साहित्यकार थे, जिनको हमारे अधिकतर बड़े आलोचक और साहित्यिक इतिहासकार व साहित्यकार केवल तुर्की कहानियों के अनुवादक कहकर, सरसरी तौर पर बात टाल देते हैं। सच तो यह है कि उर्दू आलोचना व इतिहास लेखन ने मुझे हमेशा आश्चर्यचकित किया। इसके अलावा खुद अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी की ओर से इस विश्वविद्यालय के जो भारी भरकम इतिहास अंग्रेजी में लिखवाए जा रहे हैं, उनमें यलदरम का ज़िक्र भूले से भी नहीं मिलता। इस दुनिया का दस्तूर ही कुछ ऐसा है।'[6]

इस आत्मकथात्मक कृति की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह पाठक से अपने उसूलों के स्तर पर संवाद करती है। एक लेखक के तौर पर कुर्रतुल ऐन हैदर ने इस कृति में जिन स्मृति-कथाओं को सिलसिलेवार कलमबद्ध किया है वे उनके पाठकों को उस समय की सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा राजनीतिक आदि सम्भावनाओं से रू-ब-रु करायेंगी। डॉक्टर जाकिर हुसैन का कहना था, 'इन तमाम यूरोपियन महिलाओं में जिन्होंने हिन्दुस्तानियों से शादियाँ की थीं, बिल्कीस एक ही महिला थीं जिन्होंने एक हिन्दुस्तानी भाषा पर इतना कमांड हासिल कर लिया था। वेली भाभी क्रिला-ए-मोअल्ला की भाषा बोलती थी और विभिन्न वर्ग के लोगों से उनके मुहावरे में बातचीत किया करती थीं। बड़ी ही हास्य प्रकृति की नेक दिल और मोहब्बत करने वाली महिला थीं। हाजिर-जवाबी में भी अद्वितीय थीं। लड़की अमीना 'क्वीन मेरी।'[7]

संस्मरणात्मक शैली में विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत इस औपन्यासिक कृति में कुर्रतुल ऐन हैदर ने एक ऐसी संस्मरण कथा कहने का प्रयास किया है जो न केवल भाषा का सौन्दर्य पक्ष मजबूत करती है बल्कि वाचिक परम्परा का निर्वाह भी करती दिखाई देती है। जैसे- यह पंक्तियाँ- 'लन्दन सो रहा है, लन्दन जाग रहा है। खिड़कियों के पर्दे गिरा दिये गये हैं। बाहर ठंडी हवा चल रही है। कल सर्दी होगी। नीचे सड़क पर शाम का अखबार बेचने वाले, आख़िरी बचे-खुचे पर्चे समेट रहे हैं जिनकी सुर्खियाँ अँधेरे-अँधेरे में मद्धम होती जा रही हैं।'[8]

लेखिका ने ऐतिहासिक पारिवारिक दस्तावेजों के आधार पर अपनी कल्पना की सहायता से रचना की है। इतना ही दस्तावेजीकरण और कल्पना का संयोजन इसे एक जीवनी संबंधी वृत्तचित्र उपन्यास के स्तर पर लाता है। कुर्रतुल ऐन हैदर की ऐतिहासिक चेतना और तकनीकी परिपक्वता इसे 'कार जहाँ दराज है' जैसी उत्कृष्ट कृति में बदल देती है। लेखिका को इतिहास खोजने और दस्तावेज प्राप्त करने के लिए परिवार के सदस्यों की मदद लेनी पड़ी। कथाकार कमलेश्वर ने कभी कुर्रतुल ऐन हैदर, इस्मत

चुगताई और अमृता प्रीतम की तिकड़ी के बारे में कहा था, 'अमृता प्रीतम, इस्मत चुगताई और कुर्रतुल ऐन हैदर जैसी विद्रोहिणियों ने हिन्दुस्तानी अदब को पूरी दुनिया में एक अलग स्थान दिलाया। जो जिया, जो भोगा या जो देखा, उसे लिखना शायद बहुत मुश्किल नहीं, पर जो लिखा वह झकझोर कर रख दे, तो तय है कि बात कुछ खास ही होगी।'[९]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आजादी से पूर्व मुस्लिम स्त्री कथाकार अपने अस्तित्व को लेकर किसी तरह का खतरा नहीं महसूस करती थीं। कुर्रतुल ऐन हैदर मुख्य साहित्य धारा में एक ऐसा नाम हैं जिनके समृद्ध लेखन ने उर्दू साहित्य की आधुनिक धारा को एक दिशा दी है। साझी संस्कृति में आस्था के साथ न सिर्फ. उन्होंने उर्दू-हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया अपितु हमें अपनी ऐतिहासिक विरासतों से जोड़ते हुए एक नए समाज का सपना भी दिखाया। कुर्रतुल ऐन हैदर को मानवीय संवेदनाओं से ओतप्रोत, परम्परा व आधुनिकता एवं साझी संस्कृति की संवाहक के रूप में, एक ऐसी प्रगतिशील साहित्यकार व लेखिका के रूप में याद रखा जाएगा, जिसने तमाम विरोधों के बावजूद अपनी लेखनी को सच्चाई व यथार्थ से पूरे नहीं होने दिया।

संदर्भ :

१. समय पत्रिका https://www.samaypatrika.com/2020
२. कारे-जहाँ दराज है : कुर्रतुल ऐन हैदर : वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, २०२०-पृष्ठ. २१९
३. कारे-जहाँ दराज है : कुर्रतुल ऐन हैदर : वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, २०२०-पृष्ठ. १४
४. कारे-जहाँ दराज है : कुर्रतुल ऐन हैदर : वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, २०२०-पृष्ठ.४१-४२
५. कारे-जहाँ दराज है : कुर्रतुल ऐन हैदर : वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, २०२० - पृष्ठ. १३
६. कारे-जहाँ दराज है : कुर्रतुल ऐन हैदर : वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, २०२० - पृष्ठ. १५
७. कारे-जहाँ दराज है : कुर्रतुल ऐन हैदर : वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, २०२० - पृष्ठ. ६५
८. कारे-जहाँ दराज है : कुर्रतुल ऐन हैदर : वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, २०२० - पृष्ठ. २
९. साहित्यिक पत्रिका 'अभिव्यक्ति' http://www.abhivyakti- hindi.org/sansmaran/2008

सहयोगी प्राध्यापक एवं हिन्दी विभाग अध्यक्ष,
ज.शि.प्र.मं. महिला कला महाविद्यालय, औरंगाबाद.

अमर देसवा: महामारी एवं अन्य अनेक समस्याओं का यथार्थ चित्रण

- डॉ. राजेश कुमारी कौशिक

प्रवीण कुमार द्वारा रचित 'अमर देसवा' महामारी की त्रासदी पर रचित एक कारुणिक उपन्यास है, जो अतीत होते हुए भी इतिहास नहीं और जो सूचना होते हुए भी समाचार नहीं है, अपितु मानव जीवन का वह कारुणिक अध्याय है जिसमें दुःख, दर्द, चीत्कार, पीड़ा, खौफ और संवेदना के धरातल पर मानवीयता-अमानवीयता के कुछ चेहरे अपने नग्न रूप में दिखाई देते हैं। यूँ तो महामारी हम सब का देखा, भोगा और अनुभव किया हुआ सच है किंतु लेखक ने मानो अपने अंतर्मन के चक्षुओं से हर व्यक्ति की पीड़ा, असहायता, विवशता, दुर्बलता, सबलता, साहस एवं संघर्ष की अनथक शक्तियों को न केवल देखा और महसूस किया है बल्कि साहित्यिक संवेदना में ढालकर इस कहानी को और भी अधिक मार्मिक और हृदयग्राही बना दिया है।

उपन्यास में महामारी की मुख्य समस्या के साथ लेखक ने परिवार, समाज, प्रशासन एवं मानव मनोविज्ञान से जुड़ी अन्य अनेक समस्याओं का भी विश्लेषण किया है। महामारी में स्वास्थ्य संबंधी समस्याएँ, भ्रष्टाचार, लॉकडाउन, बेरोजगारी, भुखमरी, पलायन, शवों के अंतिम संस्कार की समस्या, ऑनलाइन कार्य की समस्या, घरों में कैद लोगों के मानसिक स्वास्थ्य पर कुप्रभाव की समस्या, स्वास्थ्य कर्मियों पर अतिरिक्त कार्यभार की समस्या, महंगाई, दवा और ऑक्सीजन की कालाबाजारी, क्रूर धार्मिकता, अवसरवादिता, स्वार्थपरता, नैतिक मूल्यों का पतन और लालच का घिनौना रूप भी हमें दिखाई देता है। इसके साथ ही प्रसंगवश अन्य अनेक समस्याएँ- जिसमें भारतीय समाज में अंतरजातीय और अंतरधार्मिक प्रेम विवाह की समस्या, नागरिकता बनाम मनुष्यता की समस्या जो समाज से गहराई से जुड़ी हुई समस्याएँ हैं, इनको भी लेखक ने रोचक एवं मर्मस्पर्शी कहानियों में गूँथकर प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।

'अमर देसवा' उपन्यास की कथा का आरंभ अघोरी बाजार में फ्लाईओवर बनने के बाद की स्थिति, जिसमें टूटी-फूटी सड़कें, जल भराव और ट्रैफिक जाम की समस्या से होता है। कथानायक शैलेंद्र अमृत वकील है और तीन वर्ष से इन समस्याओं को दूर करने के लिए प्रशासन के भ्रष्टाचार से भिड़ रहा है। तीन वर्ष केस लड़ने के बाद अमृत हार गया और पुल बन गया। पुल बनने के बाद सड़क और संकीर्ण हो जाती है और प्रशासन ने उसी में नाला भी खोद दिया। अमृत उसी का विरोध कर रहा है। लोकतंत्र में प्रशासनिक भ्रष्टाचार अपनी चरम सीमा पर होता है। गरीब जनता के लिए अनेक योजनाएँ बनाई जाती हैं किंतु उनका क्रियान्वयन संभव नहीं हो पाताझ 'अस्सी फीसदी गरीब हमारे देश में हैं। हम आरंभ से इनके कल्याण की योजनाएँ बनाते रहे हैं, जिन्हें नेता वर्ग और अफसर शाही ने निगल लिया।'[1] यह कोरोना की पहली लहर का समय था जब अचानक ही लॉकडाउन की घोषणा हो गई।

महामारी की पहली लहर में लॉकडाउन से सब कुछ बंद रहा किंतु बाद में अचानक

से समस्त प्रशासनिक कार्य ऑनलाइन कर दिए गए। ऑनलाइन कार्य करने में और भी अनेक तरह की समस्याएँ आई जैसे- लैपटॉप का ना होना, गाँव में इंटरनेट कनेक्शन एवं बिजली की दिक्कत, शहर आने के लिए यातायात के साधनों की समस्या से सब लोगों को दो-चार होना पड़ रहा था। बिना तैयारी के अचानक ही लॉकडाउन के कारण अनेक समस्याएँ झेल रहा मानव समाज बहुत हद तक कोरोना से आत्मरक्षा कर अपना जीवन बचाए हुए था कि इसी बीच अचानक से कोरोना की दूसरी लहर का कहर बरसने लगा।

उपन्यास के पूर्व भाग में कोरोना की प्रथम लहर में फिर भी सामान्य स्थितियों का चित्रण किया गया है किंतु जैसे ही दूसरी लहर आई कि स्थिति बेकाबू और भयानक रूप से आक्रामक हो गई। मरीजों की संख्या बेतहाशा बढ़ने लगी। स्वास्थ्य सेवाएँ चरमरा उठी। अस्पतालों में मरीजों के लिए बिस्तर एवं अन्य स्वास्थ्य सेवाओं का नितांत अभाव हो गया। महामारी में लोग अपने बीमार सगे-संबंधियों को लेकर दर-दर की ठोकरें खाने लगे। स्वास्थ्यकर्मियों पर अतिरिक्त कार्यभार, पी० पी० टी० किट पहनकर, पसीने में सराबोर होकर दिन भर मरीजों को देखना बेहद मुश्किल काम था, उसमें भी नए डॉक्टरों को तो कोल्हू के बैल की तरह पिसना पड़ रहा था- 'शासन के आदेश और प्रशासन के प्रभाव से कहीं के भी सरकारी अस्पताल के जूनियर डॉक्टर की शुरूआती जिंदगी कोल्हू के बैल की तरह हो जाती है। उसकी आँख तो खुली रहती है, पर दिमाग पर आदेशों की पट्टी बाँध दी जाती है। वह भी बारह-बारह घंटों तक के लिए। फिर भी महामारी के महाभारत में असली अभिमन्यु वे ही थे।'[2] ऐसे में स्वास्थ्यकर्मी मरीजों के बीच रहकर स्वयं के बीमार होने का खतरा भी उठा रहे थे और मानसिक दबाव झेलते हुए रोगियों के सेवा कार्य में लगे हुए थे। इस बीच बहुत से डॉक्टर, नर्स और सेवाकर्मी कोरोना की चपेट में आने से काल के ग्रास बन गए थे। डॉ. बी. पी. मण्डल का बेटा डॉ. सी. पी. जो बनारस में क्लीनिक चलाता था, कोरोना की चपेट में आने पर एक प्राइवेट अस्पताल में भर्ती हो गया था। अस्पतालों की लूट-खसोट, मरीजों के साथ लापरवाही का हृदय-विदारक दृश्य वहाँ देखने को मिला। लाखों रुपए फीस जमा करवाने के बाद सी. पी. का पार्थिव शरीर जब उसके पिता को सौंपा गया तो पता चला कि सी. पी. की मृत्यु पहले ही हो चुकी थी किंतु अस्पताल ने सच्चाई छुपा कर लाखों रुपए की फीस जमा करवाने के बाद सी. पी. की मृत्यु की सूचना दी और पार्थिव शरीर सौंप दिया। अस्पतालों में भ्रष्टाचार और अमानवीयता की चरम सीमा देखकर डॉ. मण्डल चीत्कार कर उठे, लेकिन अस्पताल की गुंडागर्दी के सामने वह असहाय और विवश अस्पताल, यातायात, सड़क तथा कार्यालय सब जगह भ्रष्टाचार का बोलबाला था। अंतिम संस्कार की समस्या के कारण सी. पी. के पार्थिव शरीर को कार के ऊपर बाँधकर लाना, बार-बार देह का खिसक जाना, सड़क पर सिपाही द्वारा रिश्वत लेना, यह ऐसे हृदय-विदारक दृश्य हैं, जो पत्थर दिल इंसान को भी पिघला दें। एक पिता के हृदय की इतनी पीड़ा, दुख, दर्द, असहायता और विवशता की स्थिति में भ्रष्टाचार की चरम सीमा देखने पर मानवीय संवेदना के शेष रहने की कल्पना भी दुष्कर है। ऐसी संवेदनशील स्थिति में अमानवीय चेहरों की संवेदनहीनता हृदय को छलनी कर देती है। इसलिए डॉक्टर मण्डल उचित ही

कहते हैं- 'अमृत, लोकतंत्र में एक 'मास-किलिंग' लगातार चलती रहती है। ऊपर से तुम्हारे जादुई घोड़े पर अब धर्मध्वजधारी सवार हैं अमृत।'[3]

कोरोना से मरने वाले लोगों के शवों का अंतिम संस्कार भी एक बहुत बड़ी समस्या थी। शमशान, गंगा-घाट यहाँ तक की खेतों में भी लाशों के जलाने से चारों ओर धुआँ फैल रहा था। लोगों ने विवश होकर अपने आत्मीय जनों की लाशों को गंगा में प्रवाहित कर दिया। मसान, खाली मैदान, खेत, गंगा सब लाशों से पटे हुए थे। एक साथ इतनी जलती लाशों को देखकर अमृत का गुस्सा फूट पड़ा- 'स्टेट क्या कर रहा था डाक साहब? उसे तो खबर थी न? ऐसे मरेंगे नागरिक?'[4]

कोरोना में अचानक से तालाबंदी के कारण लाखों मजदूरों का पलायन एक विकराल समस्या थी। अचानक से मजदूर बड़ी संख्या में सड़कों पर निकल आए। यातायात के साधनों के अभाव के कारण हजार-बारह सौ किलोमीटर की दूरी पैदल या साइकिलों से तय करते हुए अपने गाँव पहुँचने के लिए चल पड़े। उन्हें मार्ग में भुखमरी और अनेक दुर्घटनाओं का सामना करना पड़ा। कजरौटा की कहानी के माध्यम से लेखक ने हजारों मजदूरों के पलायन, भुखमरी, अभावग्रस्तता और पीड़ा का जीवंत एवं मार्मिक चित्रण किया है। अमृत का बाल्यावस्था का साथी मित्र कजरौटा अपनी पत्नी को खोकर अपने दोनों बच्चों के साथ उस्मानाबाद से साइकिल पर घर का सामान लादकर दिशा विहीन स्थिति में मार्ग पर निकला था। उसने मार्ग में मजदूरों के साथ बहुत सी अमानवीय घटनाएँ घटती हुई देखी थी- 'उसने साल भर में दर्जनों मजदूरों की लाशों को भूख और प्यास के मारे सड़कों पर मरा हुआ देखा था...मजदूर इतने नासमझ नहीं होते कि निजाम के इस मानवता विरोधी अपराध को ना समझ रहे हों। बस पढ़े लिखों की तरह उन्हें परिभाषाएँ गढ़नी नहीं आती है। इस सरकारी अपराध को वे तालाबंदी के नाम से पुकार रहे थे और भुनभुनाते हुए मुट्ठियाँ भींच रहे थे।'[5]

महामारी में कोरोना के अतिरिक्त अन्य अनेक गंभीर बीमारियों से ग्रस्त रोगियों की अनदेखी भी एक बड़ी समस्या थी। कोरोना से मरने वालों के अतिरिक्त बड़ी संख्या में अन्य अनेक बीमारियों से ग्रस्त लोग अपनी जान गँवा रहे थे। अस्पतालों की व्यवस्था चरमरा रही थी। चारों तरफ अफरा-तफरी मची थी। हार्ट, किडनी, लंग्स और कैंसर जैसी गंभीर बीमारियाँ मानो देश में समाप्त हो चुकी थीं।

ऐसे में महामारी को सुअवसर के रूप में देखने वाले अमानवीय चेहरे लाभ कमाने की फिराक में थे। उन पर बाजारवाद हावी हो रहा था। रामायन, डॉ. बी. पी. मण्डल का क्लीनिक छोड़कर महंत महेंद्रनाथ के साथ जा मिला। किसी हद तक लोगों को उचित दर पर सेवाएँ प्रदान करना तो सही है किंतु लोगों की विवशता में लाभ पर दृष्टि रखना अमानवीयता है। यह अमानवीयता रामायन और महंत महेंद्रनाथ में चरम सीमा पर दिखाई देती है। स्वास्थ्य सेवाओं में नैतिकता परम आवश्यक है। बाजारवादी दृष्टि से व्यक्ति संवेदनहीन होकर सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों से दूर होता चला जाता है– 'बाजारवाद ने हमें मानवीय, सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर सोचने और वैसा आचरण करने वाले मनुष्य की जगह केवल आर्थिक सोच-समझ वाला स्वार्थी व्यक्ति बना दिया है। कहा जा रहा है कि बाजार 'अब्जेक्टिव' (वस्तुपरक) है

और समाज 'सब्जेक्टिव' (आत्मपरक) और बाजार आगे बढ़ रहा है, समाज पीछे हट रहा है।'[6]

रामायन के परामर्श से महंत महेंद्रनाथ का माल गोदाम को अस्पताल में परिवर्तित करना, फीस भले ही बीस रुपये लेकिन रामायन का ग्लूकोस, सुई और दवाई के अलग से चार्ज करना तथा मरीजों को मठ वाली दुकान से ही दवाई लेने का दबाव बनाना, जिससे महंत रातों-रात मालामाल हो रहा था। अन्य महंतो के आपत्ति जताने पर महेंद्रनाथ का दस दिन में राजधानी से कच्चा लाइसेंस लाना, सब भ्रष्टाचार के ही नमूने थे। हफ्ते भर अखबार में विज्ञापन दिए जाने पर एम. एम. टी. अस्पताल का शहर भर में प्रसिद्ध हो जाना तथा धर्म और दवा के मेल से लोगों पर अस्पताल का जादुई प्रभाव होना एक करिश्मे जैसा ही था। अस्पताल में रामायन तमाम तरह के भ्रष्टाचार में संलिप्त था। लोग तरह-तरह से अस्पताल के खिलाफ शिकायतें कर रहे थे। रामायन बिना डिग्री के डॉक्टरी कर रहा था किंतु कोरोना काल में बीमारी की वजह से लोग मजबूर होकर अस्पताल में भर्ती हो रहे थे। रामायन के परामर्श पर ज्यादा भुगतान करने वालों को ही बिस्तर दिया जा रहा था, कम पैसे वालों को बहाना बनाकर अस्पताल से डिस्चार्ज कर दिया जाता था। इतना ही नहीं महंत का अस्पताल जैव चिकित्सा अपशिष्ट अधिनियम की धज्जियाँ उड़ाते हुए मेडिकल कचरे को वहीं पास में ही फिंकवा रहा था, जिससे लोग घायल हो रहे थे। शिकायत करने के बावजूद कोई भी कानूनी कार्रवाई (कार्यवाही) नहीं हो रही थी।

कोरोना काल में जरूरी दवाइयों और ऑक्सीजन की कालाबाजारी बढ़ रही थी। ऑक्सीजन महंगे दामों पर मिल रही थी। चालीस से पचास हजार की कीमत देने पर ही एक सिलेंडर मिल रहा था। कहीं-कहीं राहत पहुँचाने के नाम पर 'नॉन मेडिकल' ऑक्सीजन भेजी जा रही थी जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक थी। सरकारी अस्पताल में कार्यरत डॉक्टर राही चाह कर भी कुछ नहीं कह पा रहा था क्योंकि सरकारी नौकरी में सच कहने पर पाबंदी होती है। ऑक्सीजन के अभाव में हजारों लोग हाँफ-हाँफ कर अपनी अंतिम साँसें पूरी कर रहे थे।

मृत्यु का भय, महामारी की खबरें, मौत के आँकड़े और क्वारंटीन के कारण परिवार से दैहिक दूरी तथा पारिवारिक एवं सामाजिक अकेलापन अनेक प्रकार के मानसिक रोगों को जन्म दे रहा था। कोरोना काल में जनसंचार माध्यमों का भ्रष्टाचार भी एक बड़ी समस्या थी। जनता को सच्चाई बताकर जागरूक करना मीडिया का कर्त्तव्य है किंतु आम आदमी की तकलीफों को मीडिया भी नजरअंदाज करता है। पत्रकार हिरेन के मन में अपने पेशे को लेकर एक पीड़ा है। वह नित्य प्रति समाज में अनेक प्रकार की नंगी सच्चाइयों को देखता है किंतु उन्हें अखबार में छाप नहीं सकता क्योंकि उन्हें उजागर करने के लिए कोई सामने नहीं आना चाहता। ऐसे ही महामारी में सच्चाई बयाँ करने वाली खबरें नदारद थीं। जनता का ध्यान भटकाने के लिए प्रायोजित खबरें ही प्रसारित की जा रही थी।

उपन्यास में लेखक ने दो प्रेम कहानियों के माध्यम से प्रेम-विवाह की समस्या को भी उठाया है। हमारे समाज में प्रेम-विवाह किसी अपराध से कम नहीं, उसमें भी अंतजार्तीय

तथा अंतरधार्मिक प्रेम-विवाह करना न केवल माता-पिता, परिवार एवं रिश्तेदारों की दृष्टि में बल्कि सम्पूर्ण समाज की दृष्टि में भी गुनहगार होना है। जिसमें अंतरधार्मिक प्रेम-विवाह के अंतर्गत रज्जाक मियाँ और सोनाली शर्मा तथा अंतजार्तीय प्रेम-विवाह के अंतर्गत कजरौटा और रूपा के एकाकी और असहाय दांपत्य जीवन की कठिनाइयों का मार्मिक चित्रण किया है। रजत किशोर और ईशा का दाम्पत्य जीवन खौफ के साये में गुजर रहा था क्योंकि दोनों के घरवाले जल्लादों की तरह इनके पीछे पड़े थे।

इसी प्रकार की कहानी कजरौटा और रूपा की है। यह अंतजार्तीय प्रेम-विवाह की समस्या और संघर्ष को व्यक्त करती है। थोड़े ही दिनों के बाद रूपा अपने प्रेम-विवाह को लेकर पछताती है और फोन पर क्षमा याचना करती है तो माता-पिता दोनों न केवल दुत्कारते हैं बल्कि पिता धमकी देते हुए कहते हैं– 'आ गई तो लकड़ी चीरने वाली आरा मशीन पर रखकर चीर देंगे तुमको और तुम्हारी औलादों को भी।'[7] प्रेम विवाह को अपराध के रूप में देखना हमारे समाज की ऐसी कड़वी सच्चाई है जो आज भी विद्यमान है। ऐसे में माता-पिता, भाई एवं परिवारजन उन्हें कभी भी क्षमा नहीं करते- 'लड़कियाँ तो अपने विवाह के लिए पूर्णतः पिता पर आश्रित होती ही हैं। कोई लड़की अपवाद स्वरूप स्वयं संबंध बनाने और विवाह की हिम्मत भी करती है तो उसे पिता द्वारा हत्या से लेकर 'प्रेमी' के धोखा देने तक के खतरे मोल उठाने पड़ते हैं।'[8] कोरोना जैसी महामारी के दौरान दंपतियों का नितांत अकेले पड़ जाना और घर परिवार के सदस्यों का जानलेवा शत्रुओं जैसा व्यवहार करने की मार्मिक कथा को इस उपन्यास में व्यक्त किया गया है।

लोकतंत्र में नागरिकता की अपनी समस्याएँ हैं। नागरिकों को केवल वोट देने का अधिकार है जबकि शेष सभी अधिकार वोट लेने वाले के पास हैं। नागरिकता को लेकर डॉ. मण्डल और अमृत के अपने-अपने विचार हैं किंतु किसी हद तक दोनों ही सही प्रतीत होते हैं। डॉ. मण्डल का मानना है कि नागरिकताएँ सभ्यताओं का जाली चेहरा होती हैं जिसमें हम नागरिक ज्यादा और मनुष्य कम होते हैं। इसलिए नागरिकता में श्रेणियाँ बना दी जाती हैं। कुछ नागरिक विशेषाधिकार संपन्न तो कुछ अधिकार विहीन हो जाते हैं। नागरिकता में मनुष्यता का अभाव नागरिक अधिकारों के लिए घातक है। नागरिकता से पहले अगर हम मनुष्यता को समझते तो बेहतर नागरिक हो सकते थे। नागरिकता के साथ-साथ मनुष्यता की ट्रेनिंग देना भी अति आवश्यक है ताकि हम अपनी इंसानियत को न भूलें।

निष्कर्षतः उपन्यास में आद्यंत कोरोना जैसी महामारी के साथ-साथ लेखक ने अन्य अनेक समस्याओं का यथार्थ और मार्मिक चित्रण किया है। कोरोना महामारी हर व्यक्ति का भोगा हुआ सच है, जिसको भूल पाना असंभव है। कोरोना-काल समय के पृष्ठों पर लिखा एक ऐसा अध्याय रहा जो दर्द, खौफ और पीड़ा से भरा हुआ था। एक के बाद एक मार्मिक और हृदय विदारक कहानियों का सिलसिला इस उपन्यास में देखने को मिलता है। इस प्रकार यह उपन्यास उस बीते हुए कारुणिक अतीत को समग्रता के साथ पुनर्जीवित करने में सक्षम और सफल हुआ है।

संदर्भ :

1.परसाई हरिशंकर, ऐसा भी सोचा जाता है, वाणी प्रकाशन, 4697/5, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-2, प्रथम संस्करणः 1993, पृ० 23, 2. कुमार प्रवीण, अमर देसवा, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, जी-17, जगतपुरी दिल्ली-110051, पहला संस्करणः 2022, पृ० 196, वही- पृ० 173, वही- पृ० 161, वही- पृ० 98, उपाध्याय रमेश, उपाध्याय संज्ञा (सं०), बाजारवाद का विकल्प, शब्दसंधान प्रकाशन, पश्चिम विहार, नई दिल्ली, प्रथम संस्करणः 2010, पृ० 42, कुमार प्रवीण, अमर देसवा, पृ० 127-128, चतुर्वेदी जगदीश्वर, सिंह सुधा (सं०), स्त्री अस्मिताः साहित्य और विचारधारा, आनंद प्रकाशन, 176-178 रवींद्र सरणी, कोलकाता-700-007, प्रथम सं०-2004, पृ० 438

एसोसिएट प्रोफेसर,
मोतीलाल नेहरू महाविद्यालय (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

स्त्रीगाथाः बेनाम स्त्री की मनोदशा का चित्रण

- डॉ बसुन्धरा उपाध्याय

उपन्यास आधुनिक युग में जीवन को समग्रता से अभिव्यक्त करने वाला सबसे सशक्त माध्यम है। जीवन सभ्यता के विकास के क्रम में सरलता से जटिलता की ओर अग्रसर हुआ है। इस जटिलता को सर्वाधिक पूर्णता और समग्रता में अपने भीतर बाँधने की क्षमता उपन्यास में रही है। अपने जन्म से लेकर आज तक उपन्यास विधा की भारतीयता निरन्तर विवादित रही है। किशोरी लाल गोस्वामी के मत में यह एक ठेठ भारतीय विधा है, 'जिस प्रकार साहित्य के प्रधान अंगों में नाटक का प्रसार सर्वप्रथम यहीं हुआ, उसी प्रकार उपन्यास की सृष्टि भी प्रथम यहाँ ही हुई थी, यह अतियुक्ति नहीं है, परन्तु किसी-किसी महाशय का यह कथन कि उपन्यास पूर्व समय में यहाँ प्रचलित नहीं था, वरन् अंग्रेजों की देखा-देखी लोगों ने नावेल के स्थान में उपन्यासों की कल्पना कर ली है, इत्यादि। परन्तु उन महाशयों को प्रथम इनकी मिमांशा कर लेनी चाहिए, क्योंकि उपन्यास उपधनी, उपसर्ग, पूर्वक असधातु इन शब्दों से बना है तथा उप (समीप) नी (ले जाना) आस (रखना) अर्थात् इसकी रचना उत्तरोतर आश्चर्यजनक एवं कुछ छिपी हुई कथा क्रमशः समाप्ति में प्रस्फुटित हो।'[1] (किशोरीलाल गोस्वामी, प्रणयिनी परिणय,पृष्ठ 1)

इसके विपरीत आचार्य नलिन विलोचन शर्मा जैसे विद्वान का मत है कि, ह्लहिन्दी उपन्यास की स्थिति हिन्दी काव्य से सर्वथा भिन्न है। संस्कृत के प्राचीनतम काव्य से लेकर आधुनिकतम काव्य की परम्परा अविच्छिन्न है। किन्तु हिन्दी उपन्यास का वह पौधा सीधे अगर पश्चिम में नहीं लाया गया तो उसका बाँग्ला कलम तो लिया ही गया था, न कि सुबंधु, दण्डी और वाण की लुप्त पम्परा पुर्नजीवित की गई थी।[2] (नलिन बिलोचन शर्मा, आलोचना(पत्रिका)अंक 1 पृष्ठ 53) अब यह बात स्वीकार कर ली गई है कि संस्कृत साहित्य में आख्यान की परम्परा थी किन्तु जिसे उपन्यास कहा जाता है वह अंग्रेजी के 'नॉवेल' की पद्धति पर विकसित हुआ है।

हिन्दी उपन्यास की प्रभाविता को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कथन से समझा जा सकता है। उनका मानना था कि, 'समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही है, उपन्यास उनका प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकता अनुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति उत्पन्न कर सकते हैं। किसी जनमानस के बीच काल की गति के अनुसार जो गुण और चिन्त्य परिस्थितियाँ खड़ी होती रहती है, उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी-कभी विस्तार का मार्ग भी प्रसस्त करना उपन्यासों का कार्य है।'[3] (रामचन्द्र शुक्ल,हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 536) जीवन को समग्रता में अभिव्यक्त करने और सार्थक हस्तक्षेप के द्वारा बदलाव लाने की क्षमता रखने वाली उपन्यास विधा के शिल्पके अन्तर्गत कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, संवाद, वातावरण, भाषा, शैली एवं उद्देश्य का अध्ययन किया जाता है। शैली का मूल आधार उसकी भाषा होती है। भाषा अपने जन्म से लेकर आजतक की यात्रा में उपन्यासकारों ने भाषा-शैली को लेकर विभिन्न प्रयोग किए हैं। एक उपन्यासकार

के दूसरे से भिन्नता बहुत हद तक उसकी भाषा शैली और तकनीक के कारण होती है। मसलन प्रेमचंद और फणीश्वर नाथ रेणु दोनों ग्रामीण जीवन के कथाकार हैं, किन्तु उस जीवन को अभिव्यक्त करनें का उनका लहजा, भाषा-शैली एवं तकनीक अलग-अलग है। वैसे भी मानव सभ्यता के आरम्भ से ही ऐसी परिस्थितियों का निर्माण किया गया जहाँ स्त्री के लिए सुरक्षित जगह घर की चाहरदीवारी को बनाया गया। पुरुष बाहर जाकर कार्य करेगा और स्त्री घर के भीतर बच्चों की देखभाल एवं घरेलू कार्यों को सम्पन्न करेगी। इस उपन्यास में भी घरेलू स्त्रियों के माध्यम से लेखक कथा के ताने बाने बुनता है- कौन हो सकता है? दरवाजे की घंटी बजी। बरतन माँज रही थी वह। एक बार सोचा बड़का माई को कहे देखने के लिए। लेकिन फिर सोचा उसे तकलीफ क्यों दे। उठी झट से हाथ धोया और दरवाजे की ओर पलटी। हाथ धोने से पहले हाथ की चिमचिमी उतार दी। पिछले कुछ साल से पानी लगने से हाथ के नाखून खँदड़ जाते। (स्त्रीगाथा, पृष्ठ-3)

पुरुष का कार्य उत्पादन की श्रेणी में आएगा। उसे सामाजिक स्वीकृति मिलेगी तथा स्त्रियों का काम अनुत्पादक समझा जाएगा। पशुपालन संस्कृति के विकास के साथ ही स्त्री का जीवन भी दोयम दर्जे का हो गया। जैसे-जैसे मानवीय सभ्यता विकसित होती गई, उसी के अनुरूप समाज ने अपने बेहतर संचालन के लिए विभिन्न प्रकार के सामाजिक सांगठनिक एवं राजनीतिक संस्थाओं का निर्माण करना शुरू कर दिया। इनमें से कुछ संस्थाएं मूर्त थी तथा कुछ अमूर्त लेकिन एक बात दोनों में उभयनिष्ठ थी कि दोनों के नियंत्रण का दायित्व पुरुष ने अपने हाथ में ले रखा था। परिवार, विवाह, प्रजनन, मातृत्व जैसे नितांत व्यक्तिगत आचरण हों या धर्म, सत्ता, शासन जैसे सामाजिक दायित्व दोनों ही जगहों पर निर्णय लेने का अधिकार सिर्फ पुरुष को था। स्त्री को बचपन से यह समाज यह घुट्टी पिलाकर बड़ा करता है कि वह शारीरिक रूप से कमजोर तथा पुरुष पर निर्भर प्राणी है। पुरुष जैसा चाहे उसके साथ व्यवहार करे, कोई उसे रोक नहीं सकता जब चाहे, उसका उपभोग करे, जब चाहे न करे पर स्त्री का अपना मन कुछ भी नहीं है। स्त्री केवल सहेगी यह सहनशीलता एवं सेवाभाव उसका स्वाभाविक गुण बन गयाहै-वह उठ गयी। 'जा कहाँ रही हो! अरे मेरी जेब कहाँ गयी...? सब किधर गायब हो जा रहे मेरा हाथ लगते...!'

कहीं कुछ गिरा तो नहीं आया! इससे पहले कि वह मदद करती अपनी जेब उसे मिल गयी और उसमें से एक अचंभा उसने निकाला। बेली के फूलों का एक गजरा। 'लो इस रात को इन उजले फूलों में बाँध लो!' उसके बाल उसने लहरा दिये। वह कुछ समझ न पायीं क्या प्रतिक्रिया होनी चाहिए उसकी। 'मेरी अनारकली...!' गजरे को खुद उसके बालों में अटका दिया उसने।(स्त्रीगाथा, पृष्ठ -12)

भारत में तो धर्म ग्रंथों में बकायदा इस नियम विधान किया गया कि स्त्री को कभी स्वतंत्र नहीं छोड़ना चाहिए। बाल्यावस्था में उसका नियंत्रण पिता युवावस्था में पति और बुढ़ापे में पुत्र को करना चाहिए। बड़े-बड़े दार्शनिकों ने स्त्री को अवगुणों की खान एवं बुराइयों की जड़ माना है। हमारे देश में ब्रह्मचर्य एवं ब्रह्मचारियों को सम्मान की निगाह से देखा जाता है और इन दोनों के ही मूल्य में स्त्री के सम्पर्क से दूर अन्तर्निहित है। सदियों से इस अभिशप तले जीने के लिए विवश स्त्रियों ने इसके विरूद्ध आवाज उठाई।

लैगिंक आधार पर किए जा रहे इस भेद भाव के विरुद्ध अनेक बारआवाज उठायी है। तब जाकर नारीवाद का जन्म हुआ।

यद्यपि हिन्दी कथासाहित्य के आरम्भ से ही उसमें स्त्री की उपस्थिति है, किन्तु यह स्त्री नखदंतविहीन पुरुष की कृपा पर जीने वाली पितृसत्तात्मक संस्थाओं, मूल्यों को अपने में आत्मसात किए हुए घरेलू स्त्री है। मूलतः स्त्री के इसी रूप का पितृसत्तात्मक संस्थाओं ने आर्दशीकरण किया था। आदशीकृति इस मूर्ति के परे जाकर हाड़-मांस की बनी ऐसी स्त्री जिसके अपने सपने और इच्छाएं हो उसकी कल्पना न तो आरम्भिक पुरुष रचनाकारों ने की और न ही महिला रचनाकारों ने। प्रेमचंद की अंतिम कृति 'गोदान' की मालती स्वतंत्र जैसी दिखने वाली महिला के रूप में दिखाई देती हैं, जो पितृसत्तात्मक समाज को 'तितली' नजर आती है।

स्त्री सम्वेदना को चित्रित करने की दृष्टि से भी उनके उपन्यासों की वैविध्यता को स्पस्ट रूप से देखा जा सकता है। प्रेमरंजन जी ने अपने साहित्य में बहुत ही अच्छे ढंग से अभिव्यक्त किया है।

प्रेमरंजन जी के उपन्यासों में जीवन के कटु यथार्थ का बहुत ही सटीक चित्रण किया गया है। स्वयं को तलाशती वह जगह जगह भटकती है। अपना नाम पूछती है पर कोई नहीं बता पाता-कक्ष के भीतर महात्मा जी अपने आसन पर नेत्र मूँदे बैठे थे।

कहीं यह उसके प्रश्न का अंत तो नहीं! बाहर साधु ने कहा था उँगली उठाकर महात्मा जी प्रश्न पूरा होने का संकेत देंगे। और हाथ उठाकर उत्तर पूरा होने का...! एक पल के लिए वह धकबकायी। किंतु महात्मा जी जारी थे। ...मैं तो... निमित्तमात्र हूँ। कहो देवि! क्या जानने आयी हो ?' 'क्या आप मेरा नाम जानते हैं। नाम बता सकते हैं मेरा?' उसने जल्दी से पूछ लिया। इससे पहले कि प्रश्नकाल समाप्त हो जाये... और प्रश्न करने का उसका अधिकार। 'हम जानते हैं। लेकिन मानते नहीं। हम नाम से नहीं... प्राणीमात्र के भीतर जो परमसत्ता है... व्यक्ति के भीतर ईश्वर का जो रूप... उससे उसे जानते हैं। जीव तो अपने आप में कुछ भी नहीं। तुम्हारे भीतर ईश्वर का जो बिंब है... हम उसे देखते हैं... उसे जानते हैं... उसे पहचानते हैं। तुम देवी हो... तुम माता हो!... वह तो स्वयंप्रकाशित है बस देखने वाली आँखें चाहिए।' जी... मैं अपना नाम भूल गयी हूँ! (स्त्रीगाथा, पृष्ठ-25)

स्थान पर वह जीवन के यथार्थ को चित्रण करते हुए कहते हैं कि- सुबह सुबह का पानी ठंडा था। ठंड से बचने के लिए देह अच्छी तरह मलमल कर नहाने लगी। मैल छूट रहा था। कल का मैल। इस तरह रगड़ रगड़ कर नहा रही थी जैसे पिछले पंद्रह सालों की काई उतार रही हो। सहसा उसे लगा जैसे सीने के बीच कोई अंगारा उग रहा हो। उगने पर देखा अंगारे नहीं दो अक्षर थे। दो धड़कते हुए अक्षर। प्यार के अक्षर! ... उसने सिर झुका कर देखना चाहा। पर नहीं दिखे। सामने आइने में वे झलक रहे थे। लेकिन उल्टे। अगर खुद उसने लिखा होता तो सीधा दिखता और वह पढ़ पाती। खुद की तो नहीं... लेकिन यह लिखावट वह पहचान सकती थी। उसकी लिखावट.. (स्त्रीगाथा, पृष्ठ-48)

महिलाओं की मानसिक स्थिति को एव उनकी भावनाओं को जो अभिव्यक्ति दी है वह वास्तव में काबिलेतारीफ है-गाड़ी रुकने से पहले ही कुली दरवाजों से झूलकर

डिब्बों में चढ़ गये। घर की रोटी के लिए वे खतरा उठाते। रोज की रोटी के लिए रोज का जोखिम! एक अभ्यास की तरह। अगर गलती से किसी का पैर फिसल गया तो...। फिर बचा तो शायद वह भी वहीं अपना ठिकाना करने पर लाचार हो जायेगा। ऐसे भी देखा जाये तो कुलियों का असली या पहला घर बिस्तर ये प्लेटफार्म ही होते हैं। कुली... होगा कुली? वे झाँक-झाँक कर पूछ रहे थे। उसके जैसी सवारी को देख दुखी होते होंगे, जिसके पास कोई सामान नहीं। जैसे नंगे पैरों वाले आदमी को देखकर जूते चमकाने वालों को निराशा होती होगी।

प्लेटफार्म पर उसने अपने खाली पैर डाले जैसे दउरे में डेग रख रही हो। ब्याह के बाद अपने शहर में पहली बार आयी थी। स्टेशन के दोनों ओर रास्ता निकलता था। पहले रास्ते से कॉलेज नजदीक पड़ता दूसरे रास्ते से घर। घर जो हुआ करता था...! एकबारगी पाँव उसी ओर मुड़ गये। फिर रोका अपने को। और उसी वक्त दो डिब्बों के बीच की खाली जगह में पटरियों पर फुदकता दिख गया एक टाँग वाला कौवा। वह वही था या कोई दूसरा? उनका भी तो कोई नाम नहीं होता। चेहरा भी। न पहचान कोई...। बस एक पहचान वहीं थी... एक हादसे की... कि एक पाँव गँवा चुका था ...।(स्त्रीगाथा, पृष्ठ-35)

उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से स्त्री मन को धीरे धीरे खोला है-गाड़ी रुकने से पहले ही कुली दरवाजों से झूलकर डिब्बों में चढ़ गये। घर की रोटी के लिए वे खतरा उठाते। रोज की रोटी के लिए रोज का जोखिम! एक अभ्यास की तरह। अगर गलती से किसी का पैर फिसल गया तो...। फिर बचा तो शायद वह भी वहीं अपना ठिकाना करने पर लाचार हो जायेगा। ऐसे भी देखा जाये तो कुलियों का असली या पहला घर बिस्तर ये प्लेटफार्म ही होते हैं। कुली... होगा कुली ? वे झाँक झाँक कर पूछ रहे थे। उसके जैसी सवारी को देख दुखी होते होंगे जिसके पास कोई सामान नहीं। जैसे नंगे पैरों वाले आदमी को देखकर जूते चमकाने वालों को निराशा होती होगी।

स्त्रीगाथा उपन्यास महिलाओं के इर्दगिर्द ही घूमता है- समाज मे हो रही घटनाओं को देखने के पश्चात् ही कोई भी साहित्यकार अपनी लेखनीमें ढालता है। शिल्प की दृष्टि से भी यह उपन्यास बेजोड़ है-

प्रसाधन कक्ष बेहद गंदा था। पर वैसी ही उम्मीद भी थी। बाहर आने तक वह औरत वही खड़ी रही। उसकी प्रतीक्षा में। 'टिकट लिया है?' उसने पूछा।

तो इस तरफ से आ जाओ। अभी गाड़ी आयी है। वे टिकट जाँचते हैं...।' दो काले कोट वाले नजर आ रहे थे। औरत उसे लेकर दूसरी ओर निकल आयीं।

'इस बार तो बारिश खूब हुई!'

'हाँ।' उसने सिर हिलाया।

'लगता है फसल अच्छी होगी।'

वह सिर हिलाती रही।

चलते चलते वे सिरे पर पहुँच गये थे... प्लेटफार्म जहाँ शुरू होता है या खत्म। दिन में भी सुनसान सा था वहाँ।

एक आदमी लपक कर उनके पास आया और अपना चाकू खोल दिया।

'जो है निकाल दो!'

'इसके पास कुछ नहीं है... जाओ!' औरत ने कहा। वह वापस चला गया।

[स्त्रीगाथा, पृष्ठ-26)

स्त्रीगाथा उपन्यास की कथा धीरे धीरे आगे बढ़ती है -दुबारा घंटी घनघनाने से पहले दरवाजा खोल देना चाहती थी। कोई भला होगा कि तुरंत अधीर होकर दुबारा घंटी नहीं दबायी। यह कौतुक वह अकसर करती। घंटी बजने से अनुमान लगाने की कोशिश करती कि बाहर कौन होगा। और कैसा! फिर देखती कितना सही थी या गलत। (स्त्रीगाथा, पृष्ठ.3)

घटनाओं के साथ प्रकृति का भी चित्रण किया है साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में उपन्यास का मानव मन से गहरा जुड़ाव है, क्योंकि उसमें अभिव्यक्त मानव जीवन एवं उसकी सामाजिक स्थिति का अपने समाज के यथार्थ से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। उसमें व्यक्त की घटना कितनी भी काल्पनिक क्यों न हो, कहीं-न-कहीं वह यथार्थ से जुड़ी हुई होती है। साहित्यकार अपने साहित्य के माध्यम से समाज की विभिन्न समस्याओं को उठाते रहे हैं। वह यथार्थ को प्रस्तुत करते रहे हैं और वह उसे प्रस्तुत करने में सफल भी रहे हैं।

समाज में जैसा दिखता है एक साहित्यकार उसे वैसा ही अपने साहित्य में उकेरता है-मंदिर के आगे चबूतरे पर पंडाल लगा हुआ था। कल पूर्णिमा थीं और महिलायें यहाँ रात भर रही होंगी भजन कीर्तन करते हुए। मस्टराइन चाची की तबीयत अगर खराब न होती जरूर आती उसे साथ लेकर। अभी वहाँ प्रवचन हो रहा था।... अपने आप को पहचानो। जो तुम समझते हो कि तुम हो तुम्हारा असली रूप नहीं है। तुम्हारा सच्चा स्वरूप उसके भीतर है। ऊपर सिर्फ वस्त्र मात्र है... माया है..हम सबका सौभाग्य है कि महात्मा जी ने हमें इसके लिए आधे घंटे का समय देना स्वीकार कर लिया है। फिर वे काशी के लिए प्रस्थान कर जायेंगे जहाँ कल उनका प्रवचन है। समय कम है श्रद्धालु अधिक... इसलिए हर भक्त बस एक प्रश्न... (स्त्रीगाथा,पृष्ठ-23)

वर्तमान में नारी की स्थिति बदली तो साहित्य में भी नारी का रूप बदल गया। अब तक बेचारी पारंपरिक मूल्यों के नाम पर कष्ट भोगती नारी, देवी, गृहलक्ष्मी, त्यागमयी, आर्थिक रूप से परावलम्बी नारी जैसे विशेषण से क्षुब्ध पारिवारिक दायित्व को निभाते निभाते अपने अस्तित्व को मिटा देने वाली थी। पर इस उपन्यास में ऐसा कतई नहीं है इस उपन्यास में महिलाओं को बहुत ही जागरूक दिखाया गया है। अत्याचार के खिलाफ खूब चर्चाएँ करती हैं-'हाँ... अत्याचार के बारे में आपने ठीक कहा। वह तो होता है। हमारी बड़का माई का आदमी दूसरी शादी कर दूसरी जगह रहता है। ये बेचारी गुजारे के लिए घर घर काम करती है। वह महीने में एक बार आता है पीटता है और जितने पैसे काम कर इसे मिले रहते हैं लेकर चला जाता है। दिक्कत है कि उस नशेबाज को महीने का हिसाब रखना भी नहीं आता। कभी बीस दिन में ही आ जाता है और पैसे माँगने लगता है। उस वक्त ये गरीब पैसे कैसे दे! उस पर पिनक कर हाथ उठा देता है। इतनी बुरी तरह पीटा इस बार कि बीमार पड़ गयी। संयोग से मेरे घर में रहती हैं दो चार दवायें। दवा दी मैंने और यहीं रोक लिया कि आराम करो। (स्त्रीगाथा, पृष्ठ-7)

समकालीन साहित्यकारों ने नारी का नवीन रूप समाज के समक्ष रखा है। प्रेमरंजन जी ने भी नारी के नए रूप को लिया है। नारी को आर्थिक रूप से स्वालम्बी दिखाया है। आज की स्त्री इतनी सशक्त है कि अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों के खिलाफ आवाज उठा सकती है। जब से शिक्षा का प्रचार प्रसार हुआ है, तब से रूढ़ियों एवं कुरीतियों का वह डटकर मुकाबला करती हैं। नारी मुक्ति का समर्थन किया है। साथ ही उसके द्वंद्वों का भी बड़ी सजीवता से अंकन किया है।

संदर्भ :

1. किशोरीलाल गोस्वामी, प्रणयिनी परिणय,पृष्ठ 1
2. नलिन बिलोचन शर्मा, आलोचना पत्रिकाअंक 1पृष्ठ 53
3. रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 536

असिस्टेंट प्रोफेसर हिंदी विभाग
एल. एस. एम. राजकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय पिथौरागढ़ उत्तराखंड

'तमस' में पंजाब का लोकजीवन

- किरन रानी

पंजाब अपनी भौगोलिक विशेषता के कारण देश और विदेश के लोगों के लिए हमेशा से आकर्षण का केन्द्र रहा है। भाषा आधारित राज्य होने के बावजूद पंजाब में हिन्दी भाषा का विशिष्ट स्थान है। इस पावन धरती पर हिन्दी में बहुत सी महत्वपूर्ण रचनाएँ रची गईं। विशेषकर हिन्दी गद्य लेखन में पंजाब का अद्वितीय सहयोग रहा है। इस क्षेत्र में उपन्यास लेखकों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। देश विभाजन के समय पंजाब का काफी क्षेत्र बँटवारे की चपेट में आ गया। जिस कारण इस क्षेत्र का लोकजीवन विशेष रूप से प्रभावित हुआ। 'तमस' विभाजन से पूर्व पंजाब की तत्कालीन दशा को विशेष रूप से चित्रित करता है। इस उपन्यास में तत्कालीन पंजाब के कुछ क्षेत्रों (ढ़ोक इलाहीबख्श, खानपुर, सैयदपुर और ढ़ोक मुरीदपुर) के लोकजीवन के चित्र भी दिखाई देते हैं। सुखविन्दर कौर बाठ जीवन से जुड़े साहित्य को शिष्ट साहित्य मानते हुए लिखती हैं, 'लोक साहित्य ही शिष्ट साहित्य के उद्भव का मूल स्रोत है और उसमें निहित तत्व, उस काल विशेष को द्योतित करते हैं।'[1] लोक जीवन से जुड़ा साहित्य कालजीवित हो जाता है। 'तमस' में साम्प्रदायिक घटनाओं के साथ-साथ पंजाब के लोक जीवन से संबंधित बिन्दु इस प्रकार हैं झ

- प्रभातफेरी- सुबह पौ फटने से पहले किसी धार्मिक मण्डली द्वारा गलियों में से भजन गाते हुए जाने की विधि को प्रभातफेरी कहा जाता है। पंजाब में धार्मिक अवसरों के दिनों में प्रभातफेरियाँ निकाली जाती हैं। प्रभातफेरी शुरू करने से पहले लोग एक जगह एकत्रित होते हैं, तदुपरान्त वे भजन गाते हुए आगे बढ़ते हैं। तमस में लेखक ने प्रभातफेरी की शुरूआत को इस प्रकार चित्रित किया है, 'प्रभातफेरी में भाग लेने के आरंभ में दो गिने चुने लोग ही पहुँचते थे। बाद में गलियाँ और बाजार लाँघते हुए जिस किसी का घर रास्ते में पडता, वह तोंद खुजलाता, जम्हाइयाँ लेता साथ में शामिल हो जाता।'[2] इस तरह प्रभातफेरी की मंडली गीत गाते हुए एक से दूसरी गली में प्रवेश करती जाती। मंडली द्वारा गाए जाने वाले गीतों की आवाज अंधेरे में घर आ रहे नत्थु को भी सुनाई देती है, 'वह कुछ ही कदम आगे बढ़ पाया था कि गली के मोड़ पर उसे गानेवालों की आवाज स्पष्ट और ऊँची सुनाई देने लगी। नत्थु समझ गया कि यह कोई प्रभातफेरी की मंडली होगी।'[3] इस तरह प्रभातफेरी की मंडली गीत गाते हुए आगे निकल जाती है।

- गाँव की औरतों द्वारा थापियाँ (उपले) बनाना- स्वतंत्रता प्राप्ति के समय पंजाब में खाना बनाने के लिए चूल्हा जलाने के लिए लकड़ी अथवा गोबर से बनी थापियों का प्रयोग किया जाता था। गाँव में लोग गाय, भैंस आदि पशु पालते थे। औरतें उनके गोबर से थापियाँ बनाकर, उनका प्रयोग आग जलाने के लिए करती थीं। लेखक ने तमस में गाँव की औरतों द्वारा थापियाँ बनाने का चित्र बडी बारीकी से खींचा है। उपन्यास में जब नत्थु अपने घर पहुँचने वाला होता है, तब उजियाला होने लगता है। नत्थु गली में जाते हुए औरतों को थापियाँ बनाते हुए देखता है, 'पास में बैठी दो औरतें गोबर की थापियाँ बनाकर अभी से मिट्टी की दीवार पर लगा रहीं थीं।'[4] उपन्यास में एक और जगह, जहाँ

सिक्ख दम्पत्ति हरनाम सिंह और बंतो मुरीदपुर के जिस मुस्लिम घर में पनाह लेते हैं, वहाँ भी एक औरत द्वारा थापियाँ बनाने का दृश्य इस प्रकार चित्रित हुआ है, 'अकराँ आई और बहुत बड़े तसले में रखी थापियाँ उठाकर ले गई, और एक-एक करके आँगन की दीवार पर लगाने लगी। औरत चुपचाप गोबर के ढ़ेर में हाथ डालकर थापियाँ बनाती रही।'[5] आज भी पंजाब के गाँव में थापियाँ बनाई जाती हैं जिनका प्रयोग चूल्हा जलाने के साथ-साथ लोहड़ी जैसे त्योहार में अग्नि पूजन के लिए किया जाता है।

- जादू-टोना- पंजाब में अशिक्षित वर्ग बहुत सारे अन्धविश्वासों से जुड़ा हुआ है। शिक्षा के विकास के कारण यद्यपि इस प्रकार की अज्ञानता में कमी आई है, पर आज भी कुछ क्षेत्रों में ऐसी बातें देखने को मिलती हैं। सुखविन्दर कौर का मानना है, 'प्राचीन काल से ही प्रायः अशिक्षित और निम्नवर्गीय जन मंत्र-तंत्र और टोने-टोटके करके अनिष्ट या अमंगल निवारण करने की चेष्टायें करते रहें है। यह भी एक प्रकार का अंधविश्वास ही है।'[6] जादू टोना अथवा तंत्र-मंत्र करने से व्यक्ति का मकसद अपनी बीमारी, कष्ट अथवा कलेश दूसरों पर डाल देना होता है। 'तमस' में जादू टोना का जिक्र इस प्रकार आया है, 'कुछ कदम आगे बढ़ने पर उसके (नत्थु के) पैर से ठोकर लगी। उसे लगा, जैसे उसके पाँव से टकराकर कोई चीज बिखर गई। फिर वह समझ गया और समझते ही उसका शरीर झनझना उठा। एक घर के सामने कोई औरत टोना कर गई थी।'[7] कई बार जादू टोने बच्चों पर आने वाली मुसीबतों को टालने के लिए भी किए जाते हैं। लेखक के शब्दों में, 'आम तौर पर ये बच्चों पर से ग्रह टालने के लिए किए जाते हैं, जबकि नत्थु के कोई औलाद नहीं थी। वह आश्वस्त सा फिर आगे बढ़ गया।'[8]

शकुन अपशकुन विचार- हमारे समाज में ऐसे बहुत से शकुन अपशकुन से संबंधित विचार माने जाते है, जिनका संबंध खुशी या गमी से जोड़ा जाता है। आम तौर पर कोई अच्छा काम करने से पहले शकुन अपशकुन का विचार किया जाता है। सुखविन्दर कौर बाठ के अनुसार, 'लोक जीवन में शकुन अपशकुन विचार की बहुत भूमिका रहती है। जन साधारण प्रत्येक काम इस विचार से जुड़ कर करता है।'[9] 'तमस' में पंजाब के लोगों की शकुन अपशकुन में विश्वास को बडी सहजता से रेखांकित किया गया है। जब नत्थु का पैर टोने से टकराता है तो उसके मन में तुरन्त अपशकुन का विचार आता है, 'नत्थु ने इसे अपने लिए अपशकुन समझा।'[10] लेखक ने गाँव के लोगों द्वारा बारिश के लिए किए जाने वाले शकुन का चित्र इस प्रकार खींचा है, 'कुछ दिन से तपिश बढ़ रही थी और आसमान से छींटा नहीं पड़ा था। जब कभी छींटा पड़ने में देरी हो जाती तो मुहल्लों के मनचले लड़के टूटे घड़े में गोबर और गाय, घोड़े का मूत्र इक्टठा कर किसी मूंजी की डयोढ़ी में फेंक आते थे। इसे बारिश बुलाने का शगुन माना जाता था।'[11] लोक जीवन पर शकुन अपशकुन विचार की प्रभुत्ता आज भी कायम है।

- नामकरण के ढंग - प्रत्येक मनुष्य को जन्म लेते ही उसके परिवार के सदस्यों द्वारा नाम दिया जाता है। नाम के द्वारा ही उसे समाज में पहचान प्राप्त होती है। नीतू कौशल के मतानुसार, 'समाज में पहचान के लिए बच्चे को एक नाम दिया जाना आवश्यक है।'[12] 'तमस' में अलग- अलग धर्मों के व्यक्तियों के नामकरण के ढंग पर लेखक ने रिचर्डस के माध्यम से प्रकाश डाला है। रिचर्डस लीजा को बताता है, 'मुसलमानों के

नाम के अन्त में अली, दीन, अहमद ऐसे-ऐसे शब्द लगे रहते हैं, जबकि हिन्दुओं के नामों के पीछे ऐसे शब्द जैसे लाल, चन्द, राम लगे रहते हैं। रोशनलाल होगा तो हिन्दू और रोशनदीन होगा तो मुसलमान। इकबालचन्द होगा तो हिन्दू और इकबाल अहमद होगा तो मुसलमान।'[13] आगे सिक्खों के नामकरण के विषय में रिचर्डस लीजा को बताता है, 'सभी सिक्खों के नाम के पीछे सिंह लगा रहता है।'[14]

- मेला पंजाब के लोक जीवन का अति महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। इनमें पंजाब की संस्कृति के साक्षात दर्शन दिखाई देते हैं। यदि कहा जाए कि पंजाब के मेलों में ही पंजाब बसता है तो इसमें कोई अतिश्योक्ति न होगी। यहाँ लगभग हर महीने में किसी न किसी जगह मेला लगा दिखाई देता है, जिनका संबंध किसी त्योहार, देवी- देवता, बाबा या किसी पीर के साथ जोड़ा जाता है। 'तमस' में किसी पीर बाबा की कब्र पर मेले का जिक्र रिचर्ड द्वारा लीजा को पंजाब के लोक जीवन का परिचय देते हुए इस प्रकार आया है, 'वहाँ थोड़ी दायीं ओर भी एक पिकनिक स्पॉट है, वहाँ पीर का कब्र है, मुसलमानों के किसी पीर की कब्र है। वहाँ पर वसंत के मौसम में एक अनूठा मेला लगता है, दूर- दूर से नाचने- गानेवाली औरतें जमाँ होती हैं और पन्द्रह दिन तक मेला लगता है। दिन को लोग जुआ खेलते है, रात को नाच गान होता है। तुम्हें कभी ले चलूँगा।'[15]

- सरबत का भला- पंजाब के लोगों की स्वार्थ हित के बजाय सरबत का भला करने की आदत इन्हें दूसरे राज्यों से विशिष्ट कोटि में खड़ा करती है। देश के किसी भी राज्य में कोई भी मुसीबत आए पंजाब के लोग सहायता करने के लिए सबसे आगे खड़े दिखाई देते हैं। यहाँ के लोग अपने लाभ हानि की परवाह किए बिना सबकी सहायता करने को तत्पर रहते हैं और अपनी दुआओं में भी सरबत का भला माँगना ही इनका मुख्य ध्येय रहता है। 'तमस' में नत्थु एक गली में से गुजरते हुए एक बुजुर्ग की प्रार्थना इस प्रकार सुनाई देती है, 'या अल्लाह, कुल दी खैर कुल दा भला। बूढ़ा जागकर सभी के कुल की दुआ कर रहा था।'[16]

- अतिथि सत्कार- भारतीय समाज में घर आए अतिथि को परमात्मा के तुल्य माना गया है। सुखविन्दर कौर बाठ का अतिथि सत्कार के विषय में मानना है, 'यह भी भारतीय संस्कृति का एक प्रमुख अंग या पक्ष रहा है। मातृ देवो भव, पितृ देवो भव के अतिथि देवो भव का आदर्श भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए मान्य रहा है। गृहस्थ के पाँच यज्ञों में पूजन को एक यज्ञ माना गया है।'[17] पंजाब में अतिथि सत्कार करने का विशेष महत्व रहा है। 'तमस' में जब हिन्दू मुस्लिम दंगई एक दूसरे को लूट रहे थे, ऐसे समय में भी एक मुस्लिम औरत राजो द्वारा सिक्ख दम्पत्ति हरनाम सिंह और बंतो को अपने घर में आश्रय दिया जाना पंजाब की अतिथि सत्कार की भावना को प्रतिपादित करता है। लेखक के शब्दों में, 'औरत उठ खड़ी हुई और तसले में रखे पानी से हाथ धोकर एक ओर चली गई, जहाँ रसोई के बरतन रखे थे। फिर उसने मिट्टी का कटोरा उठाया और उसमें लस्सी डालकर ले आई।'[18] राजो का संबंध मुस्लिम कौम से होने के कारण उसे डर है कि कहीं उसका पति और पुत्र, जो दंगइयों के साथ हिन्दुओं और सिक्खों के घरों में लूटमार करने गयें हैं, कहीं आकर हरनाम सिंह और बंतो को मार न दें। इसलिए राजो उन्हें जाने के लिए कहती है, अंत में कुछ सोचकर उन्हें जाने से मना करती है,

'जब हरनाम सिंह ने सांकल खोलने के लिए हाथ उठाया तो औरत फिर बोल पड़ी, न जाओ जी, रुक जाओ। तुमने मेरे घर का दरवाजा खटखटाया है, दिल में कोई आस लेकर आए हो। जो होगा देखा जाएगा। तुम लौट आओ।'[19] बाद में राजो उन दोनों को अपने पति और पुत्र की नजरों से छिपाने के लिए उन्हें मियानी में छिपा देती है, 'इधर आओ जी, तुम दोनों ऊपर चढ़कर मियानी में बैठ जाओ। आवाज नहीं करना। किसी को पता न चले तुम यहाँ पर हो। आगे अल्लाह मालिक है।'[20] राजो का पति और पुत्र जब घर लौट आते है तो वह उनकी जान बचाने के लिए उन्हें भूसे की कोठरी में छिपा देती है और समय मिलने पर उन्हें छिपकर खाना भी देती है। लेखक के शब्दों में, 'दिन में किसी वक्त राजो लस्सी और रोटियाँ दे गई। दोनों के पेट में रोटी गई तो त्राण मिला।'[21] राजो के मन में अतिथि के लिए प्यार और चिंता होने के कारण वह उन्हें अगली सुबह अंधेरे में झुरमट तक छोडकर आती है, 'जाओ, हुण रब्ब राखा। सीधे किनारे-किनारे चले जाओ। आगे जो तुम्हारी किस्सत। उसकी आवाज आर्द्र हो उठी।'[22] इस प्रकार राजो अपने अतिथियों को आदर पूर्वक गाँव से विदा करती है।

- धार्मिक अनेकता- पंजाब पश्चिमोत्तर से भारत का प्रवेश द्वार रहा है। यहाँ सदियों से कई आक्रमणकारी आए। उन में से कुछ तो पंजाब को लूटकर वापिस चले गये और कुछ ने यहीं पर स्थाई रूप से रहना शुरू कर दिया। परिणामस्वरूप धीरे-धीरे पंजाब में कई धर्मों और संस्कृतियों का संयोजन होता चला गया। आज भी पंजाब में धार्मिक अनेकता पाई जाती है। यहाँ हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख आदि धर्मों के लोग शांतिपूर्वक रहते हैं। 'तमस' में पंजाब की धार्मिक अनेकता के चित्र कई जगह दिखाई देते हैं। वास्तव में संपूर्ण उपन्यास ही पंजाब की धार्मिक अनेकता को चित्रित करता है। उपन्यास में जब कांग्रेस की जमात को लेकर हिन्दू मुस्लिम आपस में झगड़ने लगते हैं तो उन्हें शान्त करने के लिए एक व्योवृद्ध बताता है, 'देख लो सिक्ख भी हैं, हिन्दू भी हैं, मुसलमान भी हैं।'[23] इसी प्रकार रिचर्डस और लीजा की बातों में भी पंजाब की धार्मिक अनेकता दिखाई देती है। रिचर्डस के शब्दों में, 'जैसे कि सिक्खों के पाँच निशान होते हैं। बालों के इलावा चार चिन्ह ओर होते हैं, हिन्दुओं के सिर पर चुटिया होती है और मुसलमानों के भी अपने चिन्ह होते हैं।'[24] इसमें सन्देह नहीं कि पंजाब की संस्कृति में धार्मिक अनेकता का खूबसूरत संयोजन रहा है। 'तमस' इसका जीता जागता उदाहरण है।

- निष्कर्षतः 'तमस' स्वतंत्रता प्राप्ति के समय के पंजाब के जीवन यथार्थ पर केन्द्रित उपन्यास है। लेखक भीष्म साहनी ने इसमें पाँच दिन के पंजाब के सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक जीवन के सजीव चित्र उकेरे हैं। इसमें जहाँ स्वतंत्रता प्राप्ति के समय पंजाब में हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख आदि धर्मों के लोगों में आपसी साम्प्रदायिक दंगों का हाल दिखाया गया है, वहीं लेखक पंजाब के सामान्य लोक जीवन को अनदेखा नहीं कर पाया। उन्होंने तत्कालीन पंजाब के लोक जीवन से जुड़े पक्षों यथा प्रभातफेरी, गांव की औरतों द्वारा थापियाँ (उपले) बनाने की क्रिया, जादू टोना, शकुन-अपशकुन विचार, विभिन्न धर्मों के लोगों के नामकरण के ढंग, यहाँ के मेले, पंजाब के लोगों की सरबत का भला और अतिथि सत्कार भावना और यहाँ की धार्मिक अनेकता को सफलतापूर्वक चित्रित किया है। निःसन्देह 'तमस' उपन्यास पंजाब के लोक जीवन को सहजता से

प्रतिबिंबित करता है।

संदर्भ :

1. बाठ, सुखविन्दर कौर, कबीर का लोकतात्विक चिन्तन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2007, पृ.11, 2. साहनी, भीष्म, तमस, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2019, पृ.11, 3. वहीं, पृ.19, 4. वहीं, पृ.19, 5. वहीं, पृ.110, 6. बाठ, सुखविन्दर कौर, कबीर का लोकतात्विक चिन्तन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2007, पृ.88, 7. साहनी, भीष्म, तमस, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2019, पृ.18, 8. वहीं, पृ.19, 9. बाठ, सुखविन्दर कौर, कबीर का लोकतात्विक चिन्तन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2007, पृ.87, 10. साहनी, भीष्म, तमस, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2019, पृ.19, 11. वहीं, पृ.19, 12. अनु, रविकुमार, मध्यकालीन लोक चेतना, संजय प्रकाशन, दिल्ली, 2006, पृ.96, 13. साहनी, भीष्म, तमस, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2019, पृ.25, 14. वहीं, पृ.25 15. वहीं, पृ.24, 16. वहीं, पृ.19, 17. बाठ, सुखविन्दर कौर, कबीर का लोकतात्विक चिन्तन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2007, पृ.62, 18. साहनी, भीष्म, तमस, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2019, पृ.110, 19. वहीं, पृ.16, 20. वहीं, पृ.111,, 21. वहीं, पृ.115, 22. वहीं, पृ.117, 23. वहीं, पृ.20, 24. वहीं, पृ.28

शोधार्थी, पी-एच.डी.
पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला

मेहरून्निसा परवेज के उपन्यासों में संघर्षशील नारी की व्यथा

– डॉ. सविता टॉक/ सुश्री दुर्गावती

नारी प्राचीन काल से ही संघर्षशील व संवेदनशील रही है। वह माँ, बेटी, पत्नी, बहू, सहेली, बहन, दादी आदि रूपों में अपना कर्तव्य पूर्ण करती है, फिर भी उसका मातृत्व, उसका पत्नित्व, उसका सौन्दर्य, उदारता, व्यापकता, अनेकानेक संवेदनाओं के विभिन्न पहलुओं से गुजरते हुए साहित्य में अनेक रूपों में रूपायित हुआ है। कहानी, नाटक, कविता, उपन्यास, संस्मरण, लेख, कॉलम आदि सभी के माध्यम से स्त्री-विमर्श के रूप में फैल रहा है, जिसमें स्त्री से सम्बन्धित व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक राजनैतिक, धार्मिक सभी प्रकार की समस्याओं का वर्णन मिलता है। आधुनिक काल के उत्तरार्द्ध में नारी जीवन में व्याप्त दुःख, हताशा, व्यथा, घृणा, तृष्णा, यौन उत्पीड़न व संघर्ष की कहानी जिसमें पारिवारिक समस्याओं से जूझकर समाज की रूढ़ परम्पराओं को तोड़कर अनीति व अत्याचार का विद्रोह कर अपने अस्तित्त्व को कायम रखने वाली, नारी चेतना को जाग्रत करने में महिला लेखिकाओं के नाम प्रमुख है, इन्होंने अपने लेखन का केन्द्रीय बिन्दु 'नारी' को बनाया है। नारी से सम्बन्धित आधुनिक युग की सभी समस्याओं का उजागर करने का सफल प्रयास किया है।

पद्मश्री मेहरून्निसा परवेज एक संवेदनशील और प्रगतिशील विचारों की लेखिका हैं, इन्होंने अपने लेखन का केन्द्रीय बिन्दु 'नारी' को रखा है। नारी जीवन में व्याप्त शोषण, यौन उत्पीड़न, धार्मिक असहिष्णुता, आर्थिक विपन्नता, धार्मिक विवाह से निर्मित समस्याएँ, प्रेम व संभोग का आधुनिक रूप विवाहेत्तर सम्बन्ध, बांझपन के कारण छटपटाती नारी, अविवाहित कामकाजी नारी की त्रासदी, मध्यमवर्गीय नारी का संघर्ष, दाम्पत्य जीवन में नीरसता, नारी को भोग्या समझने की प्रवृत्ति, बदलते स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, विधवा व परित्यक्ता स्त्री की पीड़ा आदि ज्वलन्त समस्याओं को रेखांकित करने का प्रयास किया है। इनका लेखन जीवन की समग्रता का प्रस्तुतीकरण लेकर सामने आता है। यह आधुनिक युग की सृजनशील लेखिका है, जिन्होंने कहानी, उपन्यास, लेख, शोध, कविता संस्मरण आदि लिखे है इन सभी में अनुभूति को आधार बनाया है, पात्र चाहे कोई भी हो, भोगा उन्होने ही है अर्थात् अनुभूति प्रधान रचनाएँ हैं इनकी रचनाओं में नारी जीवन की विसंगतियों का यथार्थ चित्रण मिलता है। इन्होंने अपने उपन्यासों में नारी शोषण के विरूद्ध आवाज उठाई है। इन्होनें नारी जीवन में आने वाली समस्याओं को उपन्यासों का विषय बनाया हैं। मेहरून्निसा परवेज का पहला उपन्यास 'आँखों की दहलीज' 1969 में प्रकाशित हुआ। जिसमें प्रेम, कर्तव्य, और बलिदान का त्रिकोणात्मक संघर्ष है इस उपन्यास की नायिका तालिया है, जो मातृत्व प्राप्ति से वंचित है। पति शमीम के साथ उसका दाम्पत्य जीवन अत्यन्त सुखद है, लेकिन तालिया के कानों मे डॉक्टर के बातें गूंज उठती है कि 'अफसोस है कि मिस्टर शमीम, आपको बच्चे का सुख नहीं मिल सकता, उम्मीद मेरे ख्याल से बेकार है।'[1] शमीम अपनी पत्नी को खुश रखने का

प्रयास करता है लेकिन, सब विफल हो जाता है जिसके कारण तालिया मायके आती है, वहाँ उसकी मुलाकात जावेद नामक पुरुष से होती है, वह उससे प्यार करने लगती है। दोनों के बीच प्रेम पलता रहता है, लेकिन इस सम्बन्ध से पर्दा उठने से पहले जावेद पीछे हट जाता है। वह अपने दाम्पत्य जीवन को हमेशा सुरक्षित रखना चाहता है इस बात से तालिया को ग्लानि होती है कि उसने अपने पति से विश्वासघात किया है। शमीम के निष्कलंक और निस्वार्थ प्रेम को देखकर तालिया अपराध बोध से ग्रसित होती है और आत्महत्या करने का विफल प्रयास करती है। शारीरिक रूप से अस्वस्थ हो जाती है और गृहस्थी की बागडोर सहेली जमीला के हाथों में सौपतीं है, किन्तु जमीला कहती है 'नहीं तालिया तू मुझे अपनी सौत बनाना चाहती है तेरा हक मैं नहीं ले सकती, दुनिया क्या कहेगी? तालिया उत्तर देती है- 'नहीं बहन, दुनिया तुझे सम्मान देगी, तेरी कुरबानी की दाद देगी।'[2] लेखिका ने स्त्री और मां, नारी के दोनों स्वरूपों में माँ को अधिक महत्त्व दिया है। मेहरून्निसा परवेज का दूसरा उपन्यास 'उसका घर' 1972 में प्रकाशित हुआ, जिसमें लेखिका ने खोखली पारिवारिक व्यवस्था तथा भ्रष्ट समाज से जुड़ी एक सुखद सच्चाई है, इसकी नायिका एलमा एक तलाकशुदा स्त्री है, जिसका जीवन संघर्षशील है, अपने भाई द्वारा शोषित और पीड़ित है वह दमे की बीमारी से ग्रसित है। उसका एकाकीपन कथा को आगे बढ़ता है सोफिया एलमा की सहेली है, जिसकी जिन्दगी भी गरीबी, मां के अत्याचार, शराबी पिता जो बेटी पर टूट पडे। इस घटना के आघात से सोफिया हतप्रभ हो जाती है। एलमा की चचेरी बहन है रेशमा जो देव से प्रेम करती है। मां के विरूद्ध वे दोनों विवाहित जीवन बिताते हैं। वह एक बच्चे की माँ बन जाती है 'और कहती है कि मैं तो देव को इस घर के दामाद का सम्मान दिलाऊँगी और खुद भी सम्मान से विदा होकर जाऊँगी।'[3] एलमा की स्थिति दयनीय है उसका भाई उसे अपने बॉस को भेंट कर देता है। बॉस आहुजा, एलमा को केवल वासना पूर्ति के लिए रखता है लेकिन सोफिया समझाती है कि विवाह के पश्चात् दुखों से मुक्ति मिलेगी। अन्त में एलमा सब छोड़कर मद्रास चली जाती है। इस उपन्यास में एलमा द्वारा नारी विषयक सामाजिक घुटन अंतरद्वंद शोषण, पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से संयुक्त परिवार का टूटना, व्यक्ति बाहर से कुछ और अन्दर से कुछ और होता है पिता भाई यदि अपनी बहन या बेटी का ही सौदा करें, तो यह कितना घिनौना रूप है। इन समस्याओं को इस उपन्यास को उभारा है। तीसरा उपन्यास 'कोरजा' 1977 में प्रकाशित हुआ जिसमें रब्बों की बेटी रन्नों के विवाह में आई नसीमा अपनी पुरानी स्मृतियों को ताजगी देती है रब्बों आपा की जवानी देखकर ही वह यादों में खो जाती है। विवाह में रन्नों गर्भवती होती है। रन्नों की बेहोशी हालत देखकर रब्बों आपा से कहती है कि नस्सों इसे दिन चढ़ें हैं। दोनों एकदम खुलकर साथ-साथ रहते थे। मेरी ही जिद पर यह शादी जल्दी हो रही है। वरना इन दोनों को कोई चिन्ता नहीं थी क्या जमाना आ गया है।'[4] रहमान खान के घर में हमेशा झगड़े का माहौल ही कायम है उसकी बीवी एक दिन भी उसके साथ सुख से नहीं रह सकती, रहमान एक विलासी व्यक्ति उसकी अपनी बेटी फातिमा पर एक शिकारी जैसी दृष्टि थी। वह अपने बच्चों को प्यार और दुलार नहीं देता था, अचानक लड़की की ओर 'बाप का प्रेम नहीं उमड़ा, बल्कि यह मक्कार आदमी की वहशी आँखों का पानी था, जो घर में

फुदकती नये पैरों की फड़फड़ाती चिड़िया को एक ही बार में दबौच लेना चाहता था।'[5] फातिमा का ब्याह करीम मियाँ के साथ किया। रहमान खाँ इस विवाह से खुश न था। फातिमां का दाम्पत्य जीवन भी सुखद पूर्ण नहीं था, लेकिन फातिमां मायके नहीं आना चाहती थी। उसने अपने पति को सही रास्ते पर लाने का प्रयास किया, लेकिन विफल रहीं। फातिमां ने मायके में एक लड़की को जन्म दिया, जिसका नाम रखा नसीमा। कुछ सालों के पश्चात फातिमां पीलिया का शिकार होकर मृत्यु को प्राप्त होती है। करीम मियां अपनी बेटी को नानी अरमान बी के पास छोड़ देता है और नानी नसीमा को रखती है। कम्मों के मां बाप का बचपन में ही निधन हो जाता है चाचा-चाची के संरक्षण में वह पलती है। जगदलपुर में उसका परिचय एक पत्रकार अमित से होता है। अमित मां, बड़ी बहन और छोटे भाई के साथ रहता है। शराब की लत कम्मों की दोस्ती है। कम्मों घर में अकेली रहती है बीच-बीच में अमित कम्मों के घर आता-जाता है। 'एक बार भीगी हुई कम्मों को देखकर अमित की कामवासना जाग उठती है, लेकिन अतृप्त कामवासना एंव कुण्ठा अमित को फिर शराबी बनाती है।'[6] बीमारी के कारण अमित की मृत्यु हो जाती है। कम्मों की लाश भी कमरे में मिलती है। साजोखाला जो एक विधवा है, वह आर्थिक दृष्टि से बहुत कमजोर हो जाने के कारण पिता समान जुम्मन घर खाली नहीं कराने की एक शर्त रखता है कि साजो रात को मेरे घर आयेगी। साजो दुःखी भाव से कहती है 'अम्मा वह बूढ़ा मुझे नंगी करके सारी रात खड़ा रखता है मेरे बदन को झिंझोड़ता है मैं विरोध नहीं करूँ इसके लिए मुझे खम्भे से बाँध देता हैं।[7] दूसरी विधवा एक हिन्दू परिवार की महिला है 'शोना माँ' के पति की मृत्यु के पश्चात अपना मकान किराये पर दे देती है उसी से घर का खर्च चलाती है। बड़ा बेटा शराबी है छोटा बेटा पागल जिसे जंजीरों से बांध कर रखा जाता है एक अन्य ब्याही लड़की मोना इस घर के लिए सभी कष्ट उठाती है। उपन्यास की अन्य पात्र रब्बों जो साजो के फूफी के बडे.बेटे की लड़की है सौतेली माँ के दूर के रिश्तेदार जमशेद माँ व बेटी दोनों से प्यार करता है और रब्बों गर्भवती हो जाती है। इस गर्भ से माँ व समाज वालों के ताने सुनने पड़ते है। इस उपन्यास में कामवासना की अतृप्त इच्छा एक और उलझती है और दूसरी ओर सुलझाती है। इसलिए इस उपन्यास के पात्र जीवन की विपन्नता की और संकेत करते है कई जिन्दगियों के सूखते हुए सपने उनका उजाड़ बन्जर जीवन सफलता से प्रस्तुत किया है। चतुर्थ उपन्यास 'अकेला पलाश' जिसका प्रकाशन 1981 में हुआ इस उपन्यास में अनमेल विवाह से उपजी नारी की दैहिक वासना पूर्ति के समस्या, छुआछूत, आश्रम व अस्पतालों में होने वाले नारी अत्याचारों, सरकारी दफ्तरों में होने वाले नारी यौन उत्पीड़न की समस्याओं का चित्रण किया गया हैं। इसमें एक पात्र का विधवा विवाह करवाकर नारी को महत्ता भी प्रदान की है। एक अर्न्तधर्मीय विवाह करवाकर हिन्दू-मुस्लिम सद्भाव का परिचय दिया है। दाम्पत्य सम्बन्धों का टूटन, छूआछुत और नारी विषयक कुछ अन्य समस्याऐं विवाहेतर सम्बन्ध, अन्तरजातीय विवाह, अस्पताल में डॉक्टरों की नीति, मूल्य शोषण आदि को इसमें उभारा है। तहमीना का विवाह पिता के दोस्त जमशेद से होता है, लेकिन पिता इस बात से सहमत नहीं होते हैं तहमीना दाम्पत्य जीवन में शारीरिक और मानसिक सुख से अतृप्त एवं वंचित होती है। तीव्र स्वर में 'देखों, तुम मेरे

शरीर के साथ खिलवाड़ करते हो मेरी इच्छाओं को जगा देते हो और उन इच्छाओं की मांग को तुम पूरा भी नहीं कर सकते, तब तुम मेरे पास क्यों आते हो।'[8] इस तरह से स्त्री पुरूष में मनमुटाव व टूटन की समस्या बढ़ जाती है। दफ्तर में टाईपराईटर चोरी से सम्बन्धित है तहमीना व तुषार का मिलन होता है यह सम्बन्ध बढ़ता है, लेकिन तुषार लोकलाज के भय के कारण तहमीना से कोसों दूर चला जाता है फिर तहमीना तड़पती है फिर पलाश का फूल देखने में बहुत सुन्दर है लेकिन सुगन्ध विहीन है अपनी डालियों से मुरझाकर वह धरती पर गिरता है इसी प्रकार है तहमीना का जीवन। तहमीना का भाई विपुल एक होनहार लड़का है। विपुल और तहमीना के रिश्ते पर जमशेद दोषारोपण करता है। विपुल से तरु का परिचय तहमीना द्वारा होता है विपुल तरू से शादी करना चाहता है लेकिन तरू अपने पति से अलग रहने वाली व दो बच्चों की माँ है। तहमीना के पौरुषहीन पति एवं प्रेमी के त्रिकोण को लेकर लिखी गई है। आश्रमों में होने वाले यौनशोषण के बारे में विमला बताती है-'हर नयी लड़की को पहले गुरू भोगता था फिर चेले और उसके बाद दीक्षा दी जाती थी।'[9] नाहिदबाजी की सास उससे छुआछूत करती है, क्योंकि नाहिद बाजी मुस्लिम है जबकि सास हिन्दू है डॉ. महेश अग्रवाल से कोर्ट मैरिज तो कर लेती है, लेकिन घर परिवार के व्यवहार से अफसोस करती कहती है 'कुत्तों से भी बुरी गत हो गयी है मेरी, उठते बैठते ताने सुन-सुन कर कान पक गये हैं।'[10] पंचम उपन्यास 'समरांगण' जो 2002 में प्रकाशित हुआ। पण्डित गोपीलाल अपनी पत्नी सुहासनी के साथ दिल्ली में मिठाई का व्यापार करता था। व्यावसायिक उन्नति को लक्ष्य मान कर वह गाँव से दिल्ली आ जाता है, लेकिन यहां दंगे मारकाट भगदड़ मच गई, गोपीलाल वापस कश्मीर लौटना चाहते है, अन्धेरी रात मे कहां जाऐ बंगाली सिंह को कंगन उतारकर देने के बाद दिल्ली छोड़ देते हैं इसी समय गोपीलाल का बंगाली सिंह ने मिट्ठू सिंह से परिचय कराया और दोनों मित्र बन गये। एक मेले के दौरान गोपीलाल का परिचय बूँदाजान नामक सुन्दर नृत्यकी से होता है वह उसकी तरफ आकर्षित होता है और पत्नी के दायित्व से पीछे हटता है। इसी बीच सुहासनी एक बेटे को जन्म देती है। सुहासनी पत्नी बनकर जितनी दुःखी बन कर रही थी उतनी ही वह मोहन की माँ बन कर सुखी थी। बूँदाजान कटोरी बाई को कहती है 'मैंने ही अपना सब कुछ खोया। आज कितनी बातें सुननी पड़ती हैं, मेरा अपना अस्तित्व समाप्त हो गया है। पण्डित की रखैल बन कर रह गई हूँ।[11] मोहन पृथा से शादी करके उसे छोड़कर लंदन चला जाता है तो वह सोचती है - 'असुरक्षित भविष्य ने स्त्रीत्त्व, रूप, यौवन, मयार्दा की बलि नहीं ले ली थी? जीने के लिए मुट्ठी भर विश्वास भी पति उसे न दे सका, उससे वह आगे क्या उम्मीद रखे।[12] पति को पत्नी के मरने के बाद एहसास होता है कि घर क्या होता है। पत्नी से घर होता है वह कहता है 'जाने क्यों? सुहासनी के जाने से बड़ा खालीपन सा लग रहा है। भले ही मैंने उस पर ध्यान नहीं दिया, उसे कष्ट दिये।[13] षष्ठम् उपन्यास 'पासंग' जो 2004 में प्रकाशित हुआ, इस उपन्यास में लेखिका ने कहा है कि ज़िन्दगी को हमेशा एक मकसद बना कर जीना ही इन्सान को सिकन्दर बनाता है, वरना शून्य है। इस उपन्यास में औरत की व्यथा, दुख, हताशा और उसके संघर्षों को उठाया है। कन्नी इस उपन्यास की नायिका है, जिसके पिता की मृत्यु व माँ दूसरी शादी कर लेती है वह दादी

के पास रहती है। कन्नी दादी से चोरी छिपे माँ से मिलती है। कन्नी जब सयानी होती है, तब उसका विवाह तय होता है सादिक के साथ शादी होती है। उसी समय वह अपनी माँ की प्रतीक्षा करती है और उसके माँ और अब्बू आकर आशीर्वाद देते है। माँ कहती है 'माँ के गहने बेटी के लिए ही होते है'[14] अम्मां ने बहुत प्यार से उसे दुलारकर कहाँ माँ के साथ उसे पिता का प्यार भी मिलता है। इसी समय दादी की मृत्यु कन्नी हतप्रभ होती है कि वह दादी की मौत पर रोये या अपने ब्याह पर प्रसन्न हो। एक माँ का दर्द इस प्रकार स्पष्ट किया - 'मुझे बच्चों को दिखाया तक नहीं, आखिर कहाँ ले गये बच्चे को, बानोआपा दहाड़ी।[15] सारांश पद्मश्री मेहरून्निसा परवेज बहुआयामी व्यक्तित्व की धनी है। इनका समग्र गद्यसाहित्य जिसमें कहानी, उपन्यास, लेख आदि सभी नारी जीवन के इर्द-गिर्द रहता है। नारी जीवन में आने वाली समस्त समस्याओं को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। इन्होंने अपने उपन्यासों में सन्तति सुख न प्राप्त होने से छटपटाती नारी, दहेज प्रथा के कारण अनमेल विवाह, यौन शोषण, धार्मिक असहिष्णुता, आर्थिक विपन्नता, आधुनिक रूप विवाहेत्तर सम्बन्ध, अविवाहित कामकाजी महिला जीवन की त्रासदी, मध्यमवर्गीय नारी का संघर्ष, दाम्पत्य जीवन में नीरसता, नारी को भोग्या समझने की प्रवृत्ति, बदलते स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, तलाकशुदा व विधवा नारी आदि का यथार्थ चित्रण किया हैं। 'आँखों की दहलीज' की तालिया, जमीला, शशि, 'उसका घर' की एलमा, सोफिया, रेश्मा, 'कोरजा' की अरमान बी, रब्बो, नसीमा फातिमा, कम्मों, मोना, मंदाकिनी, साजोखाला, रन्नों 'अकेला पलाश' की तहमीना, नाहिद बाजी, विमला, मीनाक्षी, तरू 'समरांगण' की सुहासनी, लता, कटोरीबाई, पृथा, बूँदाजान, माधवी, गंगा व 'पासंग' की कन्नी, कुलसुम, बानोआपा, दादी, जैनमदादी, कन्नी का अम्मा। सभी नारी पात्र अपने जीवन की सफलता पूर्वक जीने के लिए दिन-रात संघर्ष करती है। वह संघर्ष चाहे पारिवारिक, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक हो। इन सभी संघर्षों को सहन करते हुए समाज में अपना अस्तित्व बनाये रखने का अथक प्रयास करती हैं।

संदर्भ :

1. मेहन्निसा परवेज - 'आँखों की दहलीज' पृ.-5, अक्षर प्रकाशन प्राईवेट लिमिटेड 2/36 अंसारी रोड़ नई दिल्ली (1969)
2. वहीं पृ. - 132
3. मेहरून्निसा परवेज -'उसका घर' पृ- 27, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस (1972)
4. मेहरून्निसा परवेज 'कोरजा' -पृ. - 18, वाणी प्रकाशन 21.ए.दरियागंज, नई दिल्ली 1977
5. वही पृ.-20
6. वही पृ.-70
7. वही पृ.-72
8. मेहरून्निसा परवेज 'अकेला पलाश' पृ.-81, वाणी प्रकाशन 21.ए.दरियागंज, नई दिल्ली 1981
9. वही पृ.-63

10. वही पृ.-171
11. मेहरून्निसा परवेज 'समरांगण' पृ.-251, वाणी प्रकाशन 21.ए.दरियागंज, नई दिल्ली 2002
12. वही पृ.-202
13. वही पृ.-289
14. मेहरून्निसा परवेज - 'पासंग' पृ. - 377, वाणी प्रकाशन 21.ए.दरियागंज, नई दिल्ली 2004
15. वही पृ. - 175

पत्रिकाएँ -
1. तिरूमिश पत्रिका - तिरूमिशि प्रकाशन भोपाल मध्यप्रदेष
2. साहित्य कुंज पत्रिका - सुमन कुमार घई प्रकाशन आगरा, उत्तरप्रदेश
3. धर्मयुग पत्रिका - धर्मवीर भारती, टाईम्स ऑफ इंण्डिया समूह प्रकाशन मुम्बई।
4. वाङ्मय पत्रिका - डॉ. फिरोज अहमद, प्रकाशन कानपुर, उत्तरप्रदेश
5. नया ज्ञानोदय पत्रिका - लीलाधर मंडलोई प्रकाशन, नई दिल्ली।

शोधार्थी
3/42 साकेत नगर, हाउसिंग बोर्ड, ब्यावर
पिन न. 305901 जिला - अजमेर

'पत्ताखोर' उपन्यास के परिप्रेक्ष्य में युवापीढ़ी में नशाखोरी की समस्या

- डॉ. रीना सिंह

युवापीढ़ी राष्ट्र के रीढ़ के समान होती है। वे समाज के भावी निमार्ता होते हैं। उम्र के इसी दौर में युवाओं के भविष्य के साथ ही उनके राष्ट्र का भविष्य भी तय हो जाता है। युवाओं की जनसंख्या की दृष्टि से हमारे देश को युवा भारत कहा जा सकता है, क्योंकि आंकड़ों के अनुसार भारत की 65% आबादी 35 वर्ष से कम की है। हमारे देश के लिए यह एक वरदान के समान है। लेकिन यदि युवा शक्ति का सही दिशा में उपयोग न किया जाए तो यही वरदान अभिशाप में बदल सकता है और इनका जरा सा भटकाव संपूर्ण राष्ट्र के भविष्य को अनिश्चित कर सकता है। युवाओं की दिशाहीनता को एक बड़ी समस्या मानते हुए डॉक्टर विनोद गब्बर ने लिखा है, 'दिशाहीनता की इस स्थिति में युवाओं में ऊजाओं का नकारात्मक दिशाओं की ओर मार्गांतरण और भटकाव होता जा रहा है। लक्ष्य हीनता के माहौल ने युवाओं को इतना अधिक भ्रमित करके रख दिया है कि उन्हें सूझ ही नहीं पड़ रही है कि करना क्या है, हो क्या रहा है, और आखिर उनका क्या होगा? आज से दो-तीन दशक पूर्व तक साधन-सुविधाओं से दूर रहकर पढ़ाई करने वाले बच्चों में 'सुखार्थिन कुतो विद्या, विद्यार्थिन कुतो सुखम' के भावों के साथ जीवन निर्माण की परंपरा बनी हुई थी। और ऐसे में जो पीढ़ियाँ हाल के वर्षों में नाम कमा पाई है वैसा शायद अब संभव नहीं।'[1]

हमारे समय की सजग और सचेत लेखिका मधु कांकरिया ने युवाओं में दिशाहीनता और नशाखोरी को अत्यंत घातक माना है। उनका उपन्यास 'पत्ताखोर' सिर्फ एक कथा भर नहीं है, बल्कि उसमें एक कथा के जरिए नशे के पूरे समाजशास्त्र को समझने की कोशिश की गई है। यही नहीं उनकी कई कहानियों में भी दिग्भ्रमित युवा पीढ़ी के दर्शन मिल जाते हैं। दिशाहीनता आज की आम युवा पीढ़ी के जीवन का सबसे बड़ा सच है। देश का अधिकांश युवा वर्ग दिशाहीनता एवं नशाखोरी की समस्या से घिरा हुआ है। युवाओं में दिशाहीनता की प्रवृत्ति के लिए किसी एक कारण को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। मीडिया का बढ़ता प्रभाव, भविष्य की अनिश्चितता, मानसिक तनाव, आसपास का माहौल, सामाजिक वातावरण आदि परिस्थितियाँ युवाओं की दिशाहीनता के लिए उत्तरदायी हैं। 'पत्ताखोर' उपन्यास का 'आदित्य' एक होनहार बालक होते हुए भी परिस्थितियों का शिकार होकर नशे के गिरफ्त में चला जाता है। माँ-बाप के इकलौते पुत्र आदित्य का मन पढ़ाई में नहीं लगता है। उसका मित्र उसे सपना दिखाता है कि किसी भी होटल में उसे आराम से रिसेप्शनिस्ट की नौकरी मिल जाएगी। नौकरी के साथ-साथ वो संगीत का अभ्यास भी जारी रख पाएगा। खतरों से खेलने के शौकीन आदित्य को यह योजना पसंद आती है। बारहवीं के बोर्ड की परीक्षा की लिस्ट में अपना नाम न देखकर वह निराश हो जाता है और असफलता के डर से घबराकर बिना बताए घर से निकलकर पुरी पहुँच जाता है। वहाँ उसे सम्राट होटल में काम मिल जाता है। वहीं से

उसे नशे की लत लगनी शुरू हो जाती है।

लेखिका ने इस उपन्यास में नशाखोरी से जुड़े सभी पहलुओं पर विस्तार से प्रकाश डाला है। अधिकतर अकेले रहने को अभिशप्त लोग इस दिशा में कदम उठाते हैं। इस सदी का यह कड़वा सत्य है कि चंद लोगों ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए जीवन को बेहद एकाकी, भविष्यहीन, उदास और ऊब भरी बना दिया है। नशाखोरी का बढ़ता व्यापार इस ओर संकेत करता है कि युवाओं में यह प्रवृत्ति दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है। नशे का आदि युवा नशा करने के लिए कुछ भी कर सकता है। डॉक्टर कोठारी के शब्दों में, 'नशे की खुराक के लिए नशेबाज कुछ भी कर सकता है। डकैती, चोरी ताला तोड़ना.. वह भूखे जानवर की तरह खूँखार हो जाता है। वह अपने ही बच्चे का दूध का डब्बा बेच सकता है। वह सब कुछ कर सकता है जो उसकी पहुँच में है। एक एडिक्ट था, जो खून बेचकर ड्रग लेता था। दरअसल वह इंसानियत के दर्जे से नीचे गिरकर नशे की डुगडुगी पर नाचने वाला बंदर बन जाता है। क्या बताऊँ.. बंबई से आई यह बीमारी। और देखते-देखते सभी महानगरों में फैल गई है। अकेले कलकत्ता में चालीस प्रतिशत युवा गाँजा, हेरोइन, ब्राऊन.. मतलब किसी- न-किसी नशे के शिकार हैं।'[2]

इस उपन्यास का पत्ताखोर आदित्य किसी प्रकार इस विषय से छुटकारा पाकर मानव सेवा के रास्ते पर निकल पड़ता है। अपनी गलती को समझ कर आदित्य अपने पिताजी से माफी माँगता है, 'मुझे माफ कर दें पापा, जिस समय मैंने पहली बार इसे लिया, मैं नहीं जानता था कि यह चीज इतनी विनाशकारी है.. मैं... मैं... खुशियों की खोज में था पापा. बिना यह जाने की खुशी क्या होती है.. मैं.. मुझे अपनी रोजमर्रा की जिंदगी उबाऊ लगती। मेरे दोस्त ने मुझे यह रास्ता दिखाया- जिंदगी की किक और मस्ती का। पर मैं नहीं जानता था यह चीज इतनी भयानक है.. मैं तो बस अपनी जिंदगी में रंग भरना चाहता था। मेरा यकीन करें पापा, यह आत्मबोध तो मुझे अब जाकर हुआ है कि जिंदगी में रंग इस प्रकार नहीं भरे जा सकते हैं।'[3] पुत्र की आत्म स्वीकृति में हेमंत बाबू को आशा की किरण नजर आती है वह आदित्य से फिर ड्रग नहीं लेने का वादा चाहते हैं। आदित्य भी ड्रग को छोड़ना चाहता था लेकिन वह पिताजी को बताता है कि ऐसे एकदम से ड्रग छोड़ने पर वह मर जाएगा। वह पिताजी से इसका ट्रीटमेंट करवाने के लिए कहता है। इसे डि-टॉक्सिफिकेशन कहते हैं। पिताजी तैयार हो जाते हैं। उन्हें पुत्र पर लाड़ और तरस एक साथ आता है। उन्हें लगता है कि पुत्र को नशे की ओर धकेलने में कहीं न कहीं उनका और आदित्य की माँ वनश्री का भी हाथ है। लेकिन सारे नशेबाज इतने खुश नसीब नहीं होते हैं। 'और अंत में ईशु' कहानी का विश्वजीत भी जीवन से हार कर नशे के संसार में चला जाता है। विश्वजीत नशे के कारणों का उल्लेख करते हुए लेखिका से कहता है, 'मैडम कभी महसूसा है आपने मरे हुए सपनों के साथ जीने की कसक को? कभी सुना है आपने उन जिंदगियों के निःशब्द क्रंदन को, अपना अंश-अंश दे चुकने के बाद भी जिनके खाते में नफरत, हिकारत और अविश्वास के सिवाय कुछ हाथ नहीं आता।'[4] वास्तव में नशा समाज में व्याप्त एक ऐसी बुराई है, जो समाज को धीरे-धीरे खोखला करती जा रही है। नशाखोरी परिवारों को जड़ से समाप्त कर दे रही है। बड़े-बड़े घराने नशे की चपेट में आकर नष्ट हो जाते हैं।

'पत्ताखोर' उपन्यास में लेखिका ड्रग के इतिहास को भी पाठकों के समक्ष रखती हैं, जहाँ ड्रग को रोकने के लिए नहीं वरन एक पूरे राष्ट्र को अफीमची बनाने के लिए युद्ध हुआ था। इंग्लैंड एक ऐसा तथाकथित सभ्य देश, कहते हैं, जिसके साम्राज्य का कभी सूरज तक नहीं डूबा ऐसे इस महान इंग्लैंड का अमानवीय चेहरा लेखिका ने उघाड़कर रख दिया। आज के अमेरिका की तरह तब के इंग्लैंड के लिए भी मानवता, समानता और भाईचारे का मतलब सिर्फ यूरोपीय समुदाय तक ही सीमित था। इसी के चलते उसने किसी को नहीं छोड़ा। 19वीं शताब्दी के पूर्वाह्न में विलायत ने चीन से सिर्फ इसलिए युद्ध किया कि चीन का तत्कालीन राजा अफीम के दुष्प्रभाव को देखते हुए नहीं चाहता था कि सर्वनाशी नशे की यह खपत उसके देश में दिन प्रतिदिन बढ़ती रहे और चीनी जनता अफीम के नशे में डूबी रहे। ईसा के जन्म के 6000 वर्ष पूर्व अफीम का इस्तेमाल मिडल ईस्ट में किया जाता था। अरब के व्यापारी इसे चीन और भारत में ले आए। एकदम शुरू में चीनियों ने इसे औषधि के रूप में इस्तेमाल किया। लेकिन यूरोप के व्यापारियों ने 1600 वीं शताब्दी के पूर्वाह्न में अफीम की नशीली सिगरेट को चीन में निर्यात करना शुरू किया। चीन की सरकार ने 1729 में इसे अवैधानिक घोषित कर दिया। लेकिन यूरोपियन व्यापारी लगातार चीनी सिल्क, चाय और दूसरे चीनी उत्पादों के बदले चीन में अफीम की स्मगलिंग करते रहे। 17वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अफीम चीन का एक सर्वव्यापक दुर्व्यसन बन गया। देश की चाँदी का विशाल भंडार अफीम की कीमत चुकाने में देश के बाहर खाली होता रहा। परिणाम स्वरूप चीन को विदेशी व्यापार के लिए बिछ जाना पड़ा और अफीम का धंधा आने वाले तीन दशकों तक दुगुने से ज्यादा उछल गया। धीरे-धीरे नशाखोरी की यह बीमारी अन्य देशों में भी फैलने लगी। इंग्लैंड की करनी का यह फल ही है कि आज उसकी पीढ़ी-खुले पब, खुली वेश्यावृति और नशाखोरी की तरफ अग्रसर होती जा रही है। भारत में कई स्थानों पर ड्रग से छुटकारा दिलाने के लिए रिहैबिलिटेशन सेंटर चलाया जाता है। ऐसे ही एक अंतराग्राम रिहैबिलिटेशन सेंटर में आदित्य की जीवन शैली एकदम ही बदल गई थी। शुरू-शुरू में वह सभी काम बड़े अनमने भाव से करता था पर धीरे-धीरे पिता के प्यार एवं साथी सहकर्मियों के सहयोग ने उसे सब कुछ करवा लिया और एक दिन ऐसा भी आया की उसने नशे को हमेशा के लिए अलविदा कर दिया।

आज का सच यह है कि कुछ स्वार्थी, लोभी और लालची लोग युवाओं का उपयोग बाजार के रूप में कर रहे हैं। उन्हें युवाओं के व्यक्तिगत चरित्र से कोई मतलब नहीं है। उन्हें मतलब है सिर्फ अपना सामान बेचकर मुनाफा कमाने से। भारत की पैंसठ प्रतिशत जनसंख्या की आयु पैंतीस वर्ष से कम है। आज भारत विश्व की जनसंख्या के हिसाब से सबसे युवा देश है। बाजार के दृष्टिकोण से यह किसी भी देश का लुभावना परिदृश्य हो जाता है। आज भारत की तमाम कंपनियों के आकर्षण का केंद्र है।

अपने व्यवसायिक हितों के लिए कंपनियाँ युवाओं को बलि का बकरा बना रही हैं। आज के युवा शार्टकट तरीकों से लंबी दूरी की दौड़ लगाना चाहते हैं। जीवन के सारे मूल्यों से 'अर्थ' उसे कहीं ऊपर नजर आता है। उपभोक्तावादी विचारधारा के अंधे कानून ने उसे भविष्यहीनता के गहन गर्त में धकेल दिया है। आज की युवा जीवन से

ज्यादा जीवन शैली को महत्व देते हैं। बढ़ते तनाव, संघर्ष और तेज गति की जीवन शैली के चलते युवा वर्ग युवावस्था में ही गंजेपन और नपुंसकता का शिकार हो रहे हैं। 'सूखते चिनार' उपन्यास के पात्र सिद्धार्थ की पत्नी सीमा एक प्रतिष्ठित बहुराष्ट्रीय कंपनी में उच्च पद पर कार्यरत थी। इसी प्रकार की अत्यधिक कृत्रिम और तेज जीवन शैली के चलते उसे तीस वर्ष की उम्र में ही 'मेनोपॉज' हो गया, जिसके चलते वह कभी माँ नहीं बन सकती। न्यूरोलॉजिस्ट ने बताया कि सैरीब्रलएट्रोजी का शिकार है। यानी उसके दिमाग की कोशिकाओं का क्षरण तेजी से हो रहा है। वास्तव में बढ़ते तनाव, अंध भोग एवं आधुनिक जीवन शैली के चलते युवक-युवतियाँ बड़े पैमाने पर इसका शिकार हो रहे हैं। युवाओं के संबंध में कृष्ण कुमार यादव अपना विचार रखते हुए कहते हैं, 'आज का युवा संक्रमण काल से गुजर रहा है। वह अपने बलबूते आगे तो बढ़ना चाहता है, पर परिस्थितियाँ और समाज उसका साथ नहीं देते। चाहे वह राजनीति हो, फिल्म और मीडिया जगत हो, शिक्षा हो, उच्च नेतृत्व हो, हर किसी ने उसे सुखी जीवन के सब्जबाग दिखाए और फिर उसको भंवर में छोड़ दिया। ऐसे में पीढ़ियों के बीच जनरेशन गैप भी बढ़ा है। समाज की कथनी और करनी में भी जमीन आसमान का अंतर है। एक तरफ वह सभी को डिग्री धारी देखना चाहता है और दूसरी ओर रोजगार भी मुहैया नहीं कराता। नतीजतन निर्धनता, महंगाई, भ्रष्टाचार इन सभी की मार सबसे पहले युवाओं पर पड़ती है।'[5]

मधु कांकरिया का मानना है, युवाओं के लिए समाज में एक प्रेरक एवं उत्साहवर्धक माहौल तैयार किए जाने की आवश्यकता है, जिसमें युवाओं की भागीदारी व्यापक पैमाने पर हो। उन्हें स्वयं इस विषय में जागरूक रहना होगा कि अपने निजी फायदे के लिए उन्हें कोई मोहरा ना बनाए। युवाओं की दिशाहीनता का कुचक्र युवा ही तोड़ सकते हैं। अपने सांस्कृतिक मूल्यों से जुड़े रहकर युवाओं को कुछ साहसिक योजनाएँ बनानी होगी और इन्हें क्रियान्वित भी करना होगा। यदि सही दिशा में इन योजनाओं का क्रियान्वय हुआ तो न सिर्फ दिशाहीनता, नशाखोरी का अंत होगा, बल्कि बेरोजगारी एवं आरक्षण का भी कोई कारगर उपाय निकलेगा।

संदर्भ :

1. युवा भारत वरदान या चुनौती, डॉ विनोद गब्बर, hindi.ibtl.in/column/1051/yuva-bharat-vardan-aur-chunauti
2. पत्ताखोर, मधु कांकरिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2005, पृष्ठ- 75
3. वही, पृष्ठ,72
4. और अंत में ईशु, मधु कांकरिया, किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006, पृष्ठ- 19
5. संक्रमण काल के दौर में युवा शक्ति, कृष्ण कुमार यादव, https://sites.google.com/site/narayankeal

सहायक प्राध्यापक

आर. के. तलरेजा महाविद्यालय, उल्हासनगर, जि. थाना, महाराष्ट्र

हिमांशु जोशी के उपन्यासों में प्रेम सम्बन्धों के विविध रूप

– डॉ. गजेन्द्र सिंह

प्रेम सम्बन्ध सबसे पवित्र सम्बन्ध है। इसमें ऊँच-नीच, अमीरी-गरीबी तथा सुन्दर-असुन्दर को महत्व नहीं दिया जाता बल्कि इसमें मन के भावों को महत्वता प्रदान किया जाता है। प्रेम सम्बन्ध कहीं भी कभी भी स्थापित हो जाता है। वर्तमान समाज में प्रेम सम्बन्ध जिस रूप में देखने को मिलते है, हिमांशु जोशी ने ठीक उसी प्रकार अपने उपन्यासों में उन्हें अभिव्यक्त किया है। इनके उपन्यासों में प्रेम सम्बन्धों के विविध रूप देखने को मिलते हैं।

हिमांशु जोशी का उपन्यास 'तुम्हारे लिए' पूर्णतः प्रेम सम्बन्धों पर आधारित है। इस उपन्यास की नायिका अनुमेहा है। वह अपने मामा के यहाँ रहकर अपनी पढ़ाई पूरी करती है। अनुमेहा को उपन्यास का नायक विराग शर्मा ट्यूशन पढ़ाता है और स्वयं भी कालिज में पढ़ता है। इस उपन्यास की नायिका अनुमेहा, नायक विराग शर्मा को बेहद प्यार करती है तथा अपने प्यार का इजहार भी कर देती है लेकिन नायक विराग, अनुमेहा को प्यार करते हुए भी कुछ उलझनों के चलते अनुमेहा की उपेक्षा करता है। परिणाम स्वरूप इन दोनों के बीच में कुछ गलत फहमियाँ उत्पन्न हो जाती है जिस कारण इनका आजीवन विवाह नहीं हो पाता। लेकिन फिर भी अन्त समय तक दोनों एक दूसरे को बेहद प्यार करते रहते हैं। अनुमेहा के प्रेम सम्बन्धों को इंगित करता एक उदाहरण द्दष्टव्य है- 'तुम्हें जैसे बिजली का तार छू गया था, 'नहीं-नहीं, ऐसा न कहिये।' आवेश में तुमने मेरा हाथ पकड़ लिया था, 'थोड़ी देर के लिए ही सही-एक बार अवश्य आइये। अपनी पढ़ाई भी जारी रखिए....।' पता नहीं अपनेपन के किस अधिकार से तुम यह कह गयी थी, मेहा ! मेरे जीवन में इस तरह की अनुभूति का यह पहला और अन्तिम अनुभव था। तुम्हें देखकर वासना नहीं, प्रेम नहीं, एक अलग ही तरह की अनुभूति होती थी। लगता था, तुम इस धरती की नहीं हो। इस धरती के लिए नहीं हो।'[1]

मेहा के प्रेम को इंगित करता एक अन्य उदाहरण और- 'तुम फिर कुछ लिखने में डूब गयी थी। कॉपी का पन्ना पलटते हुए उसी मन्द स्वर में तुमने फिर कहा था, 'आप दिन को ठीक ग्यारह बजे घड़ी देखना। उस समय मैं आपको हर रोज याद किया करूँगी।' तुम्हारी आवाज अतिरिक्त भावुकता से भर आयी थी। इतने भोलेपन से कहा था कि मैं अपनी हँसी रोक न पाया था।'[2]

प्रेम सम्बन्धों के क्रम में हिमांशु जोशी के उपन्यास 'छाया मत छूना मन' की नायिका वसुधा भी है। वह उपन्यास के नायक देवेन्द्र (देवेन) से बेहद प्यार करती है तथा देवेन भी उसे बेहद प्यार करता है। लेकिन घर की विपरीत परिस्थितियों के कारण वसुधा देवेन से विवाह नहीं कर पाती जबकि देवेन उससे विवाह करने के लिए प्रतीक्षा भी करता है। वसुधा व देवेन के प्रेम सम्बन्धों को इंगित करता एक उदहारण देखने योग्य है- यथा 'शादी करनी होती तो फिर तुम्हें ही क्यों इनकार करती? तुम जैसा लाइफ-पार्टनर मुझे

सात जनम में भी नहीं मिल सकता, मैं जानती हूँ देवेन!' वसुधा ने उसके सीने पर माथा टिका दिया, 'अब अगले जनम में....!' गीली पलकें मरी हुई तितलियों की तरह उसके चौड़े सीने पर कहीं चिपक गयीं।'[3]

इसी प्रकार हिमांशु जोशी के उपन्यास महासागर की नायिका दीप 'दी' है जो घर से उपेक्षित होने के बाद अध्यापन कार्य करके जीवन यापन करती है और उपन्यास के नायक साकेत की हर प्रकार से सहायता करती है। दीप धीरे-धीरे साकेत के बहुत नजदीक आ जाती है और उसे प्यार करने लगती है। लेकिन अपनी उम्र की अधिकता के कारण उससे अपने प्यार का इजहार नहीं कर पाती। दूसरी तरफ साकेत इस प्यार को बहन का प्यार समझकर इसके प्रति गम्भीर नहीं होता और दूसरी जगह शादी कर लेता है। परिणाम स्वरूप दीप अविवाहित रहकर साकेत की अन्तिम निशानी (साकेत के पुत्र) को पालती है। दीप के प्रेम सम्बन्ध को इंगित करता यह उदाहरण देखने योग्य है- 'दीप चलती-चलती जैसे ठिठक जाती है। शीशे के सामने पता नहीं कब से बैठी है! सूखे बाल धुनी हुई काली रूई की तरह बिखरे हैं। वह गिन-गिनकर सफेद बालों को नोच रही है। दो अंगुलियों के बीच दबे चांदी की तरह चमकीले बालों को देखती है। उसे लगता है पिछले कुछ ही दिनों में उसकी उम्र कितनी बढ़ गई है! इतनी लंबी अवधि में साकेत के कुल तीन पत्र मिले हैं। केवल गिनी-चुनी बारह पंक्तियाँ। शायद वह कुछ और सोचती थी। शायद वह कुछ और चाहती थी। शायद.....जैसे सीढ़ियों से ऊपर चढ़ते-चढ़ते किसी ने घसीटकर नीचे ला खड़ा किया हो।'[4]

महासागर उपन्यास की पात्र दीप के अलावा नीना भी ऐसी पात्र है जो उपन्यास के नायक साकेत के व्यवहार से प्रभावित होकर उसे प्यार करने लगती है। नीना एक आदिवासी लड़की होते हुए भी सामान्य क्षेत्र के व्यक्ति साकेत के भावों को समझती है। एक उदाहरण द्दष्टव्य है जो नीना के प्रेम सम्बन्ध को इंगित करता है- 'अरी, मैं कह रहा हूँ - सो जाओ!' वह हाँफने लगता है। वह पत्थर की तरह निश्चल खड़ी रहती है। दूर जाने के बदले और पास आती है। कुछ और पास। पाँवों के पास धरती पर बैठती है और चारपाई की पाटी पर माथा टिका देती है।'[5]

इसी प्रकार हिमांशु जोशी के उपन्यास अरण्य की नायिका कावेरी है जो मानिक से बेहद प्रेम करती है। बचपन से ही मानिक की यादों को अपने दिल में संजोकर रखती है। लेकिन परिस्थितियोंवश उसका विवाह मानिक से नहीं हो पाता और मानिक भी अविवाहित रहकर कावेरी के प्यार के सहारे अपनी जिन्दगी देश के नाम कर शहीद हो जाता है। एक उदहारण द्दष्टव्य है जो कावेरी के प्रेम सम्बन्धों को इंगित करता है- 'कव्वी!' कावेरी के बिखरे बालों को सहलाता, भर्राई आवाज में बोला, 'तू रोती है!' 'ना।' उसके सीने पर कावेरी निढाल ढुलक पड़ी। आँखों का रुका बाँध टूटकर तेजी से छलकता-छटपटाता बह निकला, जिसमें मानिक डूब गया। कावेरी डूब गई। सारा अग-जग, सारा ब्रह्माण्ड डूब गया। 'कावेरी!'[6]

इन सब नारी पात्रों के अलावा कल्पना, मिसेज दत्ता, खगेन की बहन, गर्विता आदि भी ऐसी पात्र है जो अपने प्रेम सम्बन्धों में असफल रही है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात यह सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान नारी के प्रेम सम्बन्धों

की तरह ही लेखक ने अपने उपन्यासों की नारी के प्रेम सम्बन्धों को उजागर किया है। जिस प्रकार वर्तमान नारी अपने प्रेम सम्बन्धों को उनकी परिणति तक नहीं पहुँचा पा रही है, ठीक उसी प्रकार लेखक की सभी नारी पात्र अपने प्रेम सम्बन्धों को उनकी परिणति तक नहीं पहुँचा पाती है।

हिमांशु जोशी के उपन्यासों की नारी, जहाँ एक तरफ प्रेम सम्बन्ध को प्राप्त नहीं कर पाते वहीं दूसरी तरफ नारी के अनैतिक यौन सम्बन्ध अपनी परिणति को प्राप्त कर लेते है। वर्तमान समाज की तरह ही हिमांशु जोशी के नारी पात्र हैं जो आधुनिकता की चमक-दमक के परिणाम स्वरूप अनैतिक यौन सम्बन्ध स्थापित करने में नहीं हिचकिचाते।

आपके उपन्यास 'छाया मत छूना मन' की पात्र परवीन कौर इसी तरह की पात्र है जिसके कई पर पुरुषों के साथ यौन सम्बन्ध हैं और अपने पति के प्रति उसे कोई लगाव नहीं है। इतना ही नहीं परवीन कौर अपनी पुत्रियों को भी अपनी तरह ही बनाना चाहती है, परिणाम स्वरूप उसकी छोटी बेटी कंचन पर इसका प्रभाव भी पड़ता है। परवीन कौर के अनैतिक यौन सम्बन्धों को इंगित करता यह उदाहरण दर्शनीय है- 'हालात धीरे-धीरे यहाँ तक पहुँच गये कि जाड़ों की ठण्डी-ठिठुरती रात, बाहर सीढ़ियों पर बैठा-बैठा गुजार देता बिशनदास। भीतर उसके बिस्तरे पर कोई और सोया होता। इसी बीच बिशनदास का एक बच्चा हुआ, जो बिल्कुल भी उससे मिलता-जुलता न था। लोग कहते-किसी और का है।'[7]

माँ परवीन कौर की तरह ही उसकी छोटी बेटी कंचन भी अनेक युवकों के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित करती है। जिसके कारण उसको गर्भ भी ठहर जाता है। कंचन के अनैतिक यौन सम्बन्धों को उजागर करता यह उदाहरण देखने योग्य है- 'पिछली बार अपनी किसी सहेली के साथ रात को मोदीनगर जाने की बात कह गयी थी, लेकिन बाद में पता चला-उस रात जनपथ के किसी होटल में थी...। न पैसे ले गयी, न कपड़े। माँ सारा दिन चीखती-चिल्लाती रही। उनसे खाना तक नहीं खाया गया। तीसरे दिन सुबह वह घर लौटी तो अजब रूप था, अजब रंग। चेहरा एकदम उतरा हुआ। आँखें जैसे नशे में लाल हों। कपड़े अस्त-व्यस्त! चुपके से वसुधा ने उसके पर्स में झाँका-नये नोट यों ही भरे पड़े हैं। सौ-दो सौ से कम क्या होंगे!'[8]

हिमांशु जोशी के उपन्यास 'तुम्हारे लिए' की पात्र मिसेज दत्ता अपने प्रेम सम्बन्धों में असफल होने के बाद पर पुरुषों से यौन सम्बन्ध स्थापित करती है। वह अपने पति डॉक्टर दत्ता से भी सन्तुष्ट नहीं होती इसलिए वह सुहास नामक युवक से यौन सम्बन्ध स्थापित करती है तथा उपन्यास के नायक विराग शर्मा से भी यौन सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करती है। मिसेज दत्ता व सुहास के अनैतिक यौन सम्बन्धों को उजागर करता यह उदाहरण देखने योग्य है- 'तभी मैंने देखा-भीतर से जल्दी से द्वार खुला। अपने अस्त-व्यस्त कपड़े संभालता हुआ सुहास, तीर की तरह बाहर निकल गया था। मैं भीतर पहुँचा तो तुम्हारी आंटी पलंग पर पसरी अपने बिखरे हुए वस्त्र ठीक कर रही थीं।'[9]

इसी प्रकार हिमांशु जोशी के उपन्यास 'सु-राज' के पात्र मानबहादुर की पत्नी है जो पर पुरुषों के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित करती है। इन यौन सम्बन्धों को इंगित करता एक उदाहरण द्दष्टव्य है- 'आग बुझने पर तनिक सर्दी-सी लगी तो सहसा उसकी नींद

उचट गई थी। उसने देखा था-एक कोने पर बिछी फटी चटाई पर माँऔर देवी गुरंग, एक ही पंखी में लिपट कर सो रहे हैं- एक होकर। ऐसे ही मामा-मामी को भी उसने देखा था- कई बार-कठबाड़े की दीवार की दरार से.....'[10]

हिमांशु जोशी का उपन्यास 'समय साक्षी है' भी अनैतिक यौन सम्बन्धों को नये-नये दृष्टिकोण से उजागर करता है। इस उपन्यास की पात्र चन्द्रा भी एक ऐसी युवती है जो आधुनिकता के लिबास में लिपटी हुई पर पुरुषों से यौन सम्बन्ध स्थापित करती है। इसके यौन सम्बन्धों के बारे में जब घर के नौकर मीत सिंह को पता चल जाता है तो वह उस नौकर को मुँह बन्द रखने के लिए नोटों के बन्डल थमा देती है। एक उदाहरण दृष्टव्य है जो चन्द्रा के अनैतिक यौन सम्बन्धों को उजागर करता है- 'साहब की बड़ी लड़की चन्द्रा उस पर बड़ी मेहरबान थी। ससुराल जाते समय नोटों का बण्डल थमा जाती थी। परिवार के ही किसी सदस्य से उसके अंतरंग सम्बन्धों का पता सम्भवतः मीत सिंह को चल गया था। रंगे हाथों एक दिन उन्हें अंधेरे में पकड़ लिया था। इसके बदले उसने हर तरह का फायदा उठाया था, यहाँ तक कि.....।'[11]

इसी प्रकार इसी उपन्यास की पात्र मेघना है जो मंत्री बनने के सपने देखकर संसद सदस्य तिमिर वरन से लगातार यौन सम्बन्ध बनाती रहती है। जबकि बाद में उसका विवाह भी हो जाता है लेकिन वह फिर भी अपने पति की बातों को न मानते हुए तिमिर की बांहों में ही सोती है। एक उदाहरण दृष्टव्य है जो इंगित करता है मेघना व तिमिर के अनैतिक यौन सम्बन्धों को- 'दो वस्त्रविहीन प्रतिमाएँ एक-दूसरे से जुड़ी थीं। पलंग के ठीक ऊपर, दीवार पर राष्ट्रपिता का विशाल तैल-चित्र एक ओर सरक गया था। उसके भीतर गुप्त अलमारी में बहुत-सी रंग-बिरंगी बोतलें बाहर-बाहर झाँक रही थीं। दरवाजा खुलने की आहट पाते ही प्रतिमाओं का रंग उड़ गया और वे भी क्षण-भर के लिए निष्प्राण पत्थर बन गई.....।'[12]

उपर्युक्त पात्रों के अलावा भी मिस माखेजानी, गोदावरी, अन्नदा, कल्पना दत्ता, गोदलि, मिस विमला आदि नारी पात्रों के अनैतिक यौन सम्बन्ध देखने को मिलते हैं। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि हिमांशु जोशी के उपन्यासों में नारी के अनैतिक यौन सम्बन्ध प्रमुख रूप से उजागर हुए है। जो वर्तमान समाज का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। साथ ही नारी के मनोविज्ञान को भी इंगित करने में सहायक सिद्ध होते है।

संदर्भ :

1. हिमांशु जोशी, तुम्हारे लिए, पृ.सं. 16, 2. वही, पृ.सं. 19, 3. हिमांशु जोशी, छाया मत छूना मन, पृ.सं. 36, 4. हिमांशु जोशी, महासागर, पृ.सं. 67, 5. वही, पृ.सं. 84, 6. हिमांशु जोशी, अरण्य, पृ.सं. 110, 7. हिमांशु जोशी, छाया मत छूना मन, पृ.सं. 26, 8. वही, पृ.सं. 28, 9, हिमांशु जोशी, तुम्हारे लिए, पृ.सं. 76-77, 10. हिमांशु जोशी, सु-राज, पृ.सं. 82, 11. हिमांशु जोशी, समय साक्षी है, पृ.सं. 19, 12. वही, पृ.सं. 82।

असि. प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय लक्सर, हरिद्वार, उत्तराखण्ड

महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में नारी पात्रों का मातृत्व के प्रति द्वन्द्व का चित्रण

- डॉ. झेलम झेंडे

'मातृत्व' एक ऐसा शब्द जो हर नारी के व्यक्तित्व को नये आयाम प्रदान करता है। महिला उपन्यासकारों की लेखनी का कौशल उसके इस पक्ष की ओर भी गया। सर्वप्रथम उसे अपना भविष्य (कैरियर) सँवारना था, तो दूसरी ओर कैरियर बनने के बाद के खालीपन को भरना था और इसी प्रक्रिया में उसके भीतर उपजा मातृत्व के प्रति द्वन्द्व। अपनी इस शाश्वत रचना प्रक्रिया में शामिल होकर नारी कहीं अपने अस्तित्व का बोध करना चाहती है, तो कहीं-कहीं मातृत्व को लिजलिजी पुरूष परम्परा का प्रतीक मानकर एक सिरे से खारिज कर देती है।

आज की व्यस्त भागदौड़ भरी जिन्दगी, भौतिक सुविधाओं की ललक, स्वचेतना, सामाजिक मूल्यों का विघटन, वूमेन लिब (नारी मुक्ति) ने पारम्परिक समाज की रूपरेखा को बहुत हद तक बदल दिया है। अपनी देह को अपने अधिकार में लेकर, इन महिला उपन्यासकारों (चित्रा मुदगल, प्रभा खेतान, मृदुला गर्ग, राजी सेठ, ममता कालिया, मन्नू भंडारी ....) की नारी पात्र अपनी रचनाशीलता का मुकाम मातृत्व में पाती हैं। वैवाहिक निष्ठा, नारी कौमार्य, यौन नैतिकता जैसे उपादानों से दूर अपनी स्वतंत्र सत्ता में अपना निहित खोजती ये नारी पात्र सामाजिक व्यवस्था पर प्रश्न चिह्न खड़े कर रही है।

भारत की सभ्यता के विकास क्रम में सिन्धुघाटी की सभ्यता में मातृ सत्तात्मक व्यवस्था थी, जहाँ मातृ देवी की विभिन्न प्रकार से पूजा की जाती थी स्मृतिकार मनु ने भी कहा है- ब्रह्मा ने स्त्रियों की रचना गर्भधारण के लिये की है। इस कथन का निहितार्थ भी यही निकलता है कि सन्तानोत्पत्ति अनिवार्य है। नारी प्राकृतिक रूप से भावना प्रधान होती है और फिर अपने द्वारा जन्मे शिशु से उसकी ममता स्वंय सिद्ध है। नारी का पूरा जीवन शिशु को जन्म देकर उसे पालपोसकर बड़ा करने और उसके हर छोटे-बडे.सुख को अपना मान लेने में ही व्यतीत हो जाता है। सृष्टि का विकासक्रम इसी आधार पर चलता रहा है, पर अब नारी चेतना के धरातल पर आये व्यापक परिवर्तनों ने नारी को अपने बारे में ठहकर सोचने पर मजबूर कर दिया है, इतिहास या साहित्य में उसके मातृत्व को लेकर जो कुछ भी कहा गया। वह उस पर अपनी दृष्टि से विचार करना चाहती है, जैसे- प्रख्यात कथाकार जैनेन्द्र कुमार ने स्त्री के मातृत्व के सम्बन्ध में कहा था- 'स्त्री की सार्थकता मातृत्व है' और जब वे ऐसा कहते हैं, तो उसके पीछे नारी दृष्टि नहीं, बल्कि पुरुष दृष्टि काम कर रही होती है। पुरुष लेखकों की कलम से निःसृत साहित्य और उनसे प्रेरणा प्राप्त महिला लेखिकाओं का साहित्य मातृत्व के बिना स्त्री जीवन को अपूर्ण मानता है।

प्रेमचन्द, शरतचन्द्र, जैनेन्द्र कुमार सभी महान् लेखकों का साहित्य यही व्यक्त करता है, पर 20 वीं सदी के उत्तर्राद्ध में उग्र नारीवाद ने जन्म लिया, तब से मातृत्व की परिभाषा ही बदल गयी। कथाकार कवयित्री अर्चना वर्मा के शब्दों में- मातृत्व स्त्री को

प्राकृतिक रूप से उपलब्ध सार्थकता का एक सहज अवसर है, पर स्वाधीन स्त्री के लिए यह न केवल कैरियर में बाधक, अनावश्यक सिरदर्द, बल्कि पराधीनता की कुंजी है। मातृत्व के अनेक पक्ष महिला उपन्यासकारों की लेखनी का हिस्सा बने। कभी मातृत्व महिमामंडित हुआ, तो कभी एक सिरे से उसे नकार दिया गया।

मन्नू भंडारी की कृति 'आपका बंटी' नायिका शकुन के इसी द्वन्द्व को सटीक अभिव्यक्ति प्रदान करता है। पति-पत्नी के मध्य तलाक की स्थिति उत्पन्न होने पर बेटे-बंटी पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। शकुन जब तक अपनी इच्छाओं को दफन किए रहती है, तब तक वह ममतामयी माँ से अभिषिक्त होती है, पर डॉ. जोशी से पुनर्विवाह के बाद शकुन की स्थिति अपराध बोध से भरी उस स्त्री की हो जाती है, जो न केवल बेटे की नजर में अपितु समाज की नजरों मे भी अपराधी सिद्ध की जाती है- 'जवानी यों ही अंधी होती है बहू, फिर बुढ़ापे में उठी हुई जवानी महासत्यानाशी साहब ने जो किया तो आपकी मट्टी-पलीद हुई और अब आप जो कर रही हैं, इससे बच्चे की मट्टी-पलीद होगी'[1] इस उपन्यास में सबकी सहानुभूति बंटी के साथ हैं पर शकुन की इच्छाओं कामनाओं का क्या.....? बंटी के बडे.होने पर शकुन की क्या उपयोगिता रहती? ऐसे तमाम तरह के प्रश्न उठते हैं।

नारी के मातृत्व के प्रति इसी द्वन्द्व को दर्शाती प्रभा खेतान की लेखनी उनके उपन्यास 'आओ पेपे घर चलें' में नायिका प्रभा कैथी के बारे में सोचती है- 'वह अपने में मगन। बच्चा नहीं चाहिए। आपकी अपनी ज़िन्दगी बच्चे के लिए आहुति हो जाती है।'[2] कैथी एक स्वतन्त्रा विचारधारा वाली युवती है, जो वही, सब करना चाहती है, जो उसका मन होता है, इसी प्रक्रिया में वह कोई जिम्मेदारी भी ओसे बच्चा नहीं संभलेगा। बेबी सीटर पर पलने से अच्छा है, पैदा मत करो।'[3] कैथी न केवल दायित्व बोध से बचना चाहती है, बल्कि उसे मातृत्व जीवन की सार्थकता प्रतीत नहीं होती है प्रभा (नायिका) के यह पूछने पर कि- 'माँ बनने की इच्छा नहीं होती'[4] नायिका का यह आग्रह कुछ उसके भारतीय संस्कार तथा कुछ कैथी के वैवाहिक जीवन की नीरसता को देखकर है पर कैथी आक्रोश में उसका प्रत्युत्तर देती है- 'क्या बकवास कर रही हो? बच्चा मेरी जिन्दगी को सार्थक बना देगा? वह तो केवल मेरी जिन्दगी के और बीस वर्ष खा जायेगा और उसके बाद कोई नहीं रहेगा। वह घर छोड़कर पता नहीं कहाँ किस जगह .....।'[5] कैथी के उपरोक्त कथन में सत्य का वह अंश है जो हर नारी की नियति बन जाता है। अपने शिशु को पाल-पोसकर बड़ा करती नारी शिशु के वयस्क होने पर उपेक्षित करार दी जाती है।

प्रभा खेतान का ही दूसरा उपन्यास 'छिन्नमस्ता' नायिका प्रिया के मातृत्व के प्रति द्वन्द्व को उसकी विचारधारा के माध्यम से प्रकट करता है। प्रिया समाज की जर्जर मान्यताओं और पुरुष की कामलिप्सा से शोषित हो अपनी जीवन-यात्रा को अकेले तय करने का निश्चय करती है। पर यहाँ प्रश्नचिह्न के रूप में उसका बेटा संजू है? प्रिया स्वयं को अच्छी माँ नहीं मानती पर अच्छी माँ होने के लिए उसके भीतर कोई छटपटाहट या बैचेनी भी नहीं है। वह बच्चे के विरुद्ध नहीं है, पर मातृत्व के लिए कोई हाहाकार भी नहीं हैं। एक से तरह से उसका यह मातृत्व के प्रति अस्वीकार भाव ही है वह कहती है- 'बच्चा

खालीपन को कितने वर्ष भरता है। पाँच वर्ष, दस वर्ष..... अपनी माँ से पायी तल्खी ही शायद प्रिया को मातृत्व के भ्रम को तोड़ने में मद्दगार सिद्ध होती है।'[6] पुरुष से अधिक पूँजी कमाकर विवाह संस्था से बाहर अपनी पहचान बनाने में लगी हुई प्रिया के लिए मातृत्व बेड़ी ही साबित होगा वह खुद कहती है- 'मैं संजू के सहारे जिन्दगी नहीं बिता सकती न ही पति या बेटा या प्रेम ही ज़िन्दगी के सहारे हो सकते है।'[7] प्रिया की यही विचार धारा उसे उन सभी स्त्रियों से अलग ला खड़ा करती है, जो मातृत्व में ही अपनी सार्थकता तलाशती पिफरती है। 'उस बच्चे को हम बड़ों ने कौन-सा मूल्यबोध दिया? मातृत्व के झूठे गौरव को महिमा मंडित करने की मेरी इच्छा नहीं हुई।'[8] प्रिया का यह भाव नारी की बदलती चेतना का ही प्रकटीकरण है, जो अपनी पहचान स्थापित करने में लगी हुई है। प्रिया यहाँ स्वयं को निर्दोष सिद्ध करती हुई लगती है कि वह मातृत्व को अस्वीकृति नहीं दे रही। बल्कि संजू के पालन-पोषण को ही जिम्मेदार ठहरा कर स्वयं को निर्दोष सिद्ध कर रही है- 'दादी की अत्यधिक ममता लाड़ दुलार, पगडंडियों पर चलते हुए मेरे लहुलूहान कदमों के पीछे संजू के कोमल कदम नहीं चल सकते थे। उन कदमों को राजमार्ग पर चलने की आदत पड़ गयी थी विरासत में केवल धन नहीं मिलता। स्वभाव भी मिलता है।'[9] ऐसा कहकर प्रिया अपने दायित्व ही नहीं, बल्कि मातृत्व के प्रति अस्वीकार को सबके समक्ष स्वीकारने से भी छुटकारा पा लेती है।

महिला उपन्यासकारों के नारी पात्रा कहीं मातृत्व को अस्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं, तो कहीं मातृत्व के बिना उन्हें अपना जीवन आधारहीन लगता है और 'बाँझ' जैसे शब्द उसे शूल की तरह लगते हैं। एक नन्हें शिशु को देखकर हर स्त्री अपने भीतर कुछ टटोलने लगती है। नारी अपनी समरूपा सन्तान को जन्म देकर अपनी ही दृष्टि में कुछ ऊँची हो जाती है। एक सामान्य से सामान्य स्त्री भी जिसके पास न शैक्षिक आधार होता है और न ही आर्थिक। माँ बनने पर गौरव की एक अनुभूति की यात्रा करती है। सृजन का सुख उसके जीवन के समस्त अभावों की पूर्ति करता प्रतीत होता है।

मृदुला गर्ग के उपन्यास 'कठगुलाब' की यही समस्या है कि उसकी नारी पात्राएँ माँ बनना चाहते हुए भी, बन नहीं पाती। इस उपन्यास के सभी पात्रों के लिए विवाह संस्था समाप्तप्राय है। इसकी कोई भी पात्र माँ नहीं बन पाती। और नायक पिता बनना चाहते हुए स्त्री भी नहीं बन पाता। इस तरह यह उपन्यास बाँझ औरतों की कथा है चाहे वह स्मिता, मारियान, असीमा, नर्मदा और नीरजा हो। स्मिता जीजा द्वारा बलात्कार की शिकार होकर घर से भागकर अमेरिका में शरण लेती है, पर वहाँ भी दुर्भाग्य उसका पीछा नहीं छोड़ता। मनोचिकित्सक जिम जारविस से विवाह करती है, पर वह स्मिता को पागल करार दे उससे तलाक ले लेता है। इसी मध्य स्मिता का उसकी हिंसक चोटों से गर्भपात हो जाता है- 'मैं जारविस को अपना खून माफ नहीं करूँगी। मेरा शरीर जीवित बच गया, तो क्या मेरी रूह तो मर गयी। मेरा बच्चा, मेरी रूह की परछाई, मेरा अजन्मा, इकलौता बच्चा, मेरी देह का रोम-रोम चीखे मार रहा था, पर मैं उन्हें मुँह से बाहर नहीं निकलने दे रही थी।'[10]

गर्भपात के बाद स्मिता पिफर कभी माँ नहीं बन पाती। और मातृत्व का मोह उसे कभी सामान्य भी रहने नहीं देता। मारियान इस उपन्यास की एक और स्त्री पात्र है। वह

इर्विंग (रचनाकार) से शादी करती है, पर उसके द्वारा भावात्मक ठगी का जब उसे बोध होता है, तब तक उसके हाथ से बहुत कुछ निकल चुका होता है। इर्विंग से तलाक के बाद वह दूसरा विवाह करती है। और फिर से उसके भीतर मातृत्व की चाह जन्म लेने लगती है- 'दूसरी शादी करते ही, मैंने सरेआम ऐलान कर दिया था कि अतीत की हताशा, कुंठा आदि से छुटकारा पाने के लिए मैं एकदम घिसा-पिटा नुस्खा अख्तियार करने वाली हूँ। वही, दनादन बच्चे पैदा करने का। मेरा इरादा पाँच साल में तीन बच्चों को जन्म देने का था'[11] पर मारियान अपने इरादे को मूर्त रूप नहीं दे पाती। क्योंकि जब भी उसके भीतर मातृत्व के चिह्न उपस्थित होते हैं उसका गर्भपात हो जाता। बार-बार गर्भपात होने से मारियान की मातृत्व की चाह और अधिक जोर मारने लगती है- 'उसे प्राप्त करने से पहले मुझे एक बच्चा चाहिए था। अब और भी, जब मेरे गर्भ में एक नहीं चार बच्चे हलाक हो चुके थे।'[12] मारियान बार-बार गर्भधारण करने के बावजूद माँ नहीं बन पाती। बच्चा गोद लेना चाहती है पर ले नहीं पाती। क्योंकि उसका दूसरा पति गैरी छोटे-बच्चे बर्दाश्त नहीं कर पाता और अमेरिकी कानून मारियान को बिना पिता के बच्चा गोद लेने की इजाजत नहीं देता। मारियान का गर्भाशय फारब्रायड्स से इतना भर चुका था कि उसमें किसी शिशु के आने का कोई अवसर न था। ऐसे में चालीस पार की मारियान को गर्भाशय ही निकलवाना पड़ता है पर माँ बनने की चाहत उसके मन में स्थायी भाव जमा लेती है, जिसे वह स्मिता के समक्ष कुछ इस प्रकार व्यक्त करती है- 'मुझे खुद का अपना बच्चा चाहिए। मैं उसे अपने आँगन में खेलता-बढ़ता देखना चाहती हूँ। हाँ, मैं एकदम पारम्परिक जाहिल, गँवार, प्राकृत औरत हूँ ..... मैं चिल्ला-चिल्ला कर कहती हूँ, मैं एक बच्चा पालना चाहती हूँ, मैं उसका पहला शब्द सुनना चाहती हूँ।'[13] यहाँ तक कि वह बच्चे के लिए सभी जिम्मेदार लोगों को मापफ तक कर देने के लिए तैयार है- '.. .. मैं पालना-पोसना, सहेजना-सँवारना चाहती हूँ। मैं सर्जक होना चाहती हूँ। .....बस एक बच्चा मिल जाए, तो मैं सबकुछ माफ कर दूँ।'[14] वही, नर्मदा निम्न वर्गीय अशिक्षित स्त्री है, पर वह भी उसी सनातन चाह (मातृत्व) से ग्रसित है, जिसके चलते वह दूसरे पुरुष से सम्बन्ध बनाने में भी नहीं हिचकती पर फिर भी माँ नहीं बन पाती। 'किस्मत मेरी न मर्द मिला, न बालक। दो साल में जने कित्ती बार वो, मेरा भर्तार साथ रह लिया पर एक बार जो कोख हरी हुई हो। एक बालक हो जाता तो आज अपना कहने को कोई होता।'[15] नर्मदा, स्मिता, मारियान और यहाँ तक कि इस उपन्यास की सर्वाधिक दबंग स्त्री पात्र असीमा भी मासिक धर्म शेष रह जाने की आयु में माँ बनने की चाह में विपिन (मुख्य पात्र) से सम्बन्ध बनाती है पर परिणाम .....? मारियान और ये तीनों औरतें (अस्मिता, नर्मदा, असीमा) अपनी बंजर होती कोख के लिए रूदाली की भाँति बस हाहाकार कर सकती हैं। नर्मदा कहती है- 'बात है बीबी। बाँझ औरतों को रोना जरूर चाहिए। ना रोओं तो अगले जन्म में भी कोख वीरान जावे है।'[16] 'चुप करेगी कि नहीं। 'मैंने (असीमा) उसे फटकारा जरूर पर जाने क्या हुआ कि हम तीनों औरते फूट-फूट कर रो दी।'[17] यह उपन्यास मातृत्व की चाह लिए बौद्धिक स्त्रियों का करूण क्रंदन है और उपन्यास का नाम इसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति भी देता है- 'कठगुलाब'।

चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'एक जमीन अपनी' नायिका अंकिता के लिए अपने व्यक्तित्व की रचना प्रक्रिया है। पति सुधांशु के साथ असहज हुए संबंध माँ बनने के उसके अधिकार का हनन करते हैं। गर्भ में ही बच्चे की मृत्यु अंकिता की गहन पीड़ा का कारण बनती है। वही, सुधांशु के हिंसक वाक्य उसे तीखी चोट पहुँचाते हैं। सुधांशु ने कहा था- 'अच्छा हुआ जो हमारा बच्चा जीवित नहीं रहा, नहीं तो ताउम्र वह मुझे तुमसे जोडे.रहता। कुरेदता रहता कि तुम मेरे बच्चे की माँ हो.....।'[18] प्रत्युत्तर में अंकिता भी कम मर्मभेदक नहीं है पर यह मातृत्व के प्रति उसका अतिरिक्त मोह ही है कि वह शिशु को पति-पत्नी के प्रेम का प्रतीक मानती है- 'मेरे लिए भी उसका मरना मेरी जिन्दगी से तुम्हारा निष्कासन है..... वरना उसकी शक्ल में जिन्दगी भर मुझे तुमको ढ़ोना पड़ता क्योंकि वह हमारा बच्चा नहीं था.. तुम्हारी कामुकता का परिणाम था।'[19]

सुधांशु को कटु वाक्य कहती हुई यही अंकिता हरीन्द्र नामक मित्रा से उसके बेटे का नामकरण करती हुई कहती है- 'अंशुल, यह मेरे अजन्मे बेटे का नाम है हरीन्द्र।'[20] और फिर अपनी गहरी दोस्त नीता की नवजात बेटी को हाथ में लेते हुए अंकिता की ममता उभरकर सामने आ जाती है- 'गुलाबी ऊन के नर्म गुलगुले गोले-सी बच्ची आँखे भींचती खोलती, बेदुर काढ़ती कसी होने बावजूद अलसाहट तोड़ती सिर पर पोरभर रेशम से काले-काले बाल।'[21]

राजी सेठ का 'निष्कवच' का दूसरा वृतान्त का नायक अपनी माँ और पत्नी बनाम प्रेयसी मार्था से प्रभावित है, पर वह प्रेयसी से आक्रान्त भी है और माँ से गहरे जुड़े हुआ। अमेरिका में मार्था के साथ रहने के बाद भी माँ के साथ उसका निरन्तर पत्राचार चलता रहता है और वह माँ के पत्रा में डूबा मार्था के पार्टनर राबर्टस से कह उठता है- '.... संसार की ऐसी कोई किताब नहीं होगी, जहाँ माँ दर्ज न हुई हो, क्योंकि माँ व्यक्ति नहीं, सनातनता है। शी इज ए टाइमलेस कान्सेप्ट। तभी तो वह सब को ऐसी ही लगती है। एक जैसी शी एक्साइट्स द सेम फीलिंग्स एवरी व्येहर।'[22] माँ के मातृत्व से रीझा यह नायक मार्था में भी माँ को ही तलाशता रहता है।

ममता कालिया के उपन्यास एक पत्नी के नोट्स की नायिका कविता अपने आई.ए.एस. पति संदीप से इतना आक्रान्त है कि उससे अपनी माँ बनने की चाह प्रकट नहीं कर सकती, पर उसके भीतर बैठी माँ शिशु को पति-पत्नी के मध्य का सेतु स्वीकार करती है- '.... कविता के मन से कई इच्छाएँ अपने नन्हे-नन्हें नरम हाथ-पाँव ऊपर उठाने लगती उसे लगता उन दोनों के बीच एक प्यारा शिशु अगर आ जाये तो जीवन का यह अमृत कुछ किनारे तक भर जाये।'[23]

'आवाँ' चित्रा मुद्गल द्वारा रचित एक ऐसा उपन्यास है जिसमें नायिका, नमिता की माँ एक ऐसी माँ का प्रतिनिधित्व करती है, जिसके लिए नमिता आँख की किरकिरी है। पूर्णतः अवांछित, नमिता के साथ मारपीट से भी बाज नहीं आती नमिता के परिवार में उसके लकवाग्रस्त पिता है। माँ श्रमजीवा संस्था में पापड़ बेलकर पफुटकर कमाई करती है। नमिता को भी माँ के संग श्रमजीवा जाना पड़ता है पर मैडम अंजना वासवानी से मुलाकात नमिता की उर्ध्व यात्राओं का कारण बनती है, पर माँ की अवाँछना- 'श्रमजीवा निकलने से पूर्व पच्चीसों बार आईना देखने की शौकीन माँ कभी अपने चेहरे पर गौर

क्यों नहीं करती कि अपनी औलादों के लिए वे उस जर झोंसी औरत का चेहरा क्यां पहन लेती है?'[24] छिन्नमस्ता उपन्यास की प्रिया का बालमन माँ की उपेक्षा से उपेक्षित है जो दाई माँ की गोद में शरण ढूँ अपनी माँ की न गोद याद है न उसका कोई स्पर्श, मेरा नाम ही था दाई की बेटी, वैसी ही काली।'[25] माँ का कोई स्पर्श प्रिया को याद न रहना इस बात को पूर्णतः सिद्ध करता है कि वह किस हद तक माँ के लिए अवांछनीय थी। पिता का स्नेह प्रिया को मिला पर माँ की उपेक्षा पिता के स्नेह से कही अधिक बड़ी थी- 'बाबूजी मुझे गोद में लेकर अम्मा को बगल में लिटा गये। मुझे अम्मा का चिल्लाना याद आ रहा है, ओ हो। एक तो मैं ऐसी ही मरी जा रही हूँ और दूसरे इसको मेरी छाती पर लाद गये।'[26] पिता का स्नेह भी प्रिया के साथ अधिक समय तक नहीं रहता। जब वह केवल नौ वर्ष की थी तभी उसके पिता की हत्या हो जाती है और वह पितृत्व स्नेह से भी वंचित रह जाती है। प्रिया को जीवन भर माँ का स्नेह न मिलने की कचोट सालती रहती है। वह अतीत में लौटते हुए कहती है- 'उन्होंने कभी मुझे प्यार नहीं किया कभी गोद में लेकर चूमा नहीं। मैं चुपचाप घंटों उनके कमरे के दरवाजे पर खड़ी रहती, शायद अम्मा मुझे भीतर बुला ले .....। मगर नहीं एक शाश्वत दूरी बनी रही हमेशा हम दोनों के बीच।'[27] निष्कवच वृतान्त दो की नायिका मार्था नायक से यौनाचार करती पर माँ बनना नहीं चाहती इसलिए गर्भ में आए शिशु को गिरवा आती है और नायक के जवाब-तलब करने पर कहती है- 'यह तुम क्या बक रहे हो? यह मेरी देह है। मेरा निजी मामला। मेरा ही परमाधिकार।'[28] आगे नायक से अपनी देह पर अपने परमाधिकार के विस्तार का ब्यौरा देते हुए कहती है- 'मैं अमिनोसेण्टोसिस के लिए गयी थी पता लगा लड़का है। तब तो और भी आसान हो गया मेरे लिए फैसला। इन्होंने सदियों से हमें कुचलकर रखा है।'[29] पुरुष से बदला लेने के लिए वह सदियों से दमन का वही, पुरुषवादी रवैया ही अपनाती है। अपने मातृत्व को कुचलकर।

लेखक अभय कुमार दुबे इस प्रकार की नारी की शोध रपट में कहते हैं- 'समाज और परिवार इस नयी औरत को कुछ इस तरह दबाव में लाता है कि वह विवाह करने और सन्तानोत्पत्ति के बाद स्वयं घर-परिवार के लिए अपना कैरियर छोड़कर वापस चली जाती है, बहुत बडे.पैमाने पर नौकरी पेशा औरतें में यह प्रवत्ति देखी गयी है। बाजार के आग्रहों में घरेलू काम और बच्चों के लालन-पालन के पारम्परिक काम का समाजीकरण करने का कोई स्थान नहीं है।'[30] चारो ओर से हताश यह नारी जब घर वापस लौटती है तो अपने कैरियर त्याग की कसक इसके मन में मौजूद रहती है वही, वह विवाह और मातृत्व को समर्पित भी नहीं हो पाती। क्योंकि इसके जीवन के अधिकांश वर्ष तो कैरियर निर्माण की दौड़ में ही लग जाते हैं और ये नारी आर्थिक कारणों से न तो नौकरी छोड़ पाती है और न घर के दायित्वों से मुक्त हो पाती है, उसके भीतर किसी भी मोर्चे पर सफल न होने की कचोट रह जाती है। इन सब स्थितियों के चलते नारी मातृत्व के प्रति द्वन्द्वात्मक हो जाती है। विकास और भूमंडलीकरण के इस दौर में जीवन के प्रति जहाँ सभी की प्राथमिकताएँ बदली हैं वही, नारी के जीवन में भी कुछ ऐसा ही हुआ। पहले विवाह और मातृत्व उसकी प्रथम आकांक्षा थी, वहीं, अब कैरियर भी इस रास्ते पर था। समाजशास्त्री प्रमिला कपूर कहती हैं- 'सामाजिक मूल्यों का यह औधापन एक पौरूषी

वरिष्ठता और स्त्रियों के दमन पर आधारित था, जो इस बात पर जोर देते थे कि पत्नियाँ केवल प्रजनन और घर-परिवार की देखभाल के लिए होती है, जबकि कुछ खास अन्य स्त्रियाँ यौन सुख के लिए होती हैं। यौन नैतिकता के दोहरे मानदंडों की प्रमुखता के कारण सैक्स के मामले में पुरुषों को काफी छूट थी'[31]

मातृत्व के प्रति नारी की विचारधारा यौन शुचिता के बदलते मायनों से भी प्रभावित हुई। स्त्री शिक्षा ने नारी व्यक्तित्व को जो स्वतंत्रता उपलब्ध करायी उससे स्त्री के भीतर एक नई चेतना का अभ्युदय हुआ। समाज की तमाम परम्पराओं के विरूद्ध बिगुल बजाती यह स्त्री यौन-नैतिकता के आदेशों, उपदेशों की अवज्ञा भी करने लगी यौन वर्जनाओं के छूटने में सर्वाधिक प्रभावकारी भूमिका गर्भ-निरोधक गोलियों या उपकरणों की थी। अर्चना वर्मा (कथाकार कवयित्री) इन गर्भ निरोधकों के सन्दर्भ में कहती हैं- 'स्त्री स्वयं अपने आप को लेकर अपने शरीर को लेकर सदियों से इतनी सहज कभी नहीं थी जितनी सदी के अंत में केयर-डी, विस्पर, माला-डी और कोहिनूर और पीटरपैन और लिवटीर्ना के माध्यम से अपने मासिक धर्म, अपने उन्मद रतिभाव और अपने दैहिक ऐश्वर्य के विषय में हुई है।'[32] यह कथन बिल्कुल सत्य है कि सदी का अन्त होते-होते स्त्री मुक्ति की सांस लेने लगी है। अपनी लज्जाशील छवि से यह स्त्री की मुक्ति थी।

अर्चना वर्मा आगे कहती है- 'परम्परागत समाज की नींव अगर स्त्री की शर्मिदगी पर टिकी थी, तो बेशक वह हिल उठी है।'[33] गर्भ निरोधक जब तक स्त्री के जीवन में नहीं थे तो उसके जीवन में यौन सम्बन्धों का सीधा-सा अर्थ था मातृत्व और यह मातृत्व कभी उसके लिए सार्थक बना और कभी बेड़ी बनकर उसको बाँधने लगा। उषा प्रियंवदा के उपन्यास 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' की सुषमा एक आत्मनिर्भर कामकाजी युवती है। जीवन के बत्तीस -तैंतीस वर्ष गुजारने के बाद भी वह अविवाहित है। तब उसके जीवन में उससे पाँच वर्ष कम वय का नील आता है। सुषमा नील के साथ दैहिक रूप से जुड़ती है- 'नील से सम्बन्ध सुषमा का व्यक्तिगत निर्णय है और यह निर्णय वास्तव में उसका मूक विद्रोह भी है और यौन नैतिकता के आदेशों-उपदेशों की अवज्ञा भी '[34] सन 1962 ई. में लिखा गया यह उपन्यास यौन-नैतिकता के क्षेत्रों में कई सवाल खडे.कर गया।' यह उसके (सुषमा के) मानसिक विकास का मुक्त रूप भी हो सकता है और बदलते समय में टूटती यौन वर्जनाओं का परिणाम भी गर्भ-निरोधक गोलियों या उपकरणों ने भी यौन वर्जनाएँ तोड़ने में निश्चय ही एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।'[35] इन्हीं गर्भ-निरोधकों ने नारी की देह को उसके अधिकार में सौप दिया और मातृत्व से मुक्ति का अवसर भी प्रदान कर दिया- 'मातृत्व से मुक्ति के अवसर ने उसे स्वयं को देह में और देह को हथियार में बदल लेने की ताकत दी है। बाजार के अर्थशास्त्र के अनुसार, इसका अर्थ है सौन्दर्य का औद्योगिकीकरण और देह का उपभोक्तावाद।'[36]

'आवां' उपन्यास में नमिता का चरित्र आश्चर्य में डालता है कि वह संजय कनोई से देह सम्बन्ध जिस सरलता से बना लेती है, उतनी सरलता से वह गर्भ निरोधक उपायों के प्रयोग पर जोर क्यों नहीं दे पायी? इसलिए गौतमी (मित्र) के सफारी बैग में निरोध के पैकेट को देख सकपका जाती हैं- 'हर्षा मुझे तो साँप सूँघ गया। जानती है, चाभियों के अलावा बटुवे में और क्या हाथ लगा? निरोध का खुला हुआ पैकेट लगा, जैसे

किसी ने हथेली पर बिच्छू रख दिया हो।'[37] एक शिक्षित लड़की अनेक बार के दैहिक संसर्ग के बाद भी गर्भ निरोधकों को देख घबरा जाती है। यह निश्चय ही आश्चर्य का विषय है? जहाँ नमिता का व्यवहार निम्न मध्यमवर्गीय मानसिकता को दर्शाता है वही, उसकी सहेली स्मिता किसी का बच्चा अपने गर्भ में नहीं स्वीकारती- 'गधे की औलाद मैं तेरे बच्चे की कुँआरी माँ नहीं बनना चाहती..... जो लड़का कंडोम इस्तेमाल करना नहीं जानता वह मेरा प्रेमी होने के काबिल नहीं।'[38] यह निश्चित ही यौन वर्जनाओं के टूटने का परिणाम था।

उपरोक्त उपन्यासों के अध्ययन के आधार पर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि समय के साथ बदलते दृष्टिकोण ने नारी के मातृत्व भाव को द्वन्द्व की स्थिति में डाल दिया। सदियों से चले आ रहे मातृत्व भाव को, जिसपर बैठकर नारी पुरुष की दृष्टि में सम्मान की अधिकारी बनी, जिस मातृत्व की उपलब्धि न होने पर नारी न केवल समाज की दृष्टि में अपितु अपनी दृष्टि में भी एक ऐसी अपराधी बन जाती, जिस अपराध के लिए उसका कोई दोष नहीं होता। उसी मातृत्व के विषय में वह सोचने पर विवश हुई। नारी की मातृत्व प्रेम भी सर्वविदित है। उपन्यास कठगुलाब की नारी पात्र मातृत्व प्रेम के वशीभूत हैं, लेकिन उसे प्राप्त नहीं कर पाते।

'पीली आँधी' उपन्यास की सोमा इसी मातृत्व हेतु, विवाहेत्तर संबंधी बनाती है। तो दूसरी ओर कुछ उपन्यासों के नारी पात्र के लिए मातृत्व बाधक है, उसकी प्रगति में, स्वतन्त्रता में (आओ पेपे घर चले की कैथी)। महिला उपन्यासकारों द्वारा नारी के इस द्वन्द्व को बखूबी अभिव्यक्ति मिली है। नारी के जीवन की यह प्राकृतिक अनिवार्यता अब उसको अधिकार में आ गयी। उसकी इच्छा या अनिच्छा उसके स्वतन्त्र होते व्यक्तित्व का ही परिणाम है।

संदर्भ :

1. आपका बंटी - मन्नू भंडारी, राधाकृष्ण प्रकाशन, सन 1971, पृ. 67
2. आओ पेपे घर चलें - प्रभा खेतान, हंस अप्रैल मई जून अंक, अक्षर प्रकाशन, सन 1999, पृ. 72-73
3. वही,
4. वही,
5. वही,
6. छिन्नमस्ता, प्रभा खेतान, हंस जनवरी-फरवरी मार्च 1991, अक्षर प्रकाशन, पृ. 5.
7. वही, पृ. 55
8. वही, पृ. 58
9. वही, पृ. 69
10. कठगुलाब - मृदुला गर्ग, भारतीय ज्ञानपीठ, सन 2001, पृ. 56
11. वही, पृ. 97
12. वही, पृ. 98
13. वही, पृ. 104

14. वही,
15. वही, पृ. 147
16. वही, पृ. 194
17. वही, पृ. 194
18. एक जमीन अपनी, चित्रा मुद्गल, प्रभात प्रकाशन, 1990, पृ. 19
19. वही,
20. वही, पृ. 196
21. वही, पृ. 205
22. निष्कवच, राजी सेठ, भारतीय ज्ञानपीठ, 1995, पृ. 84-85
23. एक पत्नी के नोट्स, ममता कालिया, मयूर पेपर बैक्स छाया-मयूर अक्टूबर-दिसम्बर, 1994, पृ.333
24. आंवा - चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, 1999, पृ. 47-48
25. छिन्नमस्ता- प्रभा खेतान, हंस जनवरी-फरवरी मार्च- 1991, पृ. 55
26. वही,
27. वही, पृ. 58
28. निष्कवच, राजी सेठ, भारतीय ज्ञानपीठ, 1995, पृ. 91
29. वही, पृ. 92
30. पितृसत्ता के नये रूप-ताकतवर औरत की मजबूरियाँ अभयकुमार दुबे - हंस अक्षर प्रकाशन मार्च, 2001, पृ. 37
31. कॉलगर्ल्स -मूल समस्या तथा विचार पद्धति- डॉ. प्रमिला कपूर, हिन्द पॉकेट बुक्स, 1993, पृ. 29
32. बन्द गलियों के विरूद्ध-स्त्री का भविष्य, अर्चना वर्मा, संपादक-मृणाल पाण्डे / क्षमा शर्मा, राजकमल प्रकाशन, 2001, पृष्ठ 48
33. वही,
34. औरत अस्तित्व और अस्मिता, अरविंद जैन, सारांश प्रकाशन, 2000, पृ.50
35. वही,
36. बन्द गलियों के विरूद्ध, स्त्री का भविष्य, अर्चना वर्मा, संपादक मृणाल पाण्डे / क्षमा शर्मा, राजकमल प्रकाशन, 2001, पृष्ठ 47
37. आवां-चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, 1997, पृ. 461
38. वही, पृ. 205

सहाय्यक प्राध्यापिका, हिंदी विभाग
वीर वाजेकर महाविद्यालय, फुंडे,
ता.उरण, जि.रायगड (नवी मुंबई)

हिंदी के 'डूब' और नेपाली के 'यहाँ देखि त्यहाँसम्म' उपन्यास में स्त्री चेतना का स्वरूप

- टिंकू छेत्री

भारतीय समाज में स्त्री सदा से उपेक्षित रही है। यह समाज पितृसत्ता से संचालित होता रहा है, जिसमें स्त्री की स्थिति दोयम दर्जे की रही है। स्त्री की स्वतंत्रता एवं अधिकार पुरुष पर आश्रित रहने का मुख्य कारण स्त्री चेतना की कमी है। हिंदी के रचनाकार वीरेंद्र जैन कृत 'डूब' एवं नेपाली रचनाकार धनुष चन्द्र गोतामे कृत 'यहाँ देखि त्यहाँसम्म' उपन्यास में स्त्री चेतना के प्रश्न प्रमुख रूप से उभर कर आये हैं। प्रस्तुत शोध आलेख में 'हिंदी के 'डूब' और नेपाली के 'यहाँदेखि त्यहाँसम्म' उपन्यास में स्त्री चेतना के स्वरूप' को तुलनात्मक रूप में उद्घाटित किया गया है। दोनों उपन्यासकारों ने विभिन्न स्त्री पात्रों के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों एवं पितृसत्तात्मक समाज का विरोध किया है। दोनों उपन्यासों में स्त्री चेतना परिलक्षित हुई है।

स्त्री का मानव सृष्टि में ही नहीं, वरन् समाज निर्माण में भी महत्वपूर्ण स्थान है। नारी से संबंधित इतिहास एवं साहित्य के पृष्ठों पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि स्त्री को पुरुष के समान ही मर्यादा, सम्मान, शिक्षा का अधिकार था। प्रागैतिहासिक युग में स्त्री-पुरुष छोटे-छोटे सामाजिक समूहों में रहते थे। उस समय नारी की स्थिति पुरुष के बराबर ही नहीं, उससे श्रेष्ठ थी। नारी को पुरुष के समान अधिकार प्राप्त था। आर्यों की सभ्यता-संस्कृति के विकास में भी नारी का योगदान रहा है। ऋग्वेद काल में स्त्री को सर्वोच्च शिक्षा लेने का अधिकार था। ''ऋग्वेद' के अनेक सूक्त और मन्त्र उस समय की लेखिकाओं-ऋणिकाओं और ब्रह्मचारिणियों द्वारा रचे गए।'[1] स्त्री को जीवन साथी चुनने का अधिकार प्राप्त था। ज्ञान के पठन-पठान के लिए ब्रह्मवादिनी युवतियों को आजन्म कुमारी रहने की भी अनुमति थी। वैदिक काल में समाज पितृसत्तात्मक था तथा बहुपत्नी प्रथा का उल्लेख भी मिलता है, किन्तु विधवाओं के पुनर्विवाह पर कोई प्रतिबंध नहीं था। बाल विवाह का प्रचलन नहीं था। वैदिक युग में स्त्री धार्मिक जीवन में पति की सहयोगिनी थी।

मध्य युग में भारत में मुसलमानों के आक्रमण और मुगलों के राज्य-स्थापन के बाद भारत में स्त्रियों की स्थिति में और गिरावट आई। स्त्री-सतीत्व, पवित्रता तथा हिन्दू धर्म की रक्षा के नाम पर स्त्री को और अधिक सामाजिक बंधनों में जकड़ दिया गया। 'इस युग में मुख्य रूप से स्त्रियों की आर्थिक पराधीनता, कुलीन विवाह प्रथा, अन्तर्विवाह, बाल-विवाह, अशिक्षा और संयुक्त परिवार प्रणाली आदि ऐसेकारण माने गये, जिनसे स्त्रियों की परिस्थिति में अत्यधिक गिरावट आई। उनकी घर से बाहर की सारी गतिविधियाँ समाप्त प्रायः हो गई।'[2] समाज में स्त्री भोग्या, रमणी और अबला बनकर रह गई जिसे पुरुष अपनी इच्छानुसार किसी भी प्रकार के उपयोग में ला सकता था। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व अंग्रेजी शासन काल में स्त्री की स्थिति में सुधार हेतु अनेक प्रयास किये गये, परन्तु इस काल में स्त्रियाँ अनके सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, पारिवारिक निर्योग्यताओं

का शिकार रही। इसका मुख्य कारण अशिक्षा, आर्थिक पराधीनता, बाल विवाह, संयुक्त परिवार प्रणाली, वैवाहिक प्रथाएँ थीं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् स्त्री की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षणिक स्थिति में सुधार लाने तथा उसे आत्मनिर्भर और स्वावलंबी बनाने की ओर अग्रसरित करने हेतु अनेक कल्याणकारी योजनाओं और विकासात्मक कार्यक्रमों का संचालन किया गया। स्त्री की स्थिति में सुधार के लिए संवैधानिक रूप से विविध कानून, न्याय व्यवस्था बनाया गयी है, लेकिन आज भी समाज में स्त्री के साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता है। इस संबंध में डॉ. शेख मोहसीन का कहना है कि 'आज की नारी स्वावलंबी, सचेत, आत्मनिर्भर होकर भी तनावों में घिरी है। नौकरी-पेशा स्त्री के विवाह की समस्या, जाति प्रथा की समस्या है, दहेज की समस्या, नौकरी करते समय पुरुषों के साथ काम करते हुए भी पुरुषों की बुरी निगाहों से बचने की समस्या है। ये सभी समस्याएँ स्त्री के सामने अनेक प्रश्न निर्माण कराती हैं।'[3]

साहित्य में समाज के विविध पक्षों को यथार्थ रूप में अंकित किया जाता है। अपनी सृजनात्मक कला से साहित्य को समृद्ध करने वाला साहित्यकार संवेदनशील प्राणी है। वह अपने इतिहास तथा युगीन परिस्थितियों से प्रभावित होता है। भाषा चाहे कितनी ही अलग क्यों न हो उसमें निहित अभिव्यक्ति में समानता अवश्य रहती है। हिंदी में वीरेंद्र जैन कृत 'डूब' और नेपाली में धनुष चन्द्र गोतामे कृत 'यहाँदेखि त्यहाँसम्म' आँचलिक उपन्यासों में स्त्री की स्थिति की अभिव्यक्ति मार्मिक रूप में हुई है। दो अलग-अलग भाषा में लिखित उपन्यास होने के बावजूद अनेक स्थानों पर समानता देखी जा सकती है।

वीरेंद्र जैन कृत 'डूब' उपन्यास में एक ओर भारत के बुंदेलखंड में स्थित लड़ैई गाँव की कहानी है, जो तीन तरफ पहाड़ों से और एक तरफ बेतवा नदी से घिरा हुआ है, तो दूसरी ओर धनुष चन्द्र गोतामे कृत 'यहाँदेखि त्यहाँसम्म' उपन्यास में नेपाल के तराई क्षेत्र के अंतर्गत बारा जिला के तीयर और मुर्कि नदी किनारे स्थिति गाँवों का वर्णन है। दोनों भाषाओं के उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में स्त्री की स्थिति का मार्मिक रूप से चित्रण किया है। 'यहाँदेखि त्यहाँसम्म' उपन्यास में स्त्री के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को खोलकर पाठक के सामने रख दिया गया है, वहीं दूसरी ओर 'डूब' उपन्यास में गाँव की पितृसत्तात्मक व्यवस्था को दर्शाया गया है, जो स्त्रियों पर हावी है। स्त्री इस उपन्यास में उस व्यवस्था से संघर्ष करती दिखाई पड़ती है।

हिन्दू समाज में स्त्री विधवा समस्या से त्रस्त है। विधवा स्त्री को समाज में नारकीय जीवन जीने के लिए विवश किया जाता है। वे स्त्री और पुरुष दोनों से ही प्रताड़ित होती है। विधवा समस्या ने हमारे समाज को दीमक की तरह खोखला कर दिया है। उसे शुभ-कार्यों में बहिष्कृत, पतिघातिनी, पापिनी और जाने क्या-क्या कहकर प्रताड़ित किया जाता है। विधवा को श्रृंगार करने का अधिकार नहीं होता है। आजीवन उन्हें समाज के ताने सुनकर ही जीवन व्यतीत करना पड़ता है। नेपाली उपन्यास 'यहाँदेखि त्यहाँसम्म' में विधवा पार्वती मेले में जाकर हाथ में कंगन पहनती है। यह बात गाँव के पुजारी को सहन नहीं होती। पुजारी पार्वती का विरोध करता है। पुजारी गाँव के जमींदार भद्रनाथ के साथ इस विषय पर चर्चा करता है 'राँडी आइमाईले यसरी चुरा लाएर गाउँघरमा हिंडेको

मैले कहिले सुनेको छैन। यो हामी सबैका लागि हाँक हो। यसबारे गहिरिएर विचार गर्नुपर्ला मालिक, यसले गर्दा गाउँघरमा नराम्रो हावा अबदेखि चल्न थाल्छ। उसको चुरा जुनसुकै युक्तिले पनि फुकाइछाडनुपर्छ, अनि मात्र त्यस चोथाले बिधुवीको तुजुक झर्नेछ।'[4] (अर्थात् गाँव में आज तक मैंने कहीं नहीं सुना है कि कोई विधवा स्त्री इस प्रकार अपने हाथों में कंगन पहनकर घूमती हो। ये बात हम सब के लिए लज्जित करने वाली है। इस विषय पर गहराई से विचार करना होगा मालिक, नहीं तो गाँव में गलत प्रभाव पड़ सकता है। उसके हाथों से कंगन किसी भी उक्ति से खोलना ही पड़ेगा तभी उस विधवा की अकल ठिकाने आएगी।)

'यहाँदेखि त्यहाँसम्म' उपन्यास में भद्रनाथ ने समाज को एकत्रित करके एक ब्राह्मण विधवा स्त्री द्वारा पालन करने वाले नियमों का उल्लेख किया। पार्वती ने इन नियमों का उल्लंघन करते हुए पराये मर्द के हाथों से कंगन पहना। पार्वती के इस कार्य से समाज लज्जित महसूस कर रहा था और गाँव में इसका कुप्रभाव भी पड़ रहा है। अतः यह निर्णय लिया गया कि तुरंत पार्वती कंगन उतार कर समाज के सामने माफी माँगे। प्राचीन काल से देखा जाता है कि विधवा स्त्री को श्रृंगार करने का अधिकार नहीं है। पुरुषों द्वारा थोपे गए नियमों का पालन करने के लिए स्त्री विवश है। विधवा को पुनः विवाह करने का अधिकार नहीं है, उल्टा अधिक से अधिक नियम समाज द्वारा उस पर थोपे जाते हैं। दूसरी ओर पुरुष पत्नी की मृत्यु के पश्चात् फिर से विवाह कर सकता है। उसके विवाह में पूरा समाज हर्ष-उल्लास के साथ भाग लेता है। पहली पत्नी के होते हुए भी पुरुष दूसरा विवाह करते हैं। इस उपन्यास में पार्वती वह स्त्री पात्र है, जो आनेवाले दिनों की एक सशक्त महिला है। वह अपने अधिकार के लिए लड़ना जानती थी। वह निडर होकर गलत को गलत कहने की हिम्मत रखती थी। पूरे समाज के सामने वह खुलेआम चुनौती देती है कि इस समाज में ऐसा कौन सा व्यक्ति है जो मेरे हाथों से यह कंगन खोल सकता है? वह कहती है मेरी अंतरात्मा ने कहा है कि यह गलत काम नहीं है। एक विधवा स्त्री को कंगन पहनने का अधिकार नहीं है, यह कहाँ का न्याय है? यह वही पार्वती है जिसे कुछ साल पहले अपने ससुराल से राक्षसी, डायन, पतिघातिन, अपशकुनी कहकर मायके भेज दिया गया था। अब वह निडर निर्भय है। पार्वती समाज की वह स्त्री पात्र है, जो अपनी परिस्थिति-समाज से लड़कर अपने आपको प्रतिष्ठित करती है।

दूसरी ओर 'डूब' उपन्यास में गोराबाई विवाह के पश्चात् भी एक विधवा की तरह जीवन व्यतीत कर रही है, क्योंकि उसका पति हिजड़ा है। शादी से पहले किसी ने इस बात की सूचना नहीं दी थी कि 'घूमा' जनम से ही जनखा है। आँखों में नये जीवन के सपने लेकर गोराबाई ससुराल आई थी, परन्तु उसका पति 'घूमा' हिजड़ा निकला। गाँव वालों को पता था कि गोराबाई कभी माँ नहीं बन सकती परन्तु सभी गाँव वाले उसे बाँझ कहकर गाली देते थे। 'हमने गोराबाई से बात की है। आप तो जानते ही हो कि उसके कोई बाल-बच्चा नहीं है। हो भी नहीं सकता। लुहार के लड़का तो जनम से ही जनखा जो ठहरा। और लोग हैं कि यह जानते हुए भी कुलच्छनी, बाँझ और जाने क्या-क्या तो नहीं कहते।'[5] इस प्रसंग से यह स्पष्ट है कि पूरा समाज यह जानते हुए कि गोराबाई माँ नहीं बन सकती फिर भी दोषी गोराबाई को ही मानता है। घूमा तथा उसके परिवार को

कोई प्रश्न नहीं करता है कि उन्होंने क्यों गोराबाई को अँधेरे में रखकर विवाह किया? गोराबाई आजीवन इस विवाह को निभाती है।

हमारे भारतीय समाज में देखा जाता है कि एक बार स्त्री का विवाह होने के पश्चात् उस विवाह को निभाने के लिए स्त्री विवश है। पत्नी के होते हुए भी पुरुष खुलेआम दूसरा विवाह कर सकता है। हमारे भारतीय समाज के अधिकतर नियम-कानून बड़ी ही नाजुक तरीके से स्त्री के कन्धों पर रखे गये हैं। इसे आजीवन बिना सवाल किये स्त्रियाँ निभाने के लिए विवश हैं। यह माना जाता है कि स्त्री अपनी रक्षा नहीं कर सकतीं। इसलिए कहा गया है कि जन्म के बाद पिता, शादी के बाद पति और बुजुर्ग अवस्था में बेटा स्त्री की रक्षा और पालन-पोषण करता है। आज भी हमारे समाज में यह मानसिकता विद्यमान है कि स्त्री अपनी रक्षा नहीं कर सकती है।

इस उपन्यास की पात्र गोराबाई के पीछे कैलाश महाराज दो शोहदे लगा देते हैं। कैलाश महाराज यह उम्मीद लगाकर दो शोहदे को भेजा था कि जब वह गोराबाई को भोग कर रहे होंगे तो इसे अपनी आँखों से देख सकूँ और इसी को आधार बनाकर जब चाहे गोराबाई को अपने पास बुलाकर उसके शरीर का भोग कर सकें। चील-कौओं की तरह दोनों शोहदे गोराबाई को नोचने के लिए राह देख रहे थे। गोराबाई को अकेले देख कर वह सामने आ गए। लेकिन गोराबाई ने मौका देखकर उनके ऊपर ऐसा वार किया कि वे दुबारा उठ नहीं पाए। 'एक-एक वार में दोनों का काम तमाम! दूसरी बार तो नाहक श्रम किया उसने। अपनी धुतिया पर खून की कुछ अतिरिक्त धार ही हासिल कर पाई वह दूसरे वार में।'[6]

डूब उपन्यास में गोराबाई एक ओर बेटे के प्रति अपना वात्सल्य प्रेम प्रकट करती है तो वहीं दूसरी ओर परिस्थिति अनुसार अपनी रक्षा के लिए हथियार उठाती है। आज स्त्रियाँ पुरुषों के साथ कदम-से-कदम मिलाकर समाज-देश के विकास में अपना सम्पूर्ण योगदान दे रही हैं। विकास का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जिसमें स्त्रियों का योगदान न रहा हो। ऐसे परिस्थिति में केवल अबला का लाँछन लगाकर स्त्री को चार दीवारों में बाँध कर रखना कहाँ तक न्याय संगत है? गोराबाई निडर, कर्मठ स्त्री है। पति होते हुए भी न होने के समान है। उसके स्वाभिमान को हर कोई खरीदना चाहता था, लेकिन गोराबाई का आत्मसम्मान अमूल्य है। जब पुरुष इसे खरीद नहीं पाए तो उसके नाम को कलंकित करने लगे। फिर भी गोराबाई हर समस्याओं के साथ निडरता से लड़ती रही। पैसा-सम्पति, कलंक के आगे कभी भोग की वस्तु नहीं बनी। उपन्यास में- 'पूरे गाँव ने तो जैसे रंडी ही समझ लिया गोराबाई को। निरी पतुरिया। जो देखो वही ललचाई नजर से देख रहा है। जो देखो वही इस ताक में कि सो भर जाए पहलू में एक बार।'[7]

'डूब' उपन्यास में उपन्यासकार वीरेंद्र जैन ने नारी-समाज का यथार्थ चित्रण किया है। नारी, समाज का सक्रिय अंग है। उपन्यासकार ने इस उपन्यास में नारी के प्रति गहरी आत्मीयता व्यक्त की है। प्राचीन काल से स्त्री समाज द्वारा त्रस्त होते हुए भी, सदैव कर्तव्यपरायण रही है। नारी एक बेटी के रूप में, माँ के रूप में, पत्नी के रूप में निष्ठा के साथ अपना दायित्व और कर्तव्य का निर्वाह करते आयी है। नेपाली उपन्यास 'यहाँदेखि त्यहाँसम्म' में भी गोराबाई की तरह पार्वती हमारे समाज की वह स्त्री पात्र है, जिसे पुरुष

लाभ की दृष्टि से देखता है। पार्वती अपने शर्तों पर जीवन व्यतीत करने वाली स्त्री है। जब-जब पुरुष उसके शरीर के प्रति ललचाई नजरों से देखते थे, तब-तब पार्वती ने दुर्गा का रूप धारण करके उनको मुँह तोड़ जबाब दिया है। 'पार्वतीले मात्र त्यो डोरा देख्दछिन्, यो उसको विलास-उत्तेजना को चरमावस्था हो। भद्रनाथ सुद्धी हरा इसके को थियो र त्यहाँको विषय वस्तुबारे उनलाई हेक्का पनि रहेन। उनका आँखा पार्वतीको शारीरलाई गिजोलेर उनको नाइटाको वरिपरि, फूलको कुन भागमा गएर बसूँ भनेर भुनभनाइरहेका भ्रमरजस्तै मडारिइरहेका थिए।'[8] (अर्थात् पार्वती ने उसकी हवस को पहचान लिया था, वह विलास-उत्तेजना की चरम अवस्था पर पहुँच चुका था। भद्रनाथ अपना होश-हवास खो चुका था और चर्चा के विषय से दूर चला गया। उसकी आँखें पार्वती के पूरे शरीर को हवस भरी नजरों से देख रही थीं। आँखें नाभि के आस-पास पहुँचकर शरीर के कौन से भाग में भ्रमर की तरह रस पान कर सकूँ, इसी सोच में इधर-उधर मंडरा रहा था।)

'यहाँदेखि त्यहाँसम्म' उपन्यास में पार्वती एक सक्षम स्त्री है जो समाज के इन गीदड़ों से अपनी सुरक्षा भी कर सकती है और लड़ भी सकती है। पार्वती को लोभ, प्रताड़ना देकर भी भद्रनाथ अपने बस में नहीं कर पाया, तो उसने पार्वती को बदनाम करना आरम्भ कर दिया। पार्वती प्रत्येक चुनौतियों का सामना निडरता से करती हुई सभी का मुँह बंद कर देती है। पितृसत्तात्मक समाज ने स्त्रियों को अपने अधीन बनाने हेतु अनेक तरह के प्रपंच रचे हैं। स्त्री के स्वर को दबाने का प्रयास किया जाता रहा है, परन्तु पार्वती गोराबाई जैसी स्त्री प्रत्येक चुनौतियों का सामना करते हुए अपने अस्तित्व के लिए लड़ती है। आज भी हमें ग्रामीण समाज में पार्वती और गोराबाई जैसी अनेक स्त्रियों के उदाहरण द्रष्टव्य होते हैं।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि हिंदी के 'डूब' और नेपाली के 'यहाँदेखि त्यहाँसम्म' उपन्यास में स्त्री चेतना का स्वरूप स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है। प्राचीन काल से ही स्त्री की स्थिति दयनीय रही है। समाज सुधारक तथा अंग्रेजी शासन काल में स्त्री की स्थिति को लेकर कई सुधार कार्य हुए। स्वाधीन भारत में स्त्री विकास से संबंधित सरकारी योजनाएँ प्रारंभ की गयीं। इन योजनाओं का उद्देश्य था कि स्त्री को सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, राजनीतिक क्षेत्र में समान अधिकार मिल सके, परंतु इन योजनाओं का क्रियान्वयन निचले स्तर तक उचित ढंग से नहीं हो पाया है और स्त्रियों की स्थिति में बदलाव नहीं आया है। ग्रामीण समाज की स्त्रियाँ विशेष रूप से पुरुष प्रधान मानसिकता से पीड़ित हैं। उनका अस्तित्व समाज में न के बराबर है। उन्हें अभिव्यक्ति का अधिकार नहीं है, स्वयं सोचने या जीवन जीने का अधिकार नहीं है। हिंदी के 'डूब' और नेपाली के 'यहाँदेखि त्यहाँसम्म' उपन्यास में अन्याय और अत्याचार के प्रति नारी समाज में विद्रोह के स्वर देखे जा सकते हैं। स्त्री प्राचीन मान्यताओं की परवाह किये बिना नई मान्यताओं और बदलाव की ओर अग्रसर हो रही है।

संदर्भ :

1. वोरा, आशा रानी, औरत कल, आज और कल, कल्याणी शिक्षा परिषद, नई दिल्ली, संस्करण- 2011 ई., पृ-12
2. महाजन, डॉ संजीव, भारतीय समाज का विश्वकोश, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, संस्करण- 2011 ई., पृ-128
3. रशीद, डॉ. शेख मोहसीन शेख, बीसवीं सदी के अंतिम दशक के उपन्यासों में ग्राम जीवन, पराग प्रकाशन, कानपुर, संस्करण-2015 ई., पृ-116
4. गोतामे, धनुष चन्द्र, यहाँदेखि त्यहाँसम्म, साझा प्रकाशन, काठमांडू, संस्करण-1985 ई., पृ.- 71
5. जैन, वीरेंद्र, डूब, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2014 ई., पृ.- 94
6. वही, पृ.- 129
7. वही, पृ.- 123
8. गोतामे, धनुष चन्द्र, यहाँदेखि त्यहाँसम्म, साझा प्रकाशन, काठमांडू, संस्करण-1985 ई.,पृ.- 73

शोधार्थी, पीएच.डी.
हिन्दी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय
मेघालय, शिलांग-793022

महाश्वेता देवी के उपन्यास 'सूरज गगराइ' में आदिवासी चेतना

- गुरप्रीत कौर (शोधार्थी)

जल, जंगल, जमीन के साथ आदिवासी समाज का घनिष्ठ संबंध आदिकाल से ही रहा है। आदिवासी समाज प्राकृतिक संपदा से समृद्ध भू-भाग का निवासी होने के बावजूद भी बुनियादी सुख-सुविधाओं से वंचित रहा है। प्राचीन संस्कृति के रक्षक आदिवासियों को बाहरी आक्रमण और उपनिवेशवाद के कारण अस्तित्व की रक्षा का संकट झेलना पड़ा है। आदिवासी अस्तित्व की पहचान प्रकृति और उससे जुडी सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यताएँ हैं, लेकिन पूँजीवाद ने आदिवासियों की इस पहचान को छीनकर उन्हें मुख्यधारा के हाशिये पर ला खड़ा किया है। रमणिका गुप्ता के अनुसार, 'प्रकृति और आदिवासी हमेशा एक दूसरे के पूरक रहे हैं। वे एक दूसरे की जरूरत की पूर्ति करते रहे हैं, लेकिन बाहरी लोगों की नजर सदैव उनके भूतल और भूगर्भ में मौजूद प्राकृतिक संसाधनों व संपदा पर रही। उनकी मंशा सदैव अंधाधुंध दोहन और लूट की ही रही। समय-समय पर इसके लिए आदिवासी समाज पर आक्रमण किया जाता रहा। आजादी के बाद औद्योगीकरण के दौर में यह आक्रमण और भी तेज होते गये। देश की केंद्रीय सत्ता ने हमेशा उनकी उपेक्षा की, औपनिवेशिक ताकतों के शोषण का दौर तो आधुनिक युग की परिघटना है, लेकिन आंतरिक उपनिवेशवाद का दंश पिछले पाँच हजार वर्षों से झेलना पड़ा है।'[1]

भारत के आदिवासियों की जीवन-शैली, संस्कृति को औपनिवेशिक दौर ने बुरी तरह प्रभावित किया है। आदिवासी क्षेत्रों में बाहरी लोगों की घुसपैठ के कारण स्थानीय आदिवासी अपने जल, जंगल, जमीन के पारंपरिक अधिकारों से वंचित होकर अपनी ही जमीन पर मजदूर बन कर रह गये। सत्ता के औपनिवेशिक हमले ने आदिवासियों को उनकी भूमि से विस्थापित कर उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की कोशिश की। 'सरकार ने अनेक योजनाओं के नाम पर व हर पैमाने पर प्राकृतिक संसाधनों का अधिग्रहण करना शुरू कर दिया। विभिन्न नदी परियोजनाओं पर विशाल बाँध-निर्माण करने का कार्य, जिसके तहत एक बड़ी जनसंख्या को अपने घर, परिवार, जमीन एवं जीविका के साधनों से वंचित होकर विस्थापन के लिए मजबूर होना पड़ा है। विकास के लिए वैकल्पिक उपयोग के सन्दर्भ में संसाधनों पर अधिकार का दूसरा पहलू विस्थापन है।'[2] आदिवासियों के जल, जंगल, जमीन के अधिकारों की सुरक्षा के लिए बनाये गये संवैधानिक प्रावधानों की उपेक्षा के कारण आदिवासी अपने जल, जंगल, जमीन के अधिकारों से वंचित होते रहे। विकास के नाम पर बाँध परियोजनाओं, खनन, सड़क व रेल निर्माण प्रक्रिया में न सिर्फ आदिवासियों को विस्थापित होना पड़ा बल्कि अपने जीवन-यापन के लिए अपने सांस्कृतिक परिवेश से पलायन का दंश भी झेलना पड़ा।

बांगला साहित्य की प्रख्यात लेखिका महाश्वेता देवी ने अधिकारों से वंचित आदिवासियों की समस्याओं और उनके संघर्ष को अपने साहित्य का सरोकार बनाया है। महाश्वेता देवी ने आदिवासियों के बीच रहते हुए उनके दुःख-दर्द को समझा और उनके

जीवन का यथार्थ चित्रण अपनी रचनाओं के माध्यम से पाठकों के सामने प्रस्तुत किया। उन्होंने आदिवासियों के अपने अधिकार प्राप्त करने के लिए किये संघर्ष को अपनी लेखनी के माध्यम से व्यक्त किया है। 'सूरज गगराइ' उपन्यास उनकी ऐसी ही रचना है, जिसके माध्यम से विकास और औद्योगीकरण के नाम पर हो रहे विस्थापन के विरुद्ध आदिवासी चेतना को अभिव्यक्त किया है।

'सूरज गगराइ' उपन्यास में आदिवासी क्षेत्रों के गर्भ में अपार खनिजों का भंडार है, जिसे पूंजीपति व उद्योगपति अपने कब्जे में करने की कोशिश में लगे हैं। आदिवासी क्षेत्रों के जल, जंगल जमीन के अधिकार पारम्परिक रूप से आदिवासियों के थे, लेकिन पूंजीपति आदिवासी के नाम ठेका लेकर जंगल काट कर आर्थिक मुनाफा कमा रहे थे। लेकिन जिस आदिवासी के नाम जंगल काटने का ठेका लिया जाता है वही इस बात से अनजान थे। उपन्यास का पात्र माटा गगराइ कहता है, 'कागज पत्तर में तो सरकार आदिवासियों को सिंहभूम में राजा बनाकर रखे हुए है। इन सब जंगल का साल दर साल बोली लागत है। सरकारी नियम है कि आदिवासी के नाम बोली लगे अइसा होता भी है सिर्फ आदिवासी को ही इस बारे में खबर नहीं होती।'[3]

आदिवासी शिक्षा के अभाव में अपने जल, जंगल, जमीन से वंचित हो रहे थे। क्योंकि पढाई लिखाई न जानने के कारण वे अपने अधिकारों के लिए बने कानूनी प्रावधानों को समझ नहीं सकते थे इसलिए वे लोग धोखा खा जाते थे। माटा गगराइ अपने पोते सूरज गगराइ को शिक्षित करना चाहता है जिससे कि वह अपने अधिकारों के लिए लड़ सके। माटा सूरज से कहता है, 'सौ रुपया पागुन को थमा दिया। समुच्चे गाँव के लोग जी भरकर मांस भात खाए। बाकी रुपईया से ई जमीन खरीद ली। जब जमीन खरीदी तब हमका नहीं मालूम था। बाद में पता चला कि यहाँ की सब जमीन ऐसे भी हमारी है। कानूनन ई सब जमीन हमारे लिए ही थी। हम पढ़े-लिखे नहीं थे सो धोखा तो खाना ही था तभी तो तुझे पढाई-लिखाई सिखाने चाहता हूँ।'[4]गाँव के अन्य आदिवासी भी आर्थिक शोषण से बचने के लिए अपने बच्चों को पढ़ाने की बात करते हैं। वह कहते हैं,'गाँव के भले बच्चे अगर पढ़ने नहीं गये तो... हम लोगों को बहुत कष्ट है, बड़े दुःख में हैं, हमलोग हिसाब पत्तर कुछ समझते नहीं लड़ाई भी करनी हो, तो साथ में पढ़े-लिखे मानस की जरूरत पड़ती है अब, दिन काल और तरह का है। जंगल की चिरौंजी महुआ भी बेचने जाते हैं, तो ठगे जाते हैं।'[5]

आदिवासी हो समुदाय में वधु मूल्य का प्रचलन है। लड़के वालों को लड़की के परिवार को गाय, भैंस, बकरियाँ आदि कन्या मूल्य के तौर पर देनी पड़ती हैं। क्योंकि आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण आदिवासियों को वधु मूल्य चुकाने के लिए ऋण का सहारा लेना पड़ता है, इसलिए उपन्यास की पात्र नंदी कन्या मूल्य के बदले शादी करने से इंकार कर देती है। वह जानती है कि आर्थिक स्थिति अच्छी न होने कारण लड़के वाले वधु मूल्य देने में गरीब हो जाते हैं। इसके लिए उन्हें साहूकारों, महाजनों से कर्ज उठाना पड़ता है। जिसको चुकाने में आदिवासियों की जमीन भी उनके हाथ से चली जाती है और उन्हें बंधुआ बनकर बेगार करना पड़ता है। नंदी नहीं चाहती कि उसका पति आर्थिक परिस्थितियों से मजबूर होकर साहूकारों का बंधुआ बने। वह वधु

मूल्य का विरोध करती हुई कहती है, 'मेरा बप्पा अगर दो तीन गाय भैंस कि माँग कर बैठे तो गाँव का कोई भी बन्दा इतना दे ही नहीं पाएगा। रामपुर के साहूकारों के पास कर्ज लेने के लिए दौड़ेगा। उसके बाद फकीर हो जाएगा और साहूकार लोग उन लोगों को ठेकेदारों के हाथ बेच देगा।'[6]

कोलहान में ठेकेदार और प्रशासन की मिलिभगत से जंगलों की अवैध तरीके से बोली लगाई जाती है। ठेकेदार एम एल ए के साथ मिलकर घपला करके मृत आदिवासी चाँद गगराइ के नाम पर बोली लगाते हैं। कालू समुराई जैसे लोग इस बारे में जानतें हैं और नकली चाँद गगराइ खड़ा कर जनता के सामने रावल की सच्चाई लाते हैं, नकली चाँद गगराइ कहता है, 'रावल साहब ने अपने नकली कारोबार के जरिये हमारे पवित्र पहाड़ और जंगल की बोली लगाई है। चाँद गगराइ के नाम बोली मंजूर की गयी है। वही चाँद गगराइ हाजिर है। चाँद गगराइ अपना जंगल नहीं काटने देगा।'[7]

जब आदिवासी गाँव में विकास के नाम पर उद्योग स्थापित हुए, आदिवासियों की आड़ में गैर आदिवासियों ने ही विकास का लाभ उठाया। चेरो के लोग जानते हैं कि बाँध में अधिग्रहित उनकी जमीनों का मुआवजा उनके हाथ में नहीं पहुँचेगा। राँची में भारी उद्योग स्थापित होने से अनगिनत गाँव बेनिशान हो गये और मुआवजे की राशि दलालों ने हड़प ली। उपन्यास का पात्र कालू समुराई कहता है, 'उस समय तो प्रति आदमी न सही प्रति घर बीस पचास हजार रुपये मंजूर किये गये थे। लेकिन वह तो निरा झूठ का फंदा था। अच्छा तुम ही बताओ कि आदिवासी घरों के लिए इतने रुपये क्यों मंजूर हुए थे। मुझे पता है इतने रुपये इसलिए मंजूर किये गये थे ताकि जिनका घर है उन्हें सौ पचास रुपये मिल जायें, बाकी सारे रुपये उन लोगों के पेट में चले जायें जो आदिवासी नहीं थे, जो लोग दलाल और जुआचोर थे।'[8]

कोलहान के आदिवासी लोगों की जमीन में जो खनिज संपदा है, उसका फायदा बाहरी लोग उठा रहे हैं। आदिवासी अपनी इस आर्थिक लूट का अंत चाहते हैं। उपन्यास का पात्र सूरज कहता है, 'इन सब बातों का कोई तुक नहीं। मुझे सीधा-सीधा हिसाब समझ में आता है। सिंहभूम के लोग जंगी थे और आज भी जंगी। लेकिन वे सब सीधे सादे लोग हैं। जंगल पहाड़ के मानस हैं। वे लोग शहरी इन्सानों के कौशल फरेब नहीं समझ पाते। इसीलिए तो सिंहभूम में जहाँ खनिज संपदा की भरमार है, वहाँ उन लोगों ने कारखाना शुरू कर दिया। आजादी के बाद पूरा एक साल गुजर गया। हम लोग जिस अँधेरे में थे अब उससे भी ज्यादा गहरे अँधेरे में डूबते जा रहे हैं। डूबते ही जा रहे हैं। आखिर इसका अंत कहाँ है।'[9]

देश की आजादी से पहले आदिवासी जिस शोषण के जाल में फँसे थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उससे भी गहरे शोषण के अँधेरे गर्त में डूबते जा रहे थे। इस शोषण के अंत के लिए और अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए उन्हें सत्ता और पूँजीवादी ताकतों से संघर्ष का रास्ता अपनाना पड़ा। सूरज गगराइ कहता है, 'इसीलिए मेरे बाप्पा किसान क्रांति दल में शामिल हो गये थे। हमारे जमाने में कोलहान रक्षा दल है। इसीलिए अलगखंड की माँग है। अलग-अलग दिशाओं में अलग-अलग दल, ये सोच रहा है कि हाथ फैलाने से, सरकार कुछ नहीं देगी। पूरे हक से जो हमारा हासिल है, वह लड़कर वसूल करना

होगा।'[10]

कोलहान के मानकी मुंडा को जानकारी दिए बिना सुवर्ण रेखा बहुमुखी प्रकल्प के अधीन चेरो बाँध प्रकल्प शुरू होने वाला था। इस परियोजना में आदिवासी गाँव की जमीन डूबने वाली थी। आदिवासी अपनी जमीन के बदले जमीन चाहते थे। वे जानते हैं कि उनको चंद रुपये थमाकर करोड़ों का मुनाफा उठाने वाले बाहरी लोग हैं। आदिवासियों को अपना अधिकार माँगने पर सरकार का जुल्म सहना पड़ता है। उपन्यास का पात्र सूरज उत्तेजित होकर सेठना से कहता है, 'जमीन के बदले जमीन वर्ना कोलहान से अपना हाथ हटा लो। तुम्हारा बाँध प्रकल्प कौन चाहता है? तुम्हारा पानी? कौन चाहता है उद्योग कारखाने नए-नए शहर? कोलहान के लोगों ने ढेरों कारखाने ढेरों शहर देखे हैं। भारत के तमाम राज्यों के अमीरों को और अमीर बनाने का ठेका कोलहान ने नहीं लिया। राज्य सरकार सिंहभूम की छाती से करोड़ों-करोड़ रुपयों का मुनाफा वसूल करेगी और सिंहभूम के लोग गोलियाँ खाएँ ऐसा अब नहीं चल सकता।'[11]

आदिवासी चंद रुपयों के लालच में आकर अपनी जमीन से विस्थापित होने की बजाये आन्दोलन कर अपने अस्तित्व की रक्षा का प्रण करते हैं। वे चुपचाप अपने प्राकृतिक संपदा के अकूत भंडार को सत्ता और पूँजीपतियों के हाथों में नहीं सौंपते, बल्कि अपने साथ हो रहे अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाते हैं। सूरज गगराइ अपने साथी से कहता है, 'आंदोलन करूँगा, लड़ाई करुँगा, यह कहने भर से कुछ नहीं होता। लोगों को हमेशा उकसाते रहना होगा। देखो! तुम्हारे प्रति नाइंसाफी हुई। देखो ! तुम्हारा अधिकार छीन लिया गया।'[12]

आदिवासी भले ही मुख्यधारा की संस्कृति को अपना रहे हैं, लेकिन अपना समुदाय उनकी प्राथमिकता है। आदिवासी अपने जंगल क्षेत्र की जमीन मुख्यधारा के लोगों के हाथों में बेचकर अपने समुदाय को कष्ट में नहीं छोड़ सकते। उपन्यास की पात्र बूढी जमुना जिसको उसके बेटे शहर ले जाना चाहते हैं,वह जाने से पहले अपनी जमीन गाँव के किसी आदिवासी को ही बेचना चाहती है। वह इस बात से परिचित है कि जमीन अगर किसी बाहरी व्यक्ति ने ली,तो उससे आदिवासी समाज को नुक्सान होगा। इसलिए जमुना सूरज की माँ गंगा से जमीन खरीदने की बात करती है। वह गंगा से कहती है, 'ले लो! तुम्हीं लोगन ले लो। अगर नहीं लोगे, तो रामपुर का चेतन साहू तो हमका चीर खावे को तैयार है। लेकिन हम का गाँव में दिकु लोग को घुसाय लूँ? तुम लोगन को छोड़कर गाँव में जमीन खरीदने जोग और काउन है।'[13]

आदिवासी बाहरी लोगों द्वारा अपने पुरखों की जमीन का अपमान बर्दाश्त नहीं कर सकते, इसलिए वे लोग अपने अलग राज्य की मांग उठाते हैं। चेरो गाँव का मुंडा कहता है, 'कोलहान में वे लोग इकसठ गाँव डूबा देंगे और मानकी-मुंडा लोगों को एक बार जानकारी भी नहीं देंगे? छोटानागपुर प्रजास्वत्व कानून याद करो। विलकिन्सन व्यवस्था याद करो। यह हमारा बहुत बड़ा अपमान है। ऐसा अपमान कोल्हा लोग बर्दाशत नहीं कर सकते। देखो, अलगखंड के नाम पर हम तुम्हें ही जानते हैं। मैं अकेला नहीं हूँ। कई-कई गाँव के मानकि-मुंडा आज तुम्हारे आँगन में जमा हुए हैं। हमारे पुरखे कोलहान के लिए बहुत लड़े थे और जिस इलाके को घेरे हुए चेरो बाँध प्रकल्प बन रहा है वह

तो खासतौर पर वहीं के लोगों के लिए खतरा है।'[14]

आदिवासी लोग, जिनकी जमीन अधिग्रहित कर बड़े-बड़े उद्योग स्थापित किये जा रहे हैं, उन्हें मुआवजे के रूप में मिली मामूली राशि से वे न अपने लिए जमीन खरीद सकते हैं और न ही अपने जीवन-यापन के लिए रोजगार का प्रबंध कर सकते हैं। आदिवासियों को उनकी जमीन से विस्थापित कर बड़े-बड़े कारखानों में उन्हें हाशिये पर रखकर गैर आदिवासियों के लिए रोजगार का प्रबंध किया जाता है। चेरो बाँध परियोजना में भी आदिवासियों के साथ ऐसा ही होने वाला था। सूरजगगराइ डी. सी. से कहता है, 'मैं बताता हूँ। आप लोगों ने एक प्रतिशत भी नहीं लिया। अभी तो काम शुरू भी नहीं हुआ और अभी से हम लोग आउट? काम होगा बाँध बनेगा, लेकिन इससे हम लोगों को कोई फायदा होने वाला है? हमें विश्वास नहीं होता। फिर बताइये, इस काम के लिए हम लोग खेत जमीन क्यों छोड़े? भाइयो, मैंने क्या कोई गलत बात कही? मैं पूछता हूँ इतना लुकाव-छिपाव क्यों है? जिन लोगों के गाँव आप लोग लेंगे, खेत लेंगे, उन्हीं लोगों को इसकी जानकारी क्यों नहीं दी गयी? सारा कुछ यूँ गुपचुप तय हो गया?'[15]

चेरो बाँध प्रकल्प में अपनी जमीन देने से कोलहान के आदिवासियों को कोई फायदा नहीं है। क्योंकि इसका लाभ उत्तर बिहार के लोगों के लिए था,इसलिए वे अपनी जमीन छोड़ने को तैयार नहीं होते। उपन्यास में जब डी. सी. कहता है कि बाँध बनने से इलाके में पानी और कारखानों की सुविधा होगी तो सूरज कहता है, 'हाँ हाँ सब होगा उत्तरी बिहार के लोगों के लिए आबाद जमीन कल कारखाने और आदिवासी लोग वहाँ रिजा कुली बनकर मशक्कत करेंगे।'[16] बाहरी लोगों द्वारा आदिवासियों को उनकी जमीन से विस्थापित कर कारखाने शुरू किये जा रहे थे, लेकिन इन उद्योगों का फायदा उठाकर पूँजीपति लोग अधिक अमीर बन रहे थे और आदिवासियों को गरीबी की ओर धकेला जा रहा था। उपन्यास में सूरज गगराइ द्वारा चेरो बाँध संघर्ष समिति का निर्माण कर आदिवासियों में इस आर्थिक असमानता के प्रति चेतना को जागृत करने का प्रयास किया गया था।

इस उपन्यास में आदिवासी अपने साथ हो रहे अन्याय और शोषण के विरुद्ध आवाज उठाते हैं और एकजुट होकर अपने अधिकार हासिल करने के लिए संघर्ष का ऐलान करते हैं। आदिवासी अपने आदिवासी क्षेत्र को चेरो बाँध प्रकल्प परियोजना में डूबने से बचाने के लिए चेरो बाँध संघर्ष समिति स्थापित कर सत्ता के विरुद्ध अपने संघर्ष का आरम्भ करते हैं। अपने अधिकारों के लिए संघर्ष समिति का निर्माण आदिवासियों की चेतना का प्रमाण है।

सन्दर्भ :

1. गुप्ता, रमणिका; आदिवासी शौर्य एवं विद्रोह; दिल्ली; सुरभि प्रकाशन; 2015; पृ. 9, 2. मीना, जनक, कुलदीप सिंह मीना; भारत के आदिवासी; नयी दिल्ली; वाणी प्रकाशन; 2017; पृ. 191, 3. देवी, महाश्वेता; सूरज गगराइ; नयी दिल्ली; वाणी प्रकाशन; 2012; पृ. 6, 4. यथावत पृ. 8, 5. यथावत पृ. 9, 6. यथावत पृ. 23, 7. यथावत पृ. 39, 8. यथावत; पृ. 47, 9. यथावत पृ. 77, 10.यथावत पृ. 77, 11. यथावत पृ. 79, 12. यथावत पृ. 82, 13. यथावत; पृ. 91, 14. यथावत पृ. 92, 15. यथावत पृ.111, 16.यथावत; पृ.112

हिन्दी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

सुशीला टाकभौरे कृत 'वह लड़की' उपन्यास में दलित महिला चेतना

- डॉ. एल. तिल्लै सेल्वी, एस. जानकी

हिन्दी साहित्य में उपन्यास विधा आधुनिक युग का महत्वपूर्ण योगदान है। साहित्य अपने समसामयिक जीवन का विवेचनात्मक दर्पण है और उसका निर्माता-उससे प्रभावित तथा परिचालित और उसे गति प्रदान करने वाला होता है। यह उक्ति साहित्य की उपन्यास विधा पर अधिक सार्थक है। उपन्यास साहित्य में नारी-गत संवेदनात्मक भावों का विकास यत्र-तत्र दिखाई देता है। हिन्दी उपन्यासों में संवेदनशील नारी के विभिन्न रूपों का दर्शन होता है। 'मातृ देवो भव' माँ देवी का स्वरूप है, माँ ममता का भण्डार है। परिवार में नारी की कई भूमिकाएँ होती है- वह माँ के रूप में संरक्षिका और पोषिका, पत्नी के रूप में पुरुष की सहचरी और कामिनी है, वहन के रूप में स्नेह और अनुराग की दात्री है। नारी माँ, पत्नी, बहन, प्रेयसी, भाभी, सखी इन सारे संबंधों को निभाने में व्याकुल होती है। इस तरह नारी करुणा की संवेदनशील मूर्ति कहलाती है। नारी समूचे संसार की जननी है। मातृत्व संसार की सबसे बड़ी उपलब्धि है। हिन्दी साहित्य में उपन्यासकारों ने प्रत्येक युग में नारी को एक अनोखे दृष्टिकोण से अपनी लेखनी द्वारा अभिव्यक्ति दी है। साहित्य तथा नारी का संबंध अटूट है। कभी नारी उसके लिये एक प्रश्न बनी, कभी खुली-किताब और कभी उसने नारी को माता के रूप में देखा तो, कभी विलास के साधन के रूप में। कभी वह नारी के प्रति अत्यधिक उदार एवं अनुरक्त रहा, तो कभी उसके विरोध में भी दिखाई दिया। प्रत्येक युग के हर एक राष्ट्र का साहित्य नारी-गत संवेद्यपूर्ण भाव से अनुप्राणित है।

चेतना का मतलब दृष्टि से होता है। दलित को किन बातों से सरोकार रखना है किससे नहीं, इस विचार का संज्ञान दलित चेतना कहलाता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित चेतना को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि- 'दलित चेतना का सीधा सरोकार- मैं कौन हूँ? से बहुत गहरे तक जुड़ा है। चेतना का संबंध दृष्टि से होता है, जो दलितों की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और सामाजिक भूमिका की छवि के तिलिस्म को तोड़ती है। अधिकारों से वंचित, अधिकारों से नकार दिया जाना यानि दलित होना और उसकी चेतना यानी दलित चेतना।'[1]

आज दलित महिलाओं के सामने पितृसत्ता, जातिवाद, निरक्षरता, तंगहाली और पूर्वाग्रह चुनौतियों के सामने खड़े हैं। यह पूर्वाग्रह समाज से लेकर साहित्य व आन्दोलन से लेकर वैचारिक धरातल पर बिखरे पड़े हैं। दलित साहित्य जहां एक ओर उसकी छवि उत्श्रृंखल कामचोर, पेटू आदि खीचने में व्यस्त है, वहीं दूसरी ओर उसकी क्षमता व प्रतिभा को नित नये फतवों से नेस्तनाबूद करने की साजिश रच रहा है। जिस आजादी और मुक्ति का स्वप्न लेकर दलित साहित्यकार दलित साहित्य को समृद्ध कर रहा है, उन्हीं मूल्यों के खिलाफ, दलित स्त्री को दलित पुरुष परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ना चाहता है। यौन शुचिता के नाम पर वह उसे अपने पाँव की जूती व अपने उपभोग की

वस्तु बनाकर सुरक्षित रखना चाहता है।

'सुशीला टाकभौरे का जन्म मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले के सिवनी तहसील में 4 मार्च 1954 को एक निर्धन दलित वाल्मीकि परिवार में हुआ। पिता को मामूली अक्षर ज्ञान था, माता अशिक्षित थीं। दो बड़ी बहनों ने भी शिशु विद्यालय स्तर से अधिक की शिक्षा नहीं पाई थी। इस पारिवारिक पृष्ठभूमि में अपनी जिद, विश्वास, लगन और माता के सहयोग के बल पर ही उन्होंने उच्च शिक्षा ग्रहण की। लेखन के प्रति उनकी रुचि बचपन से ही रही। आठवीं कक्षा में पहली कहानी लिख ली थी। फिर कविताएँ भी लिखने लगीं और कालांतर में कहानी सहित अन्य गद्य विधाओं में अपना रचनात्मक योगदान किया। दलित-संवेदना और स्त्री-सरोकार उनकी रचनात्मकता का मूल स्वर है। इसके साथ ही उन्होंने समकालीन विमर्श के अन्य विषयों पर भी लेखन किया है।

कृतित्व :

काव्य-संग्रह - 'स्वाति बूँद और खारे मोती', 'यह तुम भी जानो', 'तुमने उसे कब पहचाना' और 'हमारे हिस्से का सूरज'।

कहानियों का संकलन - 'अनुभूतियों के घेरे','टूटता वहम', 'संघर्ष' और 'जरा समझो'।

उपन्यास - 'नीला आकाश', 'वह लड़की' और 'तुम्हें बदलना ही होगा'।

नाट्य-कृति - 'नंगा सत्य'।

अन्य नाटकों का संकलन - 'रंग और व्यंग्य'।

आत्मकथा -'शिकंजे का दर्द'।

स्त्री -विषयक निबंधों का संग्रह - 'हिंदी साहित्य के इतिहास में नारी' और 'भारतीय नारीः समाज और साहित्य के ऐतिहासिक संदर्भों में'।

दलित-विषयक वैचारिक लेखों का संग्रह - 'परिवर्तन जरूरी है'।

आलोचना-कृति - 'दलित साहित्यः एक आलोचना दृष्टि' और 'दलित लेखन में स्त्री चेतना की दस्तक'।

पत्र-संचयन - 'कैदी नं० 307' शीर्षक पत्र-संवाद और 'संवादों के सफर'।

सम्मान - मध्य प्रदेश दलित साहित्य अकादेमी विशिष्ट सेवा सम्मान, रमणिका फाउंडेशन के सावित्रीबाई फुले सम्मान, महाराष्ट्र राज्य, हिंदी साहित्य अकादेमी के डा. उषा मेहता हिंदी सेवा सम्मान,उन्हें मध्य प्रदेश दलित साहित्य अकादेमी विशिष्ट सेवा सम्मान, रमणिका फाउंडेशन के सावित्रीबाई फुले सम्मान, महाराष्ट्र राज्य हिंदी साहित्य अकादेमी के डा. उषा मेहता हिंदी सेवा सम्मान आदि से सम्मानित किया गया है। उनकी रचनाएँ कई महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के दलित पाठ्यक्रम में शामिल हैं।'[2]

दलित नारी जीवन की संघर्ष की कथा 'वह लड़की' उपन्यास है। इस उपन्यास में दलित नारी जीवन की समस्याओं को उकेरा गया है। दलित नारी को हर जगह समाज की मनुवादी स्थितियों से दो-चार होना पड़ता है। हमारे समाज में नारी को हमेशा से ही हाशिए पर रखा गया है। सामाजिक परिस्थितियों के कारण न तो वह अपना विकास कर पाती है और न ही शिक्षा ग्रहण कर पाती है। वह हमेशा शोषित होती है वह लड़की उपन्यास के माध्यम से पता चलता है कि स्त्रियां अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करते हुए लड़

रही हैं, फिर भी समाज में स्त्रियों पर अन्याय अत्याचार लगातार हो रहे हैं। उन पर अभी भी अनेक प्रकार के बन्धन लगाए जा रहे हैं, जिसके फलस्वरूप अभी भी स्त्रियों के अस्तित्व और व्यक्तित्व का विकास पूर्ण रूप से नहीं हो पा रहा है। समय बदलना चाहिए प्रत्येक नारी को अपना जीवन अपने ढंग से जीने का अधिकार मिलना चाहिए। 'वह लड़की' उपन्यास समाज में स्त्रियों के प्रति पुरुषों का रवैया बदलने का एक जरिया है। स्त्रियां अपने अच्छे भविष्य के लिए अपनी प्रगति और सामाजिक स्थिति में परिवर्तन के लिए अपने निर्णय स्वयं लेगी, तभी वे अन्यायपूर्ण समाज व्यवस्था और रीति परम्पराओं को बदल सकेंगी। दलित अपनी परम्परा अपनी सामाजिक व्यवस्था के नाम पर हमेशा लुटते रहे हैं। दलितों में शिक्षा के अभाव के कारण ही जागृति नहीं हो पायी है। परम्परा के नाम पर पैसे बहाते रहते हैं। उपन्यास में शैला नामक पात्र की सगाई के मौके पर बताशे के नाम पर हंगामा होना एक ढोंग ही तो था। शैला सोचती है- 'कैसे लोग लकीर के फकीर होते है? क्या बताशे के बिना लोग जिन्दा नहीं रह सकते? परम्पराओं के नाम पर ढोग ही ज्यादा होते हैं।'[3]

सामाजिक परम्पराओं के कारण ही दलित हमेशा से ही पिछड़े रहे हैं। दलितों में भी दलित नारी की स्थिति तो और भी दयनीय रही है। दलित नारी को दोहरा संताप भोगना पड़ता है। एक तो नारी होने का दूसरा दलित होने का दलितों में भी दलित मानी जाने वाली दलित नारी का जीवन हमेशा ही कष्टों से भरा हुआ रहा है। पहले समाज से दो चार होना बाद में ससुराल में सास, ननद और पति के ताने सुनना मध्यप्रदेश के गांव और शहरों में स्त्रियों पर अन्याय की ऐसी घटनाएँ आम बात मानी जाती रही हैं। यहाँ स्त्रियों के साथ अन्याय किया जाता रहा है। उनमें इतनी हिम्मत होती नहीं है कि वे अन्याय का जवाब दे सके। 'भमेडी गाँव बहुत छोटा है। लड़कियों के लिए तो और भी छोटा है। वे घर के बाहर नहीं जाती, घर में रहकर घर के काम करती हैं, इसलिए वे बाहर की दुनिया के विषय में कुछ नहीं जानती।'[4] क्योंकि इन्हें समाज के बारे में बाहरी दुनिया के बारे में जानने ही नहीं दिया जाता जिससे ये अन्याय को चुपचाप सहती रही हैं। उपन्यास की एक पात्र शैला जो शिक्षित है अन्याय, शोषण के खिलाफ आवाज उठाने के लिए कहती है। वह नारी को अबला से सबला बनाने की कोशिश में है। वह कहती है 'ऐसा धर्म ऐसी परम्पराएं जो हमारे साथ अन्याय करते हैं उन्हें मानना धर्म नहीं है। चुपचाप अन्याय सहना धर्म नहीं है उनका विरोध करना चाहिए।'[5] वह हमेशा नारी को ऊपर उठाने की कोशिश करती रहती है। क्या बन्धन औरतों पर ही होने चाहिए पुरुषों पर नहीं औरतें हमेशा ही अपने जीवन में कष्ट उठाती हैं। हर किसी का अत्याचार का सहती रहती हैं। शैला की बहन शम्मा पर भी ऐसे ही अत्याचार होते रहते हैं। वह हमेशा उसे समझाती रहती है कि अन्याय के खिलाफ आवाज उठाओ। लेकिन शम्मा हमेशा उसको यह कहकर चुप करा देती कि मेरे नसीब में ये ही सब कुछ लिखा है जिसे मुझे भोंगना है। शैला चाहती है- 'समाज में ऐसी जागृति लानी चाहिए, जिससे गुनहगार को, अन्यायी-अत्याचारी को कड़ी से कड़ी सजा दी जाए, ताकि किसी की बेटी को इस तरह जिन्दगी से और मौत से न जूझना पड़े।'[6] आज भी समाज में लड़कियों पर अत्याचार हो रहे हैं। कहीं मायके में कहीं ससुराल में, कहीं नारी होने के कारण कहीं जाति के कारण

हर जगह लड़कियों का शोषण हो रहा है। हिंसा, अपमान और बलात्कार हो रहे हैं, जिन्दा रहने का हक छीना जा रहा है, उन्हें मौत के घाट उतारा जा रहा है।

सदियों से यही चला आ रहा है, पुरुष प्रधान समाज में सारे अधिकार पुरुषों को ही मिले हैं इसी के बल पर वह स्त्री को शोषित पीड़ित करता है और अंहकार के साथ अपने इस व्यवहार पर खुश होता है। औरत के साथ हो रहे इस अन्याय में पुरुषों के साथ औरतें भी रहती हैं। उपन्यास की एक पात्र नमिता को उसकी काकी सास यही समझाती है- 'औरत का दिल तो धरती की तरह है। वह सब कुछ सहकर भी अपनी धुरी पर घूमती रहती है। ऐसी ही औरत जात होती है। इसी में उसकी मर्यादा है। इसी में उसकी भलाई हैं।'[7] इस प्रकार की सोच को बदलने की आवश्यकता है। समाज में स्त्री पुरुष की समानता का प्रसार हो, वे एक दूसरे को पूरक मानने लगे समाज तभी आगे बढ़ेगा। सवर्ण समाज की स्त्रियों के हालत भी यही हैं। पुरुष इन्हें अपने पैरों की जूती समझते हैं, लेकिन ये अहम् और अहंकार में डूबी रहने के कारण अपने शोषण के खिलाफ आवाज नहीं उठाती हैं। अधिकतर बहुओं के लिए यह आदेश रहता है कि बाहर से आने वालों के सामने वे न आए। इक्कीसवीं सदी में आने के बाद भी हमारे दकियानूसी लोग अभी भी ऐसी घटिया परम्पराओं को बरकरार रखना चाहते हैं।

दलित परिवारों में बहुओं पर इस तरह के बन्धन नहीं होते है। मगर कुछ लोग सवर्णों की नकल करते हुए, उनकी परम्पराओं का अन्धानुकरण भी करते हैं और अपने आपको बड़ा भी मानने लगते हैं। यही कारण है कि दलित परिवार की बेटी और दलित परिवार की बहू होने के बाद भी सामन्ती काल की नारी शोषण के बन्धनों में जकड़कर रखा जाता रहा है, जो सदियों से अभावों में रखे गए सभी सुख-सुविधाओं से वंचित भी वे भी परम्परा के रूप में अपने घर की बहुओं पर जुल्म सितम करके खुशी पाते रहे हैं। शैला जैसे लोग समाज में जागृति का काम करते हैं, तो लोग उनका सहयोग करते हैं उनके सम्मेलन भाषण में भाग लेते है, लेकिन बाद में वो ही करते हैं, जो उन्हें अच्छा लगता है शैला समझा रही है- 'कमला नहीं चाहती कि उनकी बहू मुझसे मिलने आए। इसमें उनको लगता है कि मैं उच्च शिक्षित हूँ साहसी हूँ नौकरी करती हूँ नारी सबलता की बातें करती हूँ कमला नहीं चाहती कि उसकी बहू कभी ऐसी सबल बने यदि बहू सबल बन जाएगी तो सास की सबलता का क्या होगा? अपनी सचा बचाए रखकर वो अबला बहू पर शासन करना चाहती है।'[8]

दलित समाज में अपने घर परिवार में स्त्रियों का शोषण और अत्याचार होता रहा है। उनके साथ दुर्व्यवहार किया जाता रहा है। यू.पी हो चाहे एम. पी., चाहे महाराष्ट्र हो जब तक स्त्रियाँ स्वयं सबल नहीं बनती स्वयं अन्याय का विरोध नहीं करती, तब तक उनका शोषण उन पर अत्याचार होते रहेंगे चाहे सवर्ण हो या दलित स्त्री समाज में आखिर कब तक यही चलता रहेगा। कब बदलेगी ये स्त्रियाँ, कब पूर्ण होगा इनका सबलता पूर्ण विकास? ऐसे कई सवाल हैं जिसका जवाब अभी भी लुप्त है। उपन्यास में पात्र शैला समाज को बताती है। 'हम स्त्रियों पर अन्याय करके अपने समाज की उन्नति को रोकते हैं, स्त्रियों के विकास से ही समाज का विकास हो सकता है। मगर पुरुष अपने स्वार्थ के कारण इस बात को महत्त्व नहीं देते। दुष्ट सास ननद भी.....।'[9]

कुछ लोग समाज सेवा की बातें करते हैं घर में बहू पर अत्याचार करते हैं। इस समाज व्यवस्था की विषमता, कठोरता और नारी जाति की कमजोरी के विषय में सोचने की जरूरत हैं। दलित और गैर दलित समाज में स्त्रियों की स्थिति शोषित और पीड़ित ही रही है। उपन्यास की पात्र शैला दलित और गैर दलित समाज की स्त्रियों की ऐसी शोषित पीड़ित स्थिति देखती हैं, तो उसका हृदय आक्रोश से भर जाता है। नारी मुक्ति आन्दोलन के कार्यक्रमों में ऐसी महिलाओं का उदाहरण बताकर नारी जागृति का संदेश देती है। वह अपने भाषण में महिलाओं का हौसला बढ़ाने के लिए यह बात आवेश के साथ कहती है- 'हम भारत देश की नारी है हम फूल नहीं चिनगारी हैं।'[10] नारी की सबलता और जागरूकता अतिआवश्यक हैं।

शैला और निशा अखिल भारतीय दलित महिला जागृति नामक संस्था से जुड़ी हुई है। इस संस्था के द्वारा वे अखिल भारतीय स्तर पर काम कर रही हैं और देश के सभी प्रान्तों की दलित पिछड़ी महिलाओं को अपनी संस्था से जोड़कर लाभान्वित कर रही है। अभावग्रस्त मजदूर गरीब अछूत परिवार की बेटियों को कितनी यातनाएं सहनी पड़ती रही हैं। निशा दलित शोषित पीड़ित हर महिला की मदद के लिए हमेशा तैयार रहती है वह पीड़ित महिलाओं को अपनी संस्था में कोई न कोई काम दिलाने का प्रयत्न करती है। समाज में हर किसी को ऐसी शोषित महिलाओं की मदद करने की आवश्यकता है। सबसे पहले शोषित महिला अपने ऊपर हो रहे अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाने की कोशिश करे, तभी समाज और अन्य लोग मदद कर सकते हैं। लेकिन अब अनेक संस्थाएँ हैं, जो महिला और दलित जागृति के लिए काम कर रही हैं। मानवतावादी दलित शुभचिन्तक महापुरुषों ने अपने समय में अभियान के रूप में जो कार्य किए थे, उन्हीं कार्यों को दलित संगठन आगे बढ़ा रहे हैं। महिला संस्थाओं की महिलाएँ अपनी शक्ति और सामर्थ्य के साथ महिलाओं के हित में कार्य कर रही है, ऐसी अनेक संस्थाएँ हैं, जिनमें दलित पुरुषों के साथ दलित महिलाएँ सामाजिक आन्दोलन में अपना सहयोग दे रही हैं। 'समाज जागृति दलित मुक्ति और नारी मुक्ति के कार्य बरसों से हो रहे हैं। सबसे पहले तथागत गौतम बुद्ध ने ही महिलाओं को समता, स्वतन्त्रता और सम्मान का अधिकार देते हुए उन्हें अपने बौद्ध संघ में प्रवेश दिया। सन्त कबीर ने कहीं-कहीं अपने साहित्य में स्त्री-पुरुष समानता और स्त्रियों को सम्मान देने की बात लिखी है।'[11]

इतने बरसों से चले आ रहे दलित मुक्ति और नारी मुक्ति के संघर्ष ने अब जाकर अपना रंग दिखाना शुरू किया है। समाज में नारी की महिमा का गुणगान हर कोई कर सकता है, मगर उसको सम्मान देने की बात आती है, तो सब पीछे हट जाते हैं। जहां एक ओर देश बुलंदियों को छू रहा है। वहीं दूसरी ओर जाति के नाम पर दलितों को अपमानित किया जाता रहा है। 'हमारे देश की जाति व्यवस्था का जाल है, उच्च जाति के लोग अपनी उच्चता बताने के लिए अपना सरनेम गर्व के साथ लगाते हैं, मगर दलितों के लिए सरनेम अपमान का कारण बन जाता है।'[12] हमें ऐसी वर्ण व्यवस्था जाति व्यवस्था और सरनेम का बहिष्कार करना चाहिए। हमें अपने समता सम्मान के अधिकार संविधान में लिखित रूप में मिले हैं फिर भी लोगों पर अत्याचार हो रहे हैं हमें संघर्ष करना होगा समाज से वर्णभेद और जातिभेद की भावना को पूरी तरह से मिटाना होगा।

शोषित पीड़ितों अछूतों का इतिहास जानना होगा, तभी हम अपने वर्तमान और भविष्य को समझ सकेंगे। समाज व्यवस्था में स्त्री मनुवादी लिंगभेद से पीड़ित रही हैं पुरुष शोषित पीड़ित रहकर भी अपनी स्त्रियों को अन्याय और शोषण का शिकार बनाते रहे हैं। इस समाज व्यवस्था को बदलने के लिए लड़कियों को बदलना होगा। वे बदलेंगी, तो समाज की मानसिकता भी बदलेगी जहां एक स्त्री की जीत वहीं बाकी स्त्रियों के लिए प्रेरणा बनेगी। 'जागरूक नारी ही नारी का कल्याण सफल रूप में कर सकती है। हर वर्ग की स्त्री को उसके अधिकार मिलने चाहिए अगर हमारी समाज व्यवस्था गलत है, तो उस समाज व्यवस्था को ही बदल देना चाहिए।'[13]

'वह लड़की' उपन्यास दलित नारी के जीवन संघर्ष की व्यथा है। आज समाज में शिक्षा जागरूकता होने के बावजूद भी स्त्री निचले पायदान पर ही है। उस पर अन्याय अत्याचार लगातार हो रहे हैं। हम सम्मेलनों भाषणों में नारी मुक्ति के नारे तो लगाते हैं, परंतु अपने आसपास हो रहे नारी अत्याचार को रोकने का प्रयास नहीं करते। वह लड़की उपन्यास समाज में स्त्रियों के प्रति पुरुषों का दृष्टिकोण बदलने का एक ज्वलन्त दस्तावेज है। स्त्रियाँ अपने भविष्य के लिए अपनी प्रगति के लिए आगे आएँगी, तभी वे अन्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था और रीति-परम्पराओं को बदल सकेंगी। 'वह लड़की' उपन्यास से नारी समाज में एक जागृति की लहर आएगी। वह अपने ऊपर हो रहे शोषण अत्याचार का अन्त करेगी। इससे स्त्री पुरुष की समानता को भी बढ़ावा मिलेगा। अन्तरजातीय विवाह से सवर्ण और दलित जाति शब्द को मिटाया जा सकेगा। दलित और दलित नारी के उत्थान में यह उपन्यास कारगर साबित होगा।

संन्दर्भ :

1. वाल्मीकि ओम प्रकाश - मुख्यधारा और दलित साहित्य, मेधा पब्लिशिंग हाउस, महाराष्ट्र, 2016 (पृ. 50)
2. https://www.hindwi.org/poets/sushila-takbhaure/pro le
3. टाकभौरे सुशील - 'वह लड़की', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018 (पृ. 11)
4. टाकभौरे सुशील - 'वह लड़की', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018 (पृ. 17)
5. टाकभौरे सुशील - 'वह लड़की', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018 (पृ. 22)
6. टाकभौरे सुशील - 'वह लड़की', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018 (पृ. 30)
7. टाकभौरे सुशील - 'वह लड़की', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018 (पृ. 47)
8. टाकभौरे सुशील - 'वह लड़की', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018 (पृ. 68)
9. टाकभौरे सुशील - 'वह लड़की', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018 (पृ. 69)
10. टाकभौरे सुशील - 'वह लड़की', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018 (पृ. 71)
11. टाकभौरे सुशील- 'वह लड़की', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018(पृ. 109)
12. टाकभौरे सुशील- 'वह लड़की', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,2018 (पृ. 122)
13. टाकभौरे सुशील - 'वह लड़की', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018(पृ. 163)

शीर्षक : सुशीला टाकभौरे कृत 'वह लड़की' उपन्यास में दलित महिला चेतना

शोध - निर्देशिका, हिन्दी विभाग, शोधार्थी, हिन्दी विभाग,
अण्णामलै विश्वविद्यालय, अण्णामलै विश्वविद्यालय, अण्णामलै नगर- 608 002

'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान' उपन्यास में शरणार्थियों की समस्याएँ'

- प्रो. आर.पी. गंगवार / पूनम लाकर

कारण चाहे जो भी हो, जब कोई देश विभाजित होता है तो सबसे ज्यादा तकलीफ शरणार्थियों को ही उठानी पड़ती है। उन्हें अपनी जमीन, विरासत एवं संस्कृति से बेदखल होकर किसी नयी जगह व नये देश में आशियाने की तलाश में काफी मशक्कत करनी पड़ती है। अपरिचितों के बीच, नये परिवेश में अस्तित्व की रक्षा एवं बुनियादी जरूरतों की पूर्ति करना उनके लिये किसी चुनौती से कम नहीं होता।

अंग्रेजी प्रशासन से देश को मुक्त कराने में तत्कालीन नेतृत्व ने स्वतंत्रता सेनानियों एवं जनता ने तन, मन, धन को दाँव पर लगाया, संघर्ष किया। अंततः 15 अगस्त, 1947 में हमें स्वतंत्रता मिल गयी, मगर इसकी बुनियाद विभाजनकारी नीतियों पर खड़ी हुई। परिणामतः अखंड भारत विखंडित हो गया और धर्म के आधार पर भारत पाकिस्तान दो अलग राष्ट्रों का निर्माण हुआ। दोनों सरहदों के आर-पार लाखों लोगों की अदला-बदली हुई, जिन्हें शरणार्थी के रूप में अपनी अस्मिता एवं वजूद की रक्षा हेतु कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी।

साहित्य और समाज को परस्पर पूरक समझा जाता है। समाज में जो भी छोटी-बड़ी घटनाएँ घटित होती हैं, किसी न किसी रूप में साहित्य का हिस्सा जरूर बनती हैं। इसी क्रम में आधुनिक साहित्यकारों ने अपने उपन्यासों में विभाजनोपरांत की समसामयिक परिस्थितयों एवं विस्थापितों की आप बीती को बखूबी चित्रित किया है। इस संदर्भ में यशपाल कृत'झूठा सच', कमलेश्वर का 'लौटे हुए मुसाफिर', भगवती चरण वर्मा का 'वह फिर नहीं आई', नासिरा शर्मा का 'जिंदा मुहावरे' तथा द्रोणवीर कोहली का 'वाह कैम्प' आदि उपन्यास उल्लेखनीय हैं। इस दृष्टि से 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान' उपन्यास का एक विशिष्ट स्थान है, जिसका प्रकाशन 2017 में हुआ था। स्वयं को इसके केन्द्र में रखकर प्रख्यात लेखिका कृष्णा सोबती ने विस्थापितों से जुड़े विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला है। इस उपन्यासमें वर्णित तथ्यों के आधार पर शरणार्थियों के उलझन, संघर्ष, मानसिक उत्पीड़न तथा सामाजिक सरोकारों का चिंतन प्रस्तुत करना मेरे इस शोध आलेख का प्रमुख ध्येय है।

सोबती जी का जन्म गुजरात नामक शहर में हुआ था, जो अब पाकिस्तान का हिस्सा है। विभाजन के पश्चात उन्हें शरणार्थी के रूप में भारत आना पड़ा। अतः इस उपन्यास के जरिये स्वयं के भोगे हुए दर्द व अनुभवों को आत्मकथात्मक शैली में बड़ी खूबसूरती से उकेरती हैं। इसकी प्रमाणिकता को स्पष्ट करते हुए वह लिखती हैं- 'बँटवारे के बाद बना पाकिस्तान उस त्रासदी से पहले जिनके लिये अपना प्यारा हिन्दुस्तान था वे लोग अपने ही आजाद मुल्क में जिनके कदम विस्थापित शरणार्थियों के भेष में पड़े। यह उपन्यास उन उखड़े और दर-ओ-दर लोगों की रूहों का अक्स हैं'।[1]

यह उपन्यास कृष्णा जी की पहली नौकरी के अच्छे-बुरे अनुभवों को अभिव्यक्त

करता है। दिल्ली जैसे बड़े शहर में रहने के बावजूद वह नौकरी का सपना लिये सिरोही [राजस्थान] पहुँच जाती हैं। वहाँ उन्हें एक शिशुशाला में काम करना था, मगर किसी कारण से शिशुशाला बंद हो जाती है इसीलिये सिरोही महाराज के पुत्र तेजा सिंह की गवर्नेंस का दायित्व उन्हें सौंपा जाता है। वहीं उनमें अपने स्वतंत्र देश का नागरिक होने का अहसास जगा। उनकी खुद्दारी और आत्मसम्मान को जाँचने-परखने के लिये एक विस्तृत सामंती फलक मिला। इस दौरान एक विस्थापित के रूप में उन्हें जिन समस्याओं से दो-चार होना पड़ा, उनका सजीव चित्रण इन शब्दों में किया है- 'वह अलहदगी। अपनों और परायों से, नाते रिश्तों से सगे-सम्बन्धियों और मित्रों से। सबसे बढ़कर तो स्वयं अपने से। यही वह समय था जब भारत की आजादी ने एक ओर कहानी लिखना शुरू किया जिसका मक्सद अपने औपनिवेशिक अतीत को धोना था'।[2]

विभाजनोपरांत बहुत-से बाशिंदे छत की तलाश में सीमावर्ती राज्यों व शहरों की तरफ रुख कर रहे थे। राजधानी होने के कारण अन्य शहरों के मुकाबले दिल्ली में इनकी संख्या दिनों-दिन बढ़ रही थी। भोजन, वस्त्र, आवास तथा रोजगार की तलाश में लोग प्रतिदिन जूझ रहे थे। इसका वर्णन करते हुए वह लिखती हैं- 'दिल्ली भी हम जैसे साधारण लोगों से ठसाठस भरी हुई है। इन दिनों तो पहले से कहीं ज्यादा। जिधर देखो उधर शरणार्थी ही शरणार्थी नजर आते हैं'।[3]

जहाँ एक तरफ अपनी जगह व जमीन से उखड़ने का दर्द विस्थापितों को साल रहा था, वहीं दूसरी तरफ प्रशासनिक सेवाओं से जुड़े लोग उनकी मजबूरी का फायदा उठाकर उन पर व्यंग्यात्मक भाषा का प्रयोग करते थे। इसका अहसास सिरोही प्रवास के दौरान सोबती जी को भी हुआ जिसे उपन्यास के पात्र जुत्शी साहब के निम्न कथनों से समझा जा सकता है- 'हाँ, आप शरणार्थी होने का फॉर्म भर देंगी तो राशन मुफ्त मिल जाएगा, ओढ़ने को कम्बल और रजाई भी'।[4]

'शरणार्थी के पास यह कीमती कलम कहाँ से आई? कहीं से मिली होगी'।

इस प्रकार के उपेक्षित व्यवहार से समुद्र में उठते ज्वारभाटे की भाँति उनका मन भी बारमबार उद्वेलित हो उठता था। सुख-सुविधाओं के बावजूद एक राजनीतिक माहौल में उन्हें घुटन महसूस होने लगीं। राजसी ठाटबाट उन्हें बिल्कुल भी रास नहीं आ रहा था। कभी अपनों का प्यार एवं अतीत की स्मृतियाँ वापस लौट जाने को प्रेरित करतीं और अगले ही क्षण वह अपने से प्रश्न कर बैठती कि आखिर वह सब कुछ छोड़कर यहाँ परायों के बीच क्यों आ गयी। फिर वह स्वयं को दिलासा देते हुए कहतीं- 'हमें अब पुराने नहीं, नए मुल्क का पानी पीना है। पुराना वतन छोड़ना होगा। नई सरहदों को पार करना होगा'।[5]

यह स्वाभाविक-सी बात है कि जब भी हम कोई नयी शुरूआत करते हैं, अच्छे-बुरे हर अनुभवों से दो-चार होना पड़ता है। सिरोही नगरी में सोबती जी ने भी हर तरह की परिस्थितियों का सामना किया। एक ओर प्रेमा भाई पटेल व पांडिया शरणार्थी समझकर उनके प्रति उपेक्षितभाव रखते हैं, उनकी योग्यता पर संदेह प्रकट करते हैं। इसके विपरीत मिस विलियम्स, महारानी एवं गोकुल भट्ट से उन्हें भरपूर सराहना और प्रोत्साहन मिलता है।

बँटवारे की जड़ें इतनी गहरी थीं कि दशकों बीत जाने पर भी विस्थापितों के अनेकों हृदयविदारक दृश्य सोबती जी के स्मृति पटल पर बिजली की तरह कौंधते रहते हैं। कैसे अपने सामान की गठरियाँ, बुजुर्ग माँ-बाप, व बच्चों को अपने कंधे पर लादे, रोते-बिलखते असहाय अवस्था में समाज के एक बड़े तबके ने सरहद पार किया था। हालाँकि देश विभाजन पर आधारित रचनाओं में दिव्यांगों की वस्तु-स्थिति की जानकारी उपलब्ध नहीं है, मगर एक दृष्टिबाधित शोधार्थी के नाते मैं समझ सकती हूँ कि उन विपरीत हालातों में दिव्यांग शरणार्थियों को व्यावहारिक रूप से कितनी दिक्कतें उठानी पड़ी होंगी। इस उपन्यास में तम्बुओं की कतारें हैं। घायल, बीमार व बेबसी में भटकते शरणार्थियों की दारुण दास्ताँ है। साथ ही विभाजन को स्वीकारने वालों के प्रति गहरा रोष भी है।

'बापू गाँधी, तुमने हमारे घर-बाहर धरती-पानी सब पराये कर दिये। यह कैसी रियासत?'।

उपन्यास के जरिये शरणार्थी शिविरों की दयनीय दशा एवं वहाँ रह रही महिलाओं के साथ होने वाले दुर्व्यवहार का मार्मिक चित्रण हुआ है। वचनी की माँ के माध्यम से उन्होंने पीड़ितों के गुस्से व विक्षोभ के स्वर को इन शब्दों में बयाँ किया है- 'हाय तुम्हें चैन न आए दुश्मन। बेटियों की नस्ल को खत्म कर दो। अपने बेटे पैदा करना कीकरों से, कीकरों के काँटेदार पेड़ों से।[6]

जब सोबती भारत के गुजरात और मुम्बई में अपने रिश्तेदारों से मिलती हैं तो दोनों तरफ के गुजरात की यादों को ताजा करती हैं। कैसे विभाजन से उत्पन्न स्थितियों ने पारिवारिक ढाँचे को तहस-नहस कर दिया। मानवीय सम्बन्ध बिखर गये। कहीं अपनों से मिलने की आस में लोग सिसकियाँ भरते रहे तो कितने नये-नये रैन बसेरों में अपनों को तलाशते रहे। वह लिखती हैं- 'हाँ, यह भी किस्मत की मारी है। इसके परिवार का कोई नहीं बचा। लाशों के ढेर तले जाने कैसे पड़ी रही'।[7]

अपने इस उपन्यास में कृष्णा सोबती ने भारत-पाकिस्तान दोनों देशों की गुजराती संस्कृतियों का सुंदर समावेश किया है। उन दिनों समाज में फैले अराजकता, हिंसा, नफरत एवं घृणा को गम्भीरता व जीवंतता से समेटा है। साथ ही उन लोगों के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट की है, जिन्होंने मुश्किल हालातों में जरूरतमंदों की सहायता कर मानवीय मूल्यों की रक्षा की। प्रकाश मौसी कहती हैं- 'मुकुल साहब की वजह से ही आज हमारे सिर पर छत है। यहाँ आए सभी शरणार्थियों के लिये सेठों ने गद्दे लिहाफ बनवा दिये। सबने मिलकर मदद की तो आज हम यहाँ बैठे हैं'।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान उपन्यास में बँटवारे का दंश, मातृभूमि से बेदखली की वेदना, विभाजनकारी नीतियों के खिलाफ आक्रोश, समाप्त होते देसी रियासतों की राजनीतिक साँठ-गाँठ, शरणार्थियों की विवशता तथा नन्हे तेज सिंह से जुड़े रुचिकर प्रसंग आदि बहुत कुछ समाहित हैं। इसके जरिये लेखिका ने हमें न सिर्फ पारम्परिक सामाजिक व्यवस्थाओं से परिचित कराया है अपितु बदलते परिवेश एवं आधुनिकता बोध से जोड़ने में भी सफल रही हैं। इसमें कोई दो राय नहीं है कि जब भीदेश की आजादी का गौरवपूर्ण इतिहास पढ़ा जाएगा

तब बँटवारे की दुखद घटना दोहराई जाएगी। समाज में विभाजन के गहरे प्रभाव को कृष्णा सोबती ने निम्न पंक्तियों में व्यक्त किया है- 'सिर्फ मैं ही नहीं, स्वतंत्रता प्राप्ति और विभाजन के बीचो-बीच होकर निकली पीढ़ियाँ भी जो आज तक दशकों-दशकों लम्बा सफर तय कर चुकी हैं, वह न उस त्रासदी को भूली हैं और न ही विभाजन से जुड़े देश के स्वाधीनता पर्व को। विभाजन को भूलना भी मुश्किल है और उसे याद करते चले जाना भी खतरनाक। लाखों-लाखों लोग जड़ से कट गये। कुनबों के पुराने छांहदार पेड़ उखड़कर ठंडे हो गये। ऐसे में अपने को जीवित पाकर, हर विस्थापित की इस त्रासदी से उभरकर खड़े हो जाने की कोशिश कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी'।

देश विभाजन की कसक और शरणार्थियों की आप बीती की अनुगूंज हमें वर्तमान समय में भी सुनाई देती है। मैंने इइङँल्ल्रू्ङ्ख और इइउ हिन्दी के युट्यूब चैनल पर ऐसे अनेक विस्थापितों के साक्षात्कार पढ़े-सुने हैं, जिनके दिलों में विभाजन की टीस आज भी बरकरार है। उन में से कितने बुजुर्ग ऐसे हैं जिन्हें वर्षों बाद अपने बिछड़े रिश्तेदारों से मिलने का मौका तो मिला, परन्तु प्रशासनिक दाँव-पेच के कारण उन्हें पर्याप्त संघर्ष करना पड़ा। अविभाजित भारत के भूगोल और इतिहास को याद कर वे आज भी भाव विभोर हो जाते हैं। उन्हीं में शुमार हैं दो सगे भाई-बहन श्रीमती मोहिंदर कौर और श्री अब्दुल शेख अजीज। 75 वर्षों से भी अधिक समय तक दोनों जुदाई का गम सहते रहे और अंततः स्नेह और उम्मीद की डोर ने 19 मई, 2023 को उन्हें परस्पर मिला दिया।

संदर्भ :

1. 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान'-कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2017, पृष्ठ संख्या 55
2. 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान'-कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृष्ठ संख्या 116
3. 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान'-कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृष्ठ संख्या 153
4. 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान'-कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृष्ठ संख्या 136
5. 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान'-कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृष्ठ संख्या 137
6. 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान'-कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृष्ठ संख्या 166
7. 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान'-कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृष्ठ संख्या 204

हिन्दी विभाग
बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय,
लखनऊ

लिहाफ से ओढी सदाचार

- डॉ. प्रणीता. पी.

'कहानी ने मुझे इतनी बदनामी दिलाई कि मैं जीवन से बीमार हो गई। यह मुझे मारने के लिए कहावत बन गई और बाद में मैंने जो कुछ भी लिखा, वह उसके वजन के नीचे कुचल गया।'[1] - इस्मत चुगताई

साल 2018 में सुप्रीम कोर्ट ने भारतीय दंड संहिता की धारा 377 के एक हिस्से को निरस्त कर दिया, जिसमें सहमति से परस्पर आप्राकृतिक यौन संबंध बनाना अपराध माना गया था। ये संबंध उचित हैं या नहीं, यह अलग बहस का विषय हो सकता है। किंतु स्वतंत्रता के पहले से लेकर बहुत कलाकारों और लेखकों ने इस प्रकार के संबंधों को अपनी रचनाओं का विषय बनाया है। खास बात यह है कि कुछ लेखकों ने तो उस समय इस विषय को अपनी रचनाओं में स्थान दिया, जब सार्वजनिक तौर पर इस बारे में जिक्र तक नहीं किया जा सकता। निराला, इस्मत चुकताई, कमला दास जैसे रचनाकारों ने स्वतंत्रता के पहले ही इस विषय को अपनी रचनाओं में खुलकर पेश किया हैं।

साहित्य का इतिहास साक्षी है कि हिन्दी साहित्य में सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने अपने उपन्यास कुल्ली भाट (1939) में समलैंगिक विमर्श के बीज बो दिए थे। ऋषभ देवशर्मा के अनुसार 'यदि इस उपन्यास को हिन्दी में समलैंगिकता विमर्श की पहली आहट सुनने-सुनाने वाला उपन्यास कहा जाए तो गलत नहीं होगा।[1] कुल्ली एक समलैंगिक व्यक्ति था। कानूनी स्वीकृति के उपरांत आज भी पारम्परिक रुढ़िवादी भारतीय समाज में समलैंगिकता को स्थान नहीं मिला है। आम जनता उसे अप्राकृतिक यौनाकांक्षा वाला व्यक्ति मानकर उसके साथ अमानवीय व्यवहार करती है। ऐसे लोगों को मानसिक रोगी मानती है। एक विकृति भाव ही है। इस विकृति के कारण इसे कभी-भी समाज में सम्मानजनक स्थान तो दूर सामान्य स्थान भी प्राप्त नहीं होता। समाज में उनका जीवन नर्क से भी बदतर हो जाता है। कुल्ली-भाट उपन्यास में निराला ने कुल्ली का समलैंगिक होना छुपाया नहीं है बल्कि उसे कथा का केंद्र बताकर सम्पूर्ण ताने-बाने को बुना है। लेकिन उन्हें कोई विवाद का शिकार बनना पड़ा कि नहीं, इसके बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।

इस्मत चुगताई की विख्यात विवादित कहानी है 'लिहाफ'कसाल 1942 में छपी, इस्मत चुगताई की उर्दू लघु कहानी 'लिहाफ' एक लड़की के बारे में है, जिससे उसकी माँ की गोद ली हुई बहन बेगम जान उसके साथ छेड़छाड़ करती है। कहानी लड़की के दृष्टिकोण से सुनाई गई है। जब साहित्यिक पत्रिका 'अदब-ए-लतीफ' में कहानी 'लिहाफ' छपी तो समलैंगिकता के जिक्र ने सार्वजनिक हंगामा खड़ा कर दिया। इस्मत चुगताई पर अश्लीलता का आरोप लगाया गया और उन पर केस किया गया अदालत में अपना बचाव करने के लिए उन्होंने लाहौर की यात्रा की। कई लोगो ने उनको माफी माँगने की सलाह दीकलेकिन उन्होंने इंकार कर दिया। इस्मत चुगताई ने अपने खिलाफ लगे आरोपों से लड़ने के लिए मुकदमा लड़ा। इस घटना के बाद उन्होंने कहा था,'कहानी ने मुझे इतनी बदनामी दिलाई कि मैं जीवन से बीमार हो गई। यह मुझे मारने के लिए कहावत बन गई और बाद में मैंने जो कुछ भी लिखा, वह उसके वजन के नीचे

कुचल गया।'[2]

जिस समय यह कहानी, 'लिहाफ' लिखी गयी थी, उस समय एक ही जेंडर के दो लोगों के बीच के सम्बन्धों या समलैंगिकता पर खुल कर चर्चा नहीं की जाती थी। ऐसे सम्बन्धों के मौजूद होने को स्वीकार तो किया जाता था लेकिन यह एक ऐसा विषय था जिसे हमेशा 'पर्दे' में ही रखा जाता था। यही कारण है कि कहानी में कथा वाचक की आवाज के माध्यम से इनके बारे में केवल प्रतीकात्मक तौर पर जिक्र किया गया है और खुल कर कुछ नहीं कहा गया है। कथा वाचक के कथन से भी ऐसा ही लगता है कि उन्हें इस पूरी सच्चाई के बारे में ज्यादा कुछ भी पता नहीं है। कहानी में इस विषय को उठाए जाने पर भी इस पर खुल कर कुछ न कहना साफ दिखाई देता है। आज भी समाज में यौनिकता पर खुल कर चर्चा करने से ऐसा ही परहेज दिखाई पड़ता है।

इस कहानी के मुख्य पात्र हैं- कथावाचक, बेगमजान, नवाब साहब, रब्बू आदिक कहानी में कथावाचक का नाम नहीं दिया गया है। उसका हमेशा लड़कों के साथ झगड़ा होता रहता था। इसलिए जब उसकी माँ एक हफ़्ते के लिए आगरा जाती है तो उसको अपनी बहन 'बेगम जान' के पास छोड़कर जाती हैं। बेगम जान, कथावाचक की मौसी और कहानी की प्रमुख कि रदार हैं। बेगम जान बहुत ही ज्यादा खूबसूरत हैं और उनकी शादी एक नवाब के साथ होती है। बेगम जान को पता चलता है कि उसके पति की उनमें कोई दिलचस्पी नहीं है और वह जवान लड़कों के साथ समय बिताना पसंद करता है तो बेगम जान अपनी यौन जरूरतों को पूरा करने के लिए एक मालिश करनेवाली के साथ नजदीकियाँ बढ़ाती हैं। जब मालिश करनेवाली अपने बेटे से मिलने जाती है तो बेगम जान कथावाचक को मालिश करने वाली की जगह एक यौन वस्तु के रूप में देखती है।

नवाब साहब, बेगम जान के पति हैं। एक रईस मुस्लिम और नौकरों और मेहमानों से भरे घर के मुखिया हैं। वह अपनी पत्नी की यौन जरूरतों को नजरअंदाज करता है और उसे घर के एक हिस्से में रहने के लिए मजबूर कर देता है। नवाब ने मालिश करने वाली के बेटे को भी उत्पीड़ित किया है जिस वजह से लड़का घर से भाग जाता है और कभी वापस लौटकर नहीं आया। रब्बू, बेगम जान की मालिश करने वाली है।

कहानी कथावाचक की स्मृतियों के साथ शुरू होती है, जो यह बताती है कैसे, जब एक रात वह सर्दियों में अपने ऊपर रजाई डालती है, तो दीवार पर उसे हाथी की तरह लहराती रजाई की छाया दिखाई देती है। यह छवि एक भयानक याद को पैदा करती है, जब कथाकार एक छोटी लड़की थी। कथाकार इस कहानी में बताती है कि कैसे बेगम जान की रईस नवाब साहब से शादी हुई थी। नवाब साहब को जनता गुणी मानती है, क्योंकि किसी ने कभी उनके घर में नर्तकियों और वेश्याओं को नहीं देखा। हालांकि, नवाब जवान लड़कों के रहने के लिए हमेशा अपने घर के दरवाजे खुला रखता था। आखिरकार अपनी तमाम कोशिश बर्बाद होने के बाद बेगम जान को मालिश करने वाली 'रब्बू' मिल जाती है। रब्बू, बेगम जान की लगातार मालिश करती है। वह हर समय उसके पास रहती है और उसके बगल में ही सोती है। बेगम जान को लगातार खुजली होती है जिसे कोई डॉक्टर ठीक नहीं कर पाया। केवल रब्बू ही खुजली को

खरोंच सकती है। घर की दूसरी नौकरानियाँ बेगम जान की रब्बू पर निर्भरता के बारे में गपशप करती हैं लेकिन वह इन सब बातों से बेखबर होती हैं। कहानी में बताई गयी है - 'जब देखो रब्बो कुछ न कुछ दबा रही है, या मालिश कर रही है. कोई दूसरा होता तो न जाने क्या होता. मैं अपना कहती हूँ, कोई इतना छुए भी तो मेरा जिस्म सड़-गल के खत्म हो जाए.'[3]

कथावाचक उसी कमरे में सोती है, जिसमें बेगम जान और रब्बू सोती है। एक रात बेगम जान की रजाई हिलती है, तो कथाकार जाग जाती है। अंधेरे में रजाई ऐसी दिखती है, जैसे एक संघर्ष करते हुए हाथी को छिपा रही हो। कथाकार बेगम जान का नाम लेकर पुकारती है तो रजाई का हिलना बंद हो जाता है। बेगम जान कथावाचक से सोने के लिए कहती है। लेकिन कथाकार हाथी की परछाई देखकर घबराहट के बाद कमरे में दूसरी आवाज सुनती है तो उसे लगता है कि चोर आ गया है।

सुबह उठकर कथाकार रात की बातें भूल गई थी। अगली रात वह रब्बू और बेगम जान को दबी आवाज में बहस करते हुए सुनती है। रब्बू रोती है और फिर कथाकार एक बिल्ली की थाली चाटने की आवाज सुनती है। अगले दिन, रब्बू अपने बेटे से मिलने जाती है। वहीं, बेटा जो पहले नवाब के साथ रहता था। नवाब के इस प्रकार के व्यवहार के बाद वह घर छोड़कर चला जाता है। रब्बू के चले जाने से बेगम जान परेशान हो जाती है। वह सारा दिन कुछ नहीं खाती और उदास पड़ी रहती। रब्बू की गैरमौजूदगी में रात को कथाकार बेगम जान को मालिश करने की पेशकश करती हैं। बेगम जान उसे चुपचाप लेटे हुए मालिश करने देती है। अगले दिन रब्बू वापस नहीं आती है तो बेगम जान चिड़चिड़ी हो जाती हैं और उनके सिर में दर्द होता है। कथाकार फिर से उनकी मालिश करती है और बेगम जान कामुक सांसों के साथ अपनी संतुष्टि व्यक्त करती है। बाजार से चीजें खरीदने के बारे में बात करते हुए उसका हाथ न जाने कहाँ से कहाँ पहुँचा। कथाकार को बमुश्किल ध्यान आता है और अपना हाथ हटा देती है।

यहाँ नवाब बीवी को एक संपत्ति मानती है एवं बीवी को भौतिक सुविधाएँ देने में ही कर्तव्य की इतिश्री समझता है। उनके संवेदनात्मक व मानसिक जरूरतों की तरफ नवाब साहब बेपरवाह है वह दाम्पत्य की पूर्वाग्रही जाल में कैद है उनकी जिंदगी अपमान व विषाद से भरी है। नवाब के लिए बीवी एक सामजिक ठप्पा मात्र है आखिरकार वह बेगमजान का अस्तिव तक भूल जाता है बीवी की बंधू मिलन से रोककर वह अडचनें भी पैदा करता है। बेगम में कहानीकार ने इतती ताकत भर दी है कि वह पितृ सत्ता से मुक्त हो जाती है। 'उसे अपनी जिंदगी में ठोस पकड़ है जब नवाब उसकी उपेक्षा करता है तो बेगम जान अपनी शारीरिक आनंद को खुले आम अभिव्यक्त करते हुए अपनी चाह की पूर्ति रब्बू की उन्मादी तेल मालिश में ढूँढती है बेगम जान उन शोषित महिलाओं की तरह नहीं है जो शादी जैसी पितृसत्तात्मक संस्था में कैद हो यहाँ नारी की वर्चस्व कामी इच्छाएँ बाहर आती है। ये इच्छाएँ नारियों के लिए वर्जित हैं, मर्दों के लिए नहीं इसलिए वह लिहाफ के अंतर ढकी रहती है कयह प्रतिबंधित इच्छाओं पर पडा आवरण बन जाती है। पितृसत्तात्मक समाज नारियों को यौनिकता की अभिव्यक्ति की इजाजत नहीं देती हमारा समाज भी यही करता है। यानि आज भी लेस्बियन अस्तित्व ठुकरा देता है।

लेखिका ने इसी उलझन को प्रस्तुत करने के लिए हाथी का बिम्ब प्रस्तुत किया है यह इस उलझन का भी प्रतीक बन जाता है, जो उस समय 'समलैंगिकता के बारे में लोगों के मन में थी कजो भी हो 'जनाना समलैगिकता' की रूपकात्मक अभिव्यक्ति चुगताई की जिंदगी में तबाही मचाते हुए उन्हें कटघरे में खडी करती है यह दिखाता है कि एक सामजिक सच्चाई होने पर भी समाज में 'क्युर' प्रेम की अभिव्यक्ति महिलाओं के लिए किस कदर खतरनाक साबित हो सकती है।

पूरी कहानी में दिखाई गयी है की बेगम जान की रब्बू के साथ समलैंगिक सवाल पैदा करती है, जबकि नवाब साहब व लड़कों के समलैंगिक सम्बन्ध नजरंदाज की जाती है। नवाब साहब का समलैंगिक रिश्ता सकुशल ढका जाता है। चुकताई मध्यवर्गीय पुरुष केन्द्रित दैहिक पाखंडों की दोगलापन व बनावटीपन की पदार्फाश करती है, इस कहानी में कहीं भी शारीरिक निकटता की सीधी अभिव्यक्ति नहीं है। बेगम जान एवं रब्बू के सम्बन्ध के बारे में 'पीठ में नाखून फेरने' एवं 'लगातार तेल मालिश' के सिवा कोई भी संकेत नहीं है रब्बू की बेगम जान से ताल्लुकात साफ तौर पर एक चिकित्सक की ही है वह उसकी लैंगिक उलझनों को कम करने के साथ इच्छा पूर्ति भी करती है कजिस जिस्मानी जरूरत को नवाब साहब पूरा न कर सके और जिसके पूरा होने का और जरिया बेगम जान को न मिला उसकी छटपटाहट में वे रब्बो से यह सब करवाती हैं. यह एक स्वस्थ समलैंगिक संबंध नहीं.

लिहाफ कहानी न केवल उस समय की अनकही सच्चाई का वर्णन है बल्कि इस कहानी ने महिला यौनिकता के निषेध समझे जाने वाले विषय और विषम लैंगिक विवाह सम्बन्धों के सन्दर्भ में भी महिलाओं की यौनिक इच्छा के विषय को लोगों के सामने उजागर कर दिया। एक महिला केवल अपने ससुराल में रह रही किसी औरत से अधिक भी बहुत कुछ हो सकती है, एक महिला केवल एक खूबसूरत शरीर नहीं है जिसे घर में सजा कर रखा जा सकता है।' वह बाल यौन शोषण की कहानी के रूप में भी इस कहानी का अध्ययन कर सकते है जब रब्बो दो दिन के लिए गायब होती है और बेगम साहब बेचैन रहती हैं -'सारा दिन बेगम जान परेशान रहीं. उसका जोड़-जोड़ टूटता रहा। किसी का छूना भी उन्हें न भाता था। उन्होंने खाना भी न खाया और सारा दिन उदास पड़ी रहीं।'[4]

तो ऐसे में हमारी नैरेटर जो बच्ची है, अपनी मासूमियत में उनसे कहती है-

'मैं खुजा दूँ सच कहती हूँ'

उसके बाद जो हुआ उसमें आगे की पूरी घटना बाल यौन शोषण की है। पूरी कहानी आप पढ़िए पर पीठ खुजाती बच्ची को फ्रॉक का लोभ देने के बाद बेगम साहिबा क्या करती हैं, पढ़िए।

' इधर आ कर मेरे पास लेट जा' उन्होंने मुझे बाजू पर सर रख कर लिटा लिया।' 'ऐ हे कितनी सूख रही है. पसलियाँ निकल रही हैं.' उन्होंने पसलियाँ गिनना शुरू कर दीं.

'ऊँ' मैं मिनमिनाई।

'ओई तो क्या मैं खा जाऊँगी कैसा तंग स्वेटर बुना है!' गर्म बनियान भी नहीं पहना तुमने मैं कुलबुलाने लगी. 'कितनी पसलियाँ होती हैं?' उन्होंने बात बदली 'एक तरफ नौ

और एक तरफ दस' मैंने स्कूल में याद की हुई हाई जीन की मदद लीकवो भी ऊटपटांग। 'मेरा दिल चाहा किस तरह भागूँ और उन्होंने जोर से भींचा'

'ऊं' मैं मचल गई, बेगम जान जोर-जोर से हँसने लगीं कअब भी जब कभी मैं उनका उस वक़्त का चेहरा याद करती हूँ तो दिल घबराने लगता है। उनकी आँखों के पपोटे और वजनी हो गए. ऊपर के होंट पर सियाही घिरी हुई थी कबावजूद सर्दी के पसीने की नन्हीं-नन्हीं बूंदें होंटों पर और नाक पर चमक रही थीं। उसके हाथ यख ठंडे थे मगर नर्म जैसे उन पर खाल उतर गई हो। उन्होंने शाल उतार दी और कारगे के महीन कुरते में उनका जिस्म आटे की लोनी की तरह चमक रहा था कभारी जड़ाऊ सोने के बटन गिरेबान की एक तरफ झूल रहे थे कशाम हो गई थी और कमरे में अंधेरा घट रहा था। मुझे एक न मालूम डर से दहशत सी होने लगी बेगम जान की गहरी-गहरी आँखें। मैं रोने लगी दिल में कवो मुझे एक मिट्टी के खिलौने की तरह भींच रही थीं उनके गर्म-गर्म जिस्म से मेरा दिल हौलाने लगा मगर उन पर तो जैसे भुतना सवार था और मेरे दिमाग का ये हाल कि न चीखा जाए और न रह सुकूँ।'[5]

उर्दू साहित्य के विकास में इस्मत चुकताई की खास भूमिका रही है उन्होंने मुस्लिम मध्यवर्गीय परिवारों में व्याप्त सभी प्रकार के असमानताओं पर खुल्लम खुल्ला लिखा है। एक स्त्री पक्षी लेखिका के रूप में उन्होंने नारियों की आत्मनिर्भरता, स्वतंत्रता, एवं पितृसत्तात्मक समाज द्वारा थोपी गई दोहरी मान्यताओं के बारे में बताती है। प्रस्तुत कहानी के जरिए वे समलैंगिक संबंधों की अभिव्यक्ति बखूबी करती है कइसी दृष्टि से यह एक क्रांतिकारी कहानी बनती है, जो चुगताई को एक हिम्मतवर लेखिका के रूप में साबित करती है।

सन्दर्भ :

1. इस्मत चुकताई, ऋषभ देवशर्मा से साक्षात्कार
2. इस्मत चुकताई, ऋषभ देवशर्मा से साक्षात्कार
3. इस्मत चुकताई, लिहाफ, पृ .8
4. इस्मत चुकताई, लिहाफ,पृ. 8
5. इस्मत चुकताई, लिहाफ,पृ.9

हिन्दी विभाग, कुसाट,
केरल-682022

संजीव की कहानियों में आदिवासी चिंतन

– डॉ. मीनाक्षी चौधरी

संजीव समकालीन साहित्य के ऐसे रचनाकार हैं, जिनकी रचनाओं में स्त्री, दलित और आदिवासी चेतना के स्वर समान रूप से मुखरित हैं। संजीव का जन्म उत्तर प्रदेश के जिला सुल्तानपुर के एक छोटे से गाँव बाँगरकला के एक बेहद गरीब किसान परिवार में हुआ था। संजीव का पैतृक गाँव बाँगरकला ब्राह्मण एवं ठाकुरों का गाँव था। गाँव के सामंतों के जानलेवा शोषण और अपनी खून चूसने वाली गरीबी से तंग आकर संजीव के पिता गाँव छोड़कर कुलटी आ गये। लेखक की किशोरावस्था तो धार्मिक ढकोसलों में गुजरी, बाद में उन्होंने चेखव, दोस्तोवेस्की, गोर्की, तालस्ताय, ओ हेनरी, लू-शून, सार्त्र, कामू, काफ्का, रवीन्द्र, शरत, प्रेमचन्द आदि को जमकर पढ़ा। परिणाम यह हुआ कि उनके जीवन की धारा ही बदल गई। इस प्रकार एक धार्मिक संस्कारों, अंधविश्वासों की ओर आकृष्ट व्यक्ति समय के थपेड़ों के साथ परिवर्तित होता है, उसमें उत्पन्न होती है वैज्ञानिक सोच, आस-पास के जीवन व प्रकृति के प्रति जिज्ञासा, आम आदमी के प्रति सहानुभूति, व्यवस्था के प्रति आक्रोश, मार्क्सवाद की ओर आकर्षण। सन् 1965-68 ई. में आनंद मार्ग की जाति विहीन समाज की परिकल्पना ने उन्हें आकृष्ट किया, तो सन् 1968 ई. के बाद नक्सलवादी आंदोलन के जातिविहीन और वर्गविहीन समाज के सिद्धांत ने भी उन्हें प्रभावित किया। पूँजीवाद, सामंतवाद, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद के विरुद्ध जनमानस में एकता स्थापित होते देखना उनका सपना है। उनकी रचनाओं में जहाँ सामान्य जन के दुःख दर्द को अभिव्यक्ति दी गयी है, वहीं उनकी बदहाली के लिए जिम्मेदार, उनका शोषण करने वाली शक्तियों की पहचान करना एवं उनका विरोध करना संजीव के लेखन का उद्देश्य है। इसी उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए उन्होंने दलित, स्त्री, आदिवासी और निम्न वर्ग के लोगों के दुख दर्द, उनकी पीड़ा, उनके संघर्ष को अपने उपन्यासों और कहानियों के द्वारा अभिव्यक्ति दी है।

प्रसिद्ध साहित्यकार राजेन्द्र यादव कहते हैं कि संजीव अपनी कहानियों पर जितनी मेहनत करते हैं, दूसरे लेखक उतनी मेहनत उपन्यासों पर भी नहीं करते हैं। उनके ब्यौरे जानने की इसी आदत ने उन्हें आदिवासी समाजों और उनकी समस्याओं से गहरे तक परिचित करा दिया है। यही कारण है कि संजीव अपनी रचनाओं में आदिवासियों की समस्या, उनकी दयनीय स्थिति, पीड़ा, दुख, आक्रोश और संघर्ष पर प्रभावी ढंग से लिख सके। वे कहते हैं, 'आदिवासी शुरू से ही मुझे संवेदित करते रहे हैं। स्वभावतः मेरे लेखन के केंद्र रहे।'[1] उन्होंने आदिवासियों की समस्याओं और संघर्षों को नजदीकी से समझकर उनके समक्ष खड़ी चुनौतियों के हल को तलाश करने की भरपूर कोशिश की है। वंचितों के प्रति अपनी प्रतिबद्ध पक्षधरता के चलते वे उन तत्त्वों की शिनाख्त कर उन्हें सार्वजनिक करते हैं, जो आदिवासी-समुदायों के पतन और विस्थापन के लिए जिम्मेदार है। देश के तथाकथित सभ्य-सुसंस्कृत समाज द्वारा आदिवासी समुदाय को संस्कृतिविहीन, भाषाविहीन, साहित्यविहीन, धर्मविहीन समुदाय स्थापित किया जा चुका है। इन्हीं तथाकथित सभ्य-सुसंस्कृत समाज के वर्णवादी, जातिवादी और सामंती

व्यवस्था के समर्थकों और पूँजीवादी व्यवस्था के दलालों, उनकी आपसी साँठ-गाँठ का वे अपनी रचनाओं में पदार्फाश करते हैं, तथा साथ ही साथ आदिवासियों को उनके प्राचीन, अलिखित, गौरवमयी इतिहास की पहचान भी कराते हैं। संजीव की आदिवासी कथा संवेदना उनकी इसी वृहत चेतना का हिस्सा है। वे यह मानते हैं कि यह दुनिया, यह सभ्यता जैसी है, इसे वैसी नहीं होना चाहिए। उनकी इस संवेदना को हम उनकी रचनाओं के माध्यम से बेहतर तरीके से समझ सकते हैं।

संजीव ग्राम्य संवेदना में रचे-बसे मूलतः गंवई संस्कार के लेखक हैं। इनकी लोक संस्कृति के प्रति गहन आस्था है। संजीव की अधिकांश कहानियाँ ग्रामीण पृष्ठभूमि की है, जिनमें लोक संस्कृति के विभिन्न संदर्भ रूपायित हुए हैं। वे लोक संस्कृति को गहन दृष्टि से देख-परखकर गहन रागात्मकता के साथ रचनाओं में अभिव्यक्त करते हैं। ग्राम्य जीवन का सजीव चित्रण करते हुए उन्होंने ग्रामीण जीवन में व्याप्त अंधविश्वासों, जादू-टोनों, झाड़-फूँक, तंत्र-मंत्रों, विभिन्न साधना पद्धतियों, आत्माओं एवं भूत-प्रेत सम्बन्धी धारणाओं का चित्रण किया है। उनकी कहानियों में आदिवासी संस्कृति के प्रति गहरा लगाव दिखायी देता है। बोडा, संथाल, थारू आदिवासियों की मानसिकता, रहन-सहन, खान-पान, रस्म-रिवाज, परम्परा, पूजा, बलि, पर्व-त्यौहार, अंधविश्वास जैसे विभिन्न मूल्यवान संदर्भों की अभिव्यक्ति उनकी कहानियों में हुई है।

संजीव शोषित एवं पीड़ित वर्ग के लेखक हैं। उन्होंने अपनी कई कहानियों में आदिवासी जीवन और आदिवासियों की पीड़ा को अभिव्यक्त किया है। आदिवासी जीवन को आधार बनाकर लिखी गई कहानियों में 'प्रेतमुक्ति', 'जीवन के पार', 'टीस', 'गुफा का आदमी', 'आप यहाँ है', 'ऑपरेशन जोनाकी' प्रमुख हैं। संजीव ने अपने लेखन के बारे में स्वयं कहा है, 'देश के लाखों दलित, दमित, प्रताड़ित, अवहेलित जनों की जिजीविषा और संघर्ष का मैं ऋणी हूँ जिन्होंने वर्ग, वर्ण, भाषा, सम्प्रदाय के तंग दायरों को तोड़ते हुए शोषकों, दलालों, कायरों के विरूद्ध मानवीय अस्मिता की लड़ाई लड़ी है और लड़ रहे हैं। मेरा लेखन उससे ऋण मुक्ति की छटपटाहट भर है।'[2] प्रेतमुक्ति कहानी में लेखक एक तरफ आदिवासियों की मेहनतकश और अभावग्रस्त जिन्दगी के दुःख-दर्द को चित्रित करते हैं, तो दूसरी ओर मुखिया जी और सुरेन्दर जी जैसे सामंतों की सामंती व्यवस्था के प्रेत से प्रेत मुक्ति दिलाते हैं। इस कहानी में यहाँ के वनवासियों के मेहनतकश किन्तु अभावग्रस्त जीवन के दुख-दर्द का चित्रण है। गाँव की राजनीति के केन्द्र में हैं - मुखिया और उसका बेटा सुरेन्द्र। कहानी में डॉक्टर मुर्तजा कथावाचक को मुखिया जी के बारे में बताते हुए कहते हैं, 'यह अस्पताल तो अस्पताल; थाना, कचहरी और आगे तक, मजाल है कोई चूँ कर दे जरा उनके खिलाफ! आज तक कोई यह नहीं जान सका कि उनकी जमीन कितनी है और कितनी हैं औरतें! ...जानने का सवाल ही पैदा नहीं होता, हदबंदी के बाद की जमीन दूसरों के नाम है, जो उन्हीं के मजदूरी करते हैं'[3] उच्च वर्ग के सामंत हदबंदी कानून में सुराख कर और रसूखदारों से सांठ-गांठ कर सीमा से बाहर वाली जमीनें अपने मजदूरों व रिश्तेदारों के नाम कर इन जमीनों के वास्तविक मालिक बने रहे। इसका सीधा नुकसान भूमिहीन मजदूरों और आदिवासियों को हुआ और वे स्वतंत्रता के बाद भी इन जमीनों के मालिक नहीं बन सके।

मुखिया जी के शोषण के चलते मनुष्य एवं पशु भयानक कुपोषण के शिकार हैं, 'छोटे-छोटे इंसानों, बौनी औरतों की बहुतायत। गाय-बकरी तक छोटे-छोटे, फसलें तक मरी मरी, कायदे का भोजन तक मयस्सर नहीं।'[4]'प्रेतमुक्ति' कहानी के बौने पुरुष, स्त्रियाँ, छोटे छोटे पशु, मरी मरी सी फसलें, कुत्ते से भी कमजोर बाघ कई पाठकों को अतिशयोक्तिपूर्ण लग सकते हैं, लेकिन लेखक ने इनको टुडी में साक्षात रूप में देखा है। इस आदिवासी अंचल की (धनबाद का पहाड़ी क्षेत्र) परिस्थितियों ने संजीव को प्रेतमुक्ति कहानी लिखने के लिए प्रेरित किया। कहानी के अंत में जगेसर सुरेन्द्र की हत्या कर गाँव को सामंतवादी शोषण से मुक्ति दिलाता है, किन्तु यहाँ सामंत की हत्या किसी सामूहिक चेतना का परिणाम नहीं है। हाँ, इसे चेतना के अहसास का आरम्भिक बिंदु माना जा सकता है। प्रेतमुक्ति को लेखक ने क्षय हो रही प्रजातियों और क्षयमान शौर्य की संधानगाथा कहा है।

'ऑपरेशन जोनाकी' कहानी के अनिमेष दा देशभक्त, कर्तव्यनिष्ठ, सनकी और कटखने पुलिस अफसर हैं, जिन्हें शीर्षस्थ अधिकारियों नें जानबूझकर जोनाकी गाँव के उद्दण्ड किसानों और मजदूरों से निबटने के लिए चुना है। नौकरी के आखिरी पड़ाव तक आ पहुँचे अनिमेष दा कभी समझ ही नहीं पाए कि सत्ता द्वारा कानून और कर्तव्य की आड़ में देश की ईमानदार और सत्यनिष्ठ संतानों का खून करवाने के लिए उन्हें एक जरिये की तरह इस्तेमाल किया जाता रहा है। आँखें मूंदकर कर्तव्यनिष्ठता के पथ पर चलने की सजा वे अपने पुत्र को और पुत्र-तुल्य युवक चिन्मय को गँवा कर पा चुके हैं। कहानी के आखिर में वे आदिवासियों में चेतना का संचार करने वाले युवक सत्येन और गाँव के आदिवासियों कें खिलाफ चलाए जाने वाले मिशन का हिस्सा बनने से इंकार कर देते हैं। असामाजिक कौन है ? का उत्तर देते हुए अनिमेष दा कहते हैं, 'ये वन विभाग के कुछ भ्रष्ट कर्मी और कुछ वैसे ही भ्रष्ट महाजन, अफसर, जोतदार और इनके गुर्गे.....यही हैं न आपके शांतिप्रिय प्रतिष्ठित नागरिक....? आखिर ये त्रस्त क्यों है उन भूमिहीन चासा और आदिवासियों से? गाँव की दस लाइसेंस शुदा और बीस अवैध बन्दूकें तो इन्हीं पास हैं।'[5] कुछ ऐसे ही विचार डॉ. रामदयाल मुंडा के हैं 'बार बार यही बात कही जाती है कि आदिवासियों को मुख्य धारा में लाना है, पर मैं कहता हूँ कि कहाँ है मुख्य धारा। मोटे तौर पर जो आक्रांता रहे हैं वही तो मुख्यधारा है।'[6] सच तो यह है कि विकास की आड़ में आदिवासी समाजों तक विकास की विकृतियों और विद्रूपताओं को पहुँचाने वाला सभ्य समाज अपनी चोर इच्छा में उन्हें पिछड़ा और आदिम बनाए रख कर ही अपना वर्चस्व और समृद्धि बढ़ाते रहना चाहता है।

आदिवासी समाज को चित्रित करती, लोककथात्मक शैली में लिखी गई कहानी 'जीवन के पार' मानसिंह सुंडी और बामइ तिर्की की अधूरी प्रेम कथा है। आदिवासी लोग बाहरी समाज के सम्पर्क में आने के बाद अपने ही लोगों का शोषण करने का जरिया बन कर जाने-अनजाने दीकू समाज के शोषण तंत्र का हिस्सा बन रहे हैं। कहानी में मजदूरों का दलाल कलवा दीकू लोगों को आदिवासियों की सप्लाई करता है। बीस बरस पहले कलवा द्वारा मजदूर बनाकर भेजा गया मानसिंह अपनी प्रेमिका बामइ की खतिर गाँव लौटता तो है, मगर दलाल बनकर। लेखक यहाँ कहना चाहते हैं कि आदिवासियों की

दुर्दशा के लिए जितनी उसकी अपनी शुष्क व निर्जीव परम्पराएँ जिम्मेदार है, उतनी ही मुख्यधारा के पूंजीपती-पोषक सरकारी तंत्र की हृदयहीनता भी, 'और कहीं से न मिले तो अपने ही आदमी को चूसो। उमर पार हो रही हो तो हो जाए, कुमारी ही मर जाए बेटी तो मर जाए - बिना मूल्य पाए ये उन्हें नहीं छोड़ने वाले।'[7] लेखक के हृदय में आदिवासी संस्कृति एवं मूल्यों के प्रति गहन लगाव एवं आस्था है, लेकिन आदिवासी समाज से जुड़ी कुप्रथाओं पर लेखक ने अपना तीव्र विरोध व्यक्त किया है।

संजीव की कहानी 'टीस' में विस्थापन का दंश झेल रहे संथालों की समस्याओं, संघर्षपूर्ण जीवन, संस्कृति, लोक-नृत्य एवं गीतों का चित्रण है। जीविकोपार्जन के लिए सपेरों का काम करने को मजबूर ये लोग जंगलों में से साँपों को पकड़कर बेचने का एवं साँपों का खेल दिखाने का जोखिम भरा कार्य करते हैं, परन्तु कठिन परिश्रम के बावजूद दो समय की रोटी का जुगाड़ बमुश्किल कर पाते हैं, शिबू काका कहता है 'सपेरा लोग का जीवन साँप कामड़ाने सेई जाता। हमारा बाप भी अइसेइ मरा था।'[8] वर्तमान समय में ये लोग कृषि व अन्य कार्यों को अपनाने का प्रयास कर रहे हैं, किन्तु सरकार व समाज के अन्य तबकों द्वारा इन निर्धन लोगों की सहायतार्थ कोई ठोस एवं सराहनीय प्रयास नहीं किये जा रहे हैं। इन लोगों को ज्ञात है कि इनकी मृत्यु भी अन्य सपेरों की भाँति सर्पवंश से ही होगी, फिर भी रोटी के जुगाड़ के लिए इस व्यवसाय से जुड़े रहना इनकी नियति बन चुका है। कहानी में शिबू काका का चरित्र उभरकर आया है। संजीव की कहानियों में आदिवासी समाज के सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को चित्रित करते हुए मानव चरित्र को नजरअंदाज नहीं किया गया है, दोनों में सामन्जस्य स्थापित करने में लेखक को पूर्णरुपेण सफलता मिली है।

'आप यहाँ हैं' कहानी के माध्यम से संजीव ने आदिवासी उन्नयन के काम में लगे सफेदपोश अफसरों की स्याह हकीकतों को उजागर किया है। आदिवासियों का हितैशी बनने वाला कांईयाँ अफसर वर्मा हिंदिया का शारीरिक शोषण करता है और उसकी पत्नी थाने जाकर हिंदिया पर कपड़े, बर्तन और राशन चुराने का अभियोग दर्ज करवाकर अपनी भड़ास निकालती है। हिंदिया चोरी के झूठे इल्जाम पर तिलमिला जाती है, 'हमारा वास्ते सरकार बहूऽऽत पैसा देता न! ऊ सब कहाँ जाता? उलटे हमी लोग चोर हैं? कौन चोर है, किसका चोरी कौन करता-सबका हिसाब देना होगा।'[9] आदिवासियों की शरणस्थली रहे जंगलों को सरकार ठेकेदारों से कटवा रही है, इसके लिए सरकारी अफसरों के पास सशक्त तर्क है कि शाल और महुआ के पेड़ों के न तो फल उनके काम आयेंगे न ही पत्ते। सरकार इनके स्थान पर सागवान और यूकेलिप्टस जाति के वृक्ष लगवायेगी। 'भेड़ों के रोएँ कतर देने से नये रोएँ नहीं उग आते? भेड़ मर जाती है क्या?'[10] लेखक विकास के नाम पर आदिवासियों को मात्र भौतिक सुख-सुविधाएँ दिए जाने के पक्ष में नहीं है। वे चाहते है कि नव चेतना का उन्मेष, शिक्षा का प्रकाश उन तक पहुँचे। यह परिवर्तन बिना संवाद, बिना नजदीकियों के बहुत मुश्किल है। संजीव का आक्रोश विकास योजनाओं को लेकर नहीं है, वे इन योजनाओं के क्रियान्वयन में आदिवासियों की सक्रीय सहभागिता की उपेक्षा को लेकर क्रुद्ध एवं चिंतित हैं। वे बिना संवाद और सहभागिता के योजनाओं को लाद दिए जाने के खिलाफ हैं।

संजीव एक रागात्मक तल्लीनता के साथ आदिवासी संस्कृति के वैशिष्ट्य को कहानियों में अनावृत्त करते चलते हैं। इनकी कहानियों में आदिवासी संस्कृति के जीवन्त एवं प्रभावोत्पादक चित्रण हेतु कई लोकगीतों का प्रसंगानुकूल प्रयोग मिलता है -

'स्वरग राज केतिक सुंदर हमार लगिन
सोना से सिंगरलै, रूपा सजावार लेऽऽऽ....'[11]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि संजीव एक वैचारिक चेतना सम्पन्न रचनाकार हैं, जो अपनी कहानियों में विचारों का संगुफन अत्यन्त कुशलता के साथ करते हैं। वे पढ़े-लिखे, सभ्य समझे जाने वाले समाज के दोगले चरित्र को बेनकाब करने की कोशिश करते हैं। वह कथाकार के रूप में तटस्थ तथा निरपेक्ष नहीं हैं। इनकी कहानियों में कथावाचकों की संख्या अधिक है जिनके माध्यम से लेखक अपने विचारों को व्यक्त करने से कभी नहीं चूकता है। 'दुनिया की सबसे हसीन औरत' का कथावाचक महमूद हो या 'ऑपरेशन जोनाकी के अनिमेष दा, ये कहानी में स्पष्ट रूप से लेखक विचारों के वाहक हैं। संजीव की कहानियों में 'अनुभव' और 'विचार' तत्त्व दोनों का प्रभाव दिखलाई देता है। संजीव ने यथार्थ की भूमि पर कई आदर्श चरित्रों का निर्माण किया है। उनके माध्यम से लेखक ने एक उम्मीद को बरकरार रखा है कि आने वाला कल निराशापूर्ण नहीं है। कहानियों में युवा नेता एक आशा की किरण बनकर आये हैं। 'ऑपरेशन जोनाकी' के सत्येन और चिन्मय, 'प्रेतमुक्ति' का डॉक्टर राहुल ऐसे ही पात्र हैं। कहानीकार को उम्मीद है कि यह युवा पीढ़ी आदिवासियों के संघर्ष को सही दिशा और प्रतिनिधित्व प्रदान करेगी। इन कहानियों में ये युवा नेता आदिवासियों, मजदूरों को एकत्र करने में सफल नहीं होते हैं लेकिन वे प्रयासरत नजर आते हैं। इनकी असफलता यह बताती है कि वर्तमान समय में आदिवासियों, मजदूरों के संघर्ष की दशा व दिशा सही नहीं है किन्तु उम्मीद अभी बरकरार है। लेखक की कहानियाँ सहानुभूति और विवशता के भाव के साथ समाप्त नहीं होती अपितु आदिवासियों द्वारा अपने हित-अहित को समझने, शत्रु को पहचानने और अपनी प्रतिरोधक ताकतों को संगठित करने का हौसला देती हैं।

संदर्भ :

1. संजीव, टीस, दस प्रतिनिधि कहानियाँ, चयन का आधार, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृ. 29
2. संजीव, संजीव की कथा यात्राः पहला पड़ाव, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ. 10
3. संजीव, प्रेतमुक्ति, प्रेतमुक्ति, दिशा प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996 ,पृ. 10
4. संजीव, प्रेतमुक्ति, प्रेतमुक्ति, दिशा प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996 ,पृ. 11
5. संजीव, ऑपरेशन जोनाकी, दस प्रतिनिधि कहानियाँ, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृ. 69
6. संजीव, ऑपरेशन जोनाकी, दस प्रतिनिधि कहानियाँ, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृ. 69
7. संजीव, जीवन के पार, खोज, दिशा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002, पृ. 145

8. संजीव, टीस, दस प्रतिनिधि कहानियाँ, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृ. 29
9. संजीव, आप यहाँ हैं, आप यहाँ हैं, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984, पृ. 72
10. संजीव, आप यहाँ हैं, आप यहाँ हैं, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984, पृ. 65
11. संजीव, आप यहाँ हैं, आप यहाँ हैं, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984, पृ. 65

सह आचार्य, हिन्दी
राजकीय डूँगर महाविद्यालय, बीकानेर (राजस्थान)

'समीचीन' के लिए शुभकामनाओं सहित

श्रीमती सुनीता गुप्ता

पूर्व हिंदी विभागाध्यक्ष
एल. एस. रहेजा कॉलेज
सांताक्रुज (पश्चिम),
मुंबई - 400 054

हिंदी कहानियों में पल्लवित दिव्यांग विमर्श : आत्मनिर्भरता एवं जिजीविषापूर्ण कहानियों का निरीक्षण

- वैशाली सिंघल

आदिकाल से ही समाज में दिव्यांगों के प्रति उपेक्षा का भाव रहा हैं। वह सदैव ही दीन - हीन, दया और उपहास के पात्र समझे जाते रहे हैं। परंतु अब वर्तमान युग परिवर्तन की दिशा में संलग्न हैं। अतः हिंदी साहित्य में इक्कीसवीं सदी के प्रारंभ में ही दिव्यांग-विमर्श उर्फ विकलांग-विमर्श का सूत्रपात हुआ। यह नव विमर्श दिव्यांगों हेतु मात्र दया या सहानुभूति के भाव को महत्व न देकर दिव्यांगों को आत्मनिर्भर, साहसी और कर्तव्यनिष्ठ बनाने हेतु अग्रसर है। हिंदी कहानियों में यह विमर्श अन्य विधाओं से अपेक्षाकृत अधिक विकसित दिखाई देता है। प्रस्तुत शोध पत्र में हिंदी कहानियों में दिव्यांगों की जिजीविषा, आशा एवं उत्साह, आत्मनिर्भरता आदि प्रशंस्य भावों का तथ्यानुसंधान हैं। हिंदी साहित्य का आधुनिक काल भारत की नवोदित परिवर्तनशील परिस्थितियों, समाज के नवीन दृष्टिकोण और बदलाव के साथ-साथ साहित्य में भी नए युग का दौर है। आधुनिक काल के अंतर्गत अनेक विधाओं, रचनाओं एवं विमर्शों का सूत्रपात हुआ। नवोदित विमर्शों में स्त्री विमर्श, दलित विमर्श,आदिवासी विमर्श का उत्थान हुआ। विमर्श अर्थात् पददलित, पीड़ित, शोषित, वंचित वर्ग हेतु सशक्त स्वर उत्पन्न करना। इन विमर्शों द्वारा शोषित समाज की आवाज बुलंद हुई तथा वह अपने अधिकारों हेतु उठ खड़ा हुआ।

20वीं सदी के प्रस्तुत विमर्शों के पश्चात वर्तमान 21वीं सदी में विभिन्न नवीन विमर्शों का आगमन हो रहा हैं। जिनमें से एक दिव्यांग विमर्श (विकलांग विमर्श) नवांकुरित विमर्श है। 21वीं सदी का यह नव विमर्श जाति, लिंग, वर्ण, वर्ग आदि से रहित मनुष्यता का विमर्श है जो सकलांग और दिव्यांग समुदाय के मध्य समानता का आग्रही है। कोई भी मनुष्य जन्म पर्यंत अथवा जन्म पश्चात किसी दुर्घटना, रोग या अन्य विकार के कारण दिव्यांगता का शिकार हो सकता है। समाज में दिव्यांग समुदाय के प्रति सकलांगों की मनःस्थिति में बदलाव लाना, सकलांग समुदाय के भीतर दिव्यांगों के प्रति सहानुभूति और सम्मानपूर्वक दृष्टिकोण से देखने का भाव विकसित करना ही इस विमर्श के केंद्र में है। साथ ही दिव्यांग समुदाय के अन्दर जिजीविषा, आशा और उत्साह के भाव सृजित करना एवं उन्हें शिक्षा, पुनर्वास, विशेष उपकरण आदि अन्य सुविधाओं के द्वारा समाज की मुख्य धारा में शामिल करना इसका ध्येय हैं। विश्व में दिव्यांगो की जनसंख्या के संदर्भ में - 'यू.न.ओ. का सर्वेक्षण दस प्रतिशत आबादी की पुष्टि करती है। विश्व के इतने वृहद-विस्तृत समूह की संवेदना को शून्य कर देना क्या मानवीयता के मान को मिटाना नहीं कहा जायेगा? इनकी समस्याओं को समझना, संघर्ष को महसूसना और संवेदना से समरस होना आधुनिकता का आग्रह आभासित होता है। लिंग और जाति से रहित यह विमर्श विशुद्ध मानवतावादी दृष्टि पर केंद्रित है।'[1]

दिव्यांगता का वृत्त विस्तृत है तथा इसका स्वरूप भी अत्यंत व्यापक है। दिव्यांगता जन्मतः भी हो सकती है अथवा जन्म पश्चात् भी। दिव्यांगता के अनेक कारण हो सकते हैं, जिनमें से प्रमुख हैं - जन्मतः, वृद्धावस्था, रोगजन्य अथवा दुर्घटनाग्रस्तता आदि।

कोई व्यक्ति समग्र सकलांग जीवन व्यतीत करने के पश्चात भी जीवन की किसी अन्य अवस्था में किन्हीं कारणों से दिव्यांगता से ग्रस्त हो सकता है। दिव्यांगता के अनेक प्रकार हैं जिनमें से कुछ प्रमुख ये हैं - दृष्टिबाधित दिव्यांगता,अस्थिबाधित दिव्यांगता, श्रवणबाधित दिव्यांगता, मानसिक दिव्यांगता आदि। भारत सरकार द्वारा दिव्यांगजन अधिकार अधिनियम 2016 में दिव्यांगता को 21 प्रकारों में विस्तारित किया गया है।

हिंदी कहानियों में दिव्यांग विमर्श के बीज यद्यपि प्रेमचंद युगीन कहानियों में दृष्टिगोचर होते हैं परंतु एक विमर्श के रूप में यह सामयिक युग में प्रस्फुटित हुआ है। सर्वप्रथम प्रेमचंद जी ने हाशिए के पात्रों को केंद्रित कर चित्रांकन किया जिसमें दिव्यांग चरित्रों को भी यथास्थान मिला। उनके उपन्यासों के साथ ही कहानियों में भी इस चेतना की चर्चा द्रष्टव्य हैं। उनके द्वारा लिखित 'पत्नी से पति कहानी' में दिव्यांगों के देश-प्रेम चरित्र को ऊंचाई पर प्रस्थापित किया गया हैं। यह रचना स्वाधीनता आंदोलन में दिव्यांगों के राष्ट्रीय उत्सर्ग चरित्र को विवेचित करती है। हिंदी कहानी की विकास यात्रा में प्रेमचंद युगीन एवं प्रेमचंदोत्तर युगीन कहानियों में दिव्यांग समुदाय से संबंधित कहानियां प्रशंसनीय रूप में अभिव्यंजित हुईं हैं। इन कहानियों में न केवल दिव्यांगों की समस्याएं, चुनौतियां ही अभिव्यक्त हुई है, अपितु जीवन के प्रति दिव्यांगों की जिजीविषा, आशा एवं उत्साह, आत्मनिर्भरता, साहस तथा उर्जस्विता भी अवलोकनीय हैं। दिव्यांगों की आत्मनिर्भरता के संबंध में डॉक्टर हीना पाठक लिखती हैं - 'दिव्यांग जो होते हैं वह दृढ़ निश्चय वाले होते हैं। कुछ बातें उनमें सभी सामान्य लोगों से खास होती है और यही खास बातें उनको सबसे अलग करती हैं।'[2] हिंदी कहानियों में दिव्यांगों के अदम्य साहस, आत्मविश्वास, आशा, उत्साह एवं जिजीविषा के दिग्दर्शन होते हैं जिनका विवेचन-विश्लेषण निम्नवत हैं -

1. जन्मतः दिव्यांगता पर स्तंभित कहानियाँः- दिव्यांगों की प्रथम श्रेणी जन्मजात दिव्यांगता से पीड़ित व्यक्तियों की कहानियाँ हैं। प्रसिद्ध कहानीकार उदय प्रकाश की कहानी 'हिंदुस्तानी इवान दानिसोविच की जिंदगी का एक दिन' शीर्षक कहानी एक ऐसे मध्यवर्गीय परिवार की कथा है जिस घर में तीन बच्चे जन्मजात दिव्यांगता से पीड़ित अवस्था में जीवन जीने हेतु विवश है एवं उनकी वृद्ध मां भी शिथिल और जर्जर अवस्था में पहुंच चुकी है। कहानी संदर्भ दर्शनीय हैं - 'उसका परिवार यों था, एक बीमार, बहुत बूढ़ी और चिड़चिड़ी गाय जैसी औरत। तीन लड़के जिनमें से मंझला गूंगा था। उसके बायें हाथ को लकवा मार गया था। सबसे छोटा हमेशा बीमार रहता था और उसको क्रॉनिक डिसेंट्री थी। एक लड़की जो दो साल पहले जाड़े के दिनों में इसी कमरे में पैदा हुई थी, हमेशा चित्त लेटी रहती थी।'[3] परंतु इन सभी जटिलताओं के बावजूद भी वह सभी जीवन से हार नहीं मानते तथापि अभूतपूर्व जिजीविषा के साथ अपने कर्मक्षेत्र में संलग्न रहते हुए जीवन पथ पर अग्रसर होते रहते हैं। साहित्यकार ज्ञानप्रकाश विवेक की 'अंधा सूरज' शीर्षक कहानी में जन्मजात सूरज के अंधा उत्पन्न होने के कारण उसकी वेदना का यथार्थपरक चित्रण दर्शनीय है। कहानी के नायक सूरज के पिता पुलिस विभाग में कार्यरत है, जिनका नाम मिस्टर दिवाकर है। उनका एक बड़ा बेटा भी है, जिसका नाम अजय है तथा पत्नी सुधा है। कहानीकार द्वारा व्यक्त की गई जिजीविषा

द्दष्टव्य है - 'यह उम्र थी कि सूरज एक कमरे के टापू में पड़ा रहता।' वह खेलना चाहता परंतु उससे इसकी अपनी आँखों ने आंगन छीन लिया था। उसकी आँखें बेशक रूठी हुई थीं परंतु ऐसा लगता था कि उसके शरीर के प्रत्येक हिस्से में कोई-ना-कोई आंख मौजूद है।'[4] कहानीकार ज्ञानप्रकाश विवेक द्वारा संचारित दिव्यांगों की जीवटता उल्लेखनीय हैं। प्रसिद्ध महिला कथाकार शिवानी जी की कहानी 'कालू' का नायक कालू जन्मतः अंधा है जिस कारण उसका नाम सूरदास पड़ गया है परंतु वह बहुत मधुर गायक है। अतः वह जनमानस में विशिष्ट अंदाज की गायकी के कारण सबको आश्चर्यचकित एवं मोहित कर देता है। वह भजन कीर्तन के साथ-साथ लोकचेतना से ओत-प्रोत भजन रामप्रसादी, झूमर आदि भी पूर्ण लयात्मकता के साथ गाता हैं। तथा अंधा होने के बावजूद भी वह अपनी गायकी को आधार बनाकर आश्चर्यजनक आशा एवं उत्साह से जीवनयापन करता हैं। इसके अतिरिक्त फणीश्वरनाथ 'रेणु' की 'ठेस', संतोष श्रीवास्तव की 'गूंगी', प्रमिला वर्मा की 'प्रतिबिंब', अभिनेष जैन की 'बोलते चित्र', रेशमी पांडा मुखर्जी की 'देवी', रेनु यादव की 'दबे पांव', रेखा पालेश्वर की 'खुली आंखों का दुख' आदि कहानियों में भी जन्मजात दिव्यांगता से पीड़ित किंतु आत्मनिर्भर एवं कर्तव्यनिष्ठदिव्यांगों का जीवनचित्रण सफलतापूर्वक रेखांकित किया गया हैं।

2.रोगजन्य दिव्यांगता (पक्षाघात) पर केंद्रित हिंदी कहानियांः-रोगजन्य दिव्यांगता के अंतर्गत सर्वप्रमुख समस्या पक्षाघात की है। हालांकि पोलियो ड्राप के अभियान हेतु इस रोग में कमी दर्ज. की गई है परंतु खेद का विषय है कि यह रोग वर्तमान समय में भी विद्यमान है जो किसी भी मनुष्य के शरीर को पूरे तरीके से तोड़कर रख देता है तथा पीड़ित व्यक्ति प्रभावित अंगों को हिला पाने तक में असमर्थता महसूस करता हैं। कथाकार चित्रेश की 'मन के जीते जीत' कहानी बेजोड़ आत्मविश्वास और जिजीविषापूर्ण कहानी है। कहानी का नायक रोहन पक्षाघात के कारण एक पैर से पूर्णतः कमजोर है बावजूद इसके वह घर से निकल कर श्रम करता है, अध्ययन करता है, और कताई - बुनाई केंद्र में जाकर केंद्र प्रमुख रवि ठाकुर जी को प्रभावित करता है। वह सोचता है - 'अगर मुझे भी ठाकुर साहब केंद्र में रख लें, तो क्या ही अच्छा हो? छुट्टी के बाद रोज डेढ़-दो घंटे का काम है, आराम से सात-आठ महीने में कारीगर बन जाऊंगा। बस, फिर माँ-बाप मेरे सामर्थ्य से परिचित हो जाएंगे और उनकी मेरे बारे में जो फिक्र है, वह चुटकी बजाते ही रफूचक्कर हो जाएगी।'[5] पोलियोग्रस्त इस बालक का स्वाभिमानी, आशापूर्ण एवं जीवंतता से ओत - प्रोत व्यक्तित्व सहज ही किसी भी मनुष्य को अभिभूत कर लेगा। दिव्यांगों की इस जीवटता के अनेक उदाहरण हिंदी कहानियों में दर्शनीय हैं, जो किसी सकलांग मनुष्य को भी प्रेरणास्फूर्त करने में सक्षम हैं। दिव्यांग चरित्रों की यह कहानियां निश्चय ही पठनीय एवं प्रशंसनीय हैं। सकलांगों द्वारा दिव्यांगों के प्रति कमजोर, असहाय एवं हीन भावना रखना निस्संदेह निंदनीय हैं, अपितु दिव्यांग व्यक्ति सकलांगों से अधिक आत्मविश्वासी एवं जिजीविषापूर्ण व्यक्तित्व के धनी होते हैं, जिनकी समानता करना दुष्कर कार्य हैं। प्रसिद्ध साहित्यकार राजी सेठ की 'उन दोनों के बीच' शीर्षक कहानी भी पक्षाघात से पीड़ित दिव्यांग नायक की कहानी है, जिसमें नायक के दाहिने भाग का एक हाथ और पैर सुन्न हो गया हैं। संक्रमण की इन परिस्थितियों के

बावजूद भी दिव्यांग नायक जीवंतता के साथ जीवन व्यतीत करता है तथा वह अपने इर्द -गिर्द के सकलांगों की मनोस्थिति तक में भी उत्साह और आनंद का संचार करता है। उसका व्यक्तित्व कुछ इस प्रकार उद्भासित होता है - 'हमारे आने पर कुछ-कुछ वैसा ही था उनका उत्साह। जीवन की तड़फड़ाहट से भरा। अपनी साधारणता में लौटने को तत्पर। उनके अपंग भाग में बिजली सी दौड़ती रही थी।'[6] कहानीकार मिराज अहमद की 'हौसला' शीर्षक कहानी एक मामूली व्यक्ति की कहानी है, जो दिव्यांगता के समक्ष हार नहीं मानता। वह दिव्यांगता को चुनौती बतौर स्वीकार कर जीवन पथ पर निरंतर अग्रसर होता है। हताशा या निराशा का भाव उसमें कभी नहीं प्रवेश कर पाता। जीवन के कर्मक्षेत्र में किस प्रकार अडिग रहते हुए आगे बढ़ना है, उसका वह साक्षात् उदाहरण हैं। साहित्यकार डॉ. सुरेखा ठक्कर की 'तीसरा पहिया' शीर्षक कहानी अत्यंत मार्मिक और दिव्यांगों की कर्मठ आत्मनिर्भरता की व्यथा कथा है। प्रस्तुत कहानी में नायक अनुज पोलियो के प्रकोप से पीड़ित है, परंतु वह स्नातकोत्तर की उपाधि अर्जित कर शिक्षक पद ग्रहण करता है। स्वयं आत्मनिर्भर बनकर ही वह जीवन यापन करता है, जिसे लेखक के शब्दों में इस प्रकार व्यंजित किया गया है - 'अनुज की जबरदस्त जिजीविषा उसकी कमजोरियों को ताकत में बदल देती है। एम.ए. और फिर बी.एड. करके वह एक अनाथालय स्कूल में अध्यापक बना।उसके पैर बेहद पतले और कमजोर थे, कमर का बायॉ हिस्सा भी टेढ़ा था। लेकिन आत्मनिर्भर होकर वह सारी तकलीफ हँसते -हँसते झेलता।'[7] प्रस्तुत कहानी की ही एक अन्य दिव्यांग पात्र सकलांगो पर क्रोध प्रकट करते हुए कटुक्ति करती हैं - 'हम तो अधूरे हैं ताई पर जिस्म से अधूरे होने पर भी दिलोंदिमाग से पूरा बनने की हमारी कोशिश रहती हैं।'[8] डॉ. सुरेखा ठक्कर की यह कहानी दिव्यांगों की अभूतपूर्व जिजीविषा एवं कर्मठ आत्मनिर्भरता का ज्वलंत उदाहरण है। यह कहानी उन सभी सकलांगों पर कटाक्ष करती है, जो दिव्यांगों को हीनता और नकारेपन की हेयपूर्ण दृष्टि से देखने के पक्षपाती हैं। इसके अतिरिक्त डॉ कमोद जैन की 'दौड़ते कदम' शीर्षक कहानी में बंटी उर्फ नरेंद्र 1 वर्ष की आयु में ही पोलियो से ग्रस्त हो जाता है, परिणामतः उसके पैर सुन्न हो जाते हैं। परंतु अपने अथक परिश्रम द्वारा वह शिक्षा, खेलकूद, विभिन्न प्रतियोगिताओं आदि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रथम स्थान प्राप्त करता हैं। तथा पढ़ाई के बाद नौकरी और फिर ग्रामीण बच्चों को कंप्यूटर का प्रशिक्षण देता है -'काफी समय गुजर जाने के बाद निराशा के बादल छंटे तब कंप्यूटर, टाइपिंग, फोटोकॉपी, ऑनलाइन फॉर्म, कियोस्क सेंटर के साथ ही आगे कदम बढ़ाकर एसबीआई इंश्योरेंस सेक्टर में यूनिट मैनेजर की जिम्मेदारी संभालते हुए उन समस्त दिव्यांगों के लिए साक्षात संभावनाओं के जीवंत उदाहरण बने नरेंद्र।'[9]

3.रोगजन्य दिव्यांगता (कुष्ठरोग, चेचक) पर केंद्रित हिंदी कहानियांः- रोगजनित दिव्यांगों की कहानियों में कुष्ठरोग की समस्या चरम पर है। भारत ही नहीं सम्पूर्ण विश्व में लाखों लोग इससे क्षयग्रस्त है। यह रोग बैक्टीरिया टी.बी के वायरस के परिवार के अंतर्गत माइक्रोबैक्टेरिक्स लेपरी नामक वायरस से संक्रमित होकर विभिन्न नर्वस को क्षतिग्रस्त करके अंगों को गलित करने लगता है, परिणामस्वरूप त्वचा पर इसका गंभीर प्रभाव दिखाई देने लगता है और श्वसन तंत्र में भी प्रतिरोध उत्पन्न हो जाता है। इस रोग

से पीड़ित दिव्यांग व्यक्तियों पर केंद्रित कहानियों में लेखिका शिवानी की 'करिए छिमा' शीर्षक कहानी अत्यंत लोकप्रचलित और महत्वपूर्ण कहानी है। प्रस्तुत्य कहानी एक विदेशी चित्रकार की व्यथा कथा है, जो वन्याचल में पादरी बनकर आता है तथा कुछ ही दिनों में वह कुष्ठ रोगी हो जाता है। परंतु वह लड़खड़ाते पैरों और ठूंठ से हाथों के द्वारा भी गुफा में अलौकिक भित्ति चित्र बनाकर अनुपम कलाकार सिद्ध होता है। वह हाथ में कुदाली लेकर श्रमिक भी बन जाता है। वह परोपकारी, कर्मठ, जुझारू और उदारमना व्यक्ति है, जो जीवन में दिव्यांगता का शिकार होने के बावजूद भी हार नहीं मानता। इन कहानियों के अतिरिक्त लेखिका चंद्रकांता की 'मामला घर का', शिवानी की 'ललिता', त्रिभुवन पाठक की 'उसने हार नहीं मानी', आदि कहानियां दिव्यांग विमर्श के प्रादर्श है। उपर्युक्त श्रेणियों से इतर अन्य कारणों से दुर्घटित दिव्यांगता की कहानियों में निश्तर खानकाही की 'आधा हाथ : पूरा जीवन', मृदुला सिन्हा की 'कटे हाथ में हथियार', उषाकिरण शुक्ला की 'पहचान', मोहन राकेश की 'लड़ाई', डॉक्टर श्री प्रसाद की 'बैसाखी', डॉक्टर लता अग्रवाल की 'मन के हारे हार', ज्ञान प्रकाश विवेक की 'अंधेरे के खिलाफ' आदि अनेक कहानियों में दिव्यांगों की व्यथा कथा निसृत हुई हैं। ये कहानियां दिव्यांगों की जीवटता का जवलंत दस्तावेज हैं। जो हिंदी साहित्य के भंडार गृह को नवोदिप्त कर दिव्यांग विमर्श को पुष्पित करने में फलीभूत हुई हैं।

निष्कर्ष स्वरूप वर्तमान 21वीं सदी में उद्भासित दिव्यांग विमर्श अभिनव विमर्श है, जो किसी लिंग जाति से परे है। तथा यह दिव्यांगों और सकलांगों के मध्य समानता स्थापित करने के साथ ही दिव्यांगों में आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता और उत्साह का संचार करने में भी सक्षम हुआ है। हिंदी की विभिन्न कहानियों में दिव्यांगों की आत्मनिर्भरता को केंद्रित किया गया है, ताकि समाज में दिव्यांगों के भीतर आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता और जिजीविषा प्रस्फुटित की जा सके। तथा सकलांगों की मनोवृत्ति में भी परिष्कार किया जा सके। कहा जा सकता है कि इन विमर्शकारों की कहानियाँ दिव्यांग विमर्श की सिद्धि में उपयुक्त साधन बनकर सफल प्रमाणित हुई है।

संदर्भ :

1. कश्यप, आनंद (संपा) - विकलांग-विमर्श विविध सोपान, पंकज बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2022, पृ. संख्या 7।
2. वही, पृ. संख्या 58।
3. पाठक, विनय कुमार, 'विकलांग-विमर्श दशा और दिशा', भावना प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2021, पृ. संख्या 147।
4. वही, पृ. संख्या 152।
5. अस्थाना, रोहिताश्व (संपा.), 'सौ श्रेष्ठ बाल कहानियां', गोल्ड लाइन बुक्स, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण, 2003, पृ. संख्या 263।
6. सेठ, राजी, 'यात्रा मुक्त', भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, पृ. संख्या 112।
7. पाठक, विनय कुमार, 'विकलांग-विर्मश दशा और दिशा', भावना प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2021, पृ. संख्या 159,160।
8. वही, पृ. संख्या 160। 9. वही, पृ. संख्या 161।

शोधार्थी, हिंदी विभाग, एम.जे.पी रुहेलखंड विश्वविद्यालय (उ.प्र)

गाँवों के बदलावकी कहानी-'अग्निलीक'

- डॉ. गोविंद शिवशेट्टे

गाँव के बदलने की और न बदलने की अनकही कहानी फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने सन 1954 में 'मैला आंचल' उपन्यास के द्वारा कही थी। हिंदी तथा हिंदीत्तर भाषी पाठकों ने 'मैला आंचल' के द्वारा समग्र बिहार का दर्शन किया था। बोली-बानी, गाँव की कही- अनकही अनगिनत कहानियाँ, राजनीतिक उठापटक, नैतिक-अनैतिक संबंधों की सुगबुगाहट, गाँव-दर-गाँव फैली जातिगत व्यवस्था के रूप-कुरूप चेहरे मैला आँचल में दर्ज है। आजादी के बाद भारतीय विशेषतः बिहार के बदलते गाँव की एक और कथा हृषीकेश सुलभ ने 'अग्निलीक' उपन्यास के द्वारा प्रस्तुत की है। इस उपन्यास के बहाने फिर एक बार फणीश्वरनाथ 'रेणु' याद आए। 'मैला आंचल' का कथा क्षेत्र पूर्णिया जिले का मेरीगंज गाँव है।तो 'अग्निलीक' का कथा क्षेत्र घाघरा तथा गंडक नदी के आसपास के देवली और मनरोली गाँव है। गाँव की बदलती सूरते हाल को बड़े बारीकियों से शब्दों में बाँधा है। कथा-उपकथाओं का ताना-बाना घोसला बुनने वाली चिरैयां की भाँति बड़ी सुलभता से हृषीकेश सुलभ ने बुना है।

इस उपन्यास का आगाज शमशेर साईं की हत्या से होता है। शमशेर साईं की हत्या का हत्यारा जानने की जिज्ञासा लेखक पाठकों के मन में निर्माण करने में सफल होता है। लेखक केवल जिज्ञासा उत्पन्न कराने के लिए यह दृश्य तथा घटना प्रस्तुत नहीं करते, बल्कि लोकतंत्र का विस्तार होते-होते गाँव-गाँव पहुँचाजरूर है, किंतु लोकतंत्र के बहाने राजनीतिक षड्यंत्र, जाति-पतियों के गठजोड़ की पद्धति, जमींदारों की ताकत, सनातनी समाज संरचना के सामने सच्चा लोकतंत्र तीन बंदर बनकर तमाशबीन सा दुबका बैठा है। इसे लोकतंत्र का विस्तार कहें या लोकतंत्र का सिकुड़ता हुआ रूप या हरिशंकर परसाई के शब्दों में 'ठिठुरता हुआ गणतंत्र' कहे। इसी राजनीतिक षड्यंत्र का शिकार हुआ हैं शमसेर साईं।

देवली और मनरोलीगाँव एक ही पंचायत के अंतर्गत आते हैं। जमींदार मुखिया लीलाधर यादव और सरपंच अकरम अंसारी के बीच गाँव के पंचायत की राजनीति शतरंज के शह और मात की तरह लगातार चलती है। यूँ तो अकरम अंसारी मनरोली गाँव का है, पर कलाली का धंधा करने वाली अच्छेलाल शाह की जवान पत्नी रेशमा कलवारी को अपना दिल,गुर्दा और जिगर सब न्योछावर कर देवली का सरपंच बन बैठे हैं। शमशेर साईं अकरम अंसारी का खास आदमी है। आज उसकी हत्या हो चुकी है किंतु गाँव के सरपंच और मुखिया दोनों गायब हैं। कथा आगे जैसे-जैसे बढ़ती हैं पता चलता है कि शमशेर भाई की हत्या में अकरम अंसारी दोषी पाया जाता है और उसे पुलिस गिरफ्तार कर ले जाती है। उसेजेल की हवा भी खानी पडी है। किंतु बेवापन को झेलने के लिए गुल बानो विवश हैं।

जवार गॉव के रामआसरे यादव की बेटी जसोदा है। उसका अमरपुर के महाजन रामजस साह के बेटेलीला साह से प्यार का फेर चल रहा होता है। जब इसफेर का जसोदा के पिता को पता लगता है, तुरंत वे देवली गाँव के अकलू यादव से जसोदा का

ब्याह कर देते हैं। अकलू यादव एक छटा डकैत है। बिलट महतो के साथ मिलकर बड़े-बड़े जमींदारों को लूटने का कारनामा किया है। अकलू यादव को डकैती करते पकड़े जाने पर सात साल की सजा होती है। एक अन्य जगह डाका डालते समय गोली का शिकार होकर अकलू यादव मारा जाता है। तब तीन माह का बच्चा जसोदा के गर्भ में बढ़ रहा था, जो आगे चलकर देवली गाँव का मुखिया लीलाधर यादव के रूप में सामने आता है। लीलाधर यादव के इर्द-गिर्दहीसमग्र कथाओं का खाका तैयार हुआ है।

आलोच्य उपन्यास में मुख्य कथा के साथ उपकथाएँ बड़ी बेबाकी से जोड़ी गई है। रेशमा की कथा, अकरम अंसारी, नाज बेगम, गुलबानो, मुन्नी बी, मुन्ने मियॉ, रजत पासवान, नासेर साईं इन चरित्रों की उपकथाओं कोमुख्य कथा के साथ नजाकत से जुड़ा है। इन सभी उपकथाओं में रेशमा कलवारिनकी कथा अधिक प्रभावी है। रेशमा अच्छेलाल शाह की पत्नी हैं, जोकि कलाली का धंधा करती है किंतु आगे चलकर अंसारी के घर से बेदखल हुई गुलबानों को वह सहारा देती है। कलाली का धंधा बंद कर 'रेशमा शृंगार स्टोर' की दुकान खोल देती है। कल तक दबी-दबी सी रहने वाली रेशमा एक निडर और साहसी स्त्री के रूप में उभरती हैं। अंसारी को भरे बाजार में पटक कर मारना इस बात का परिचायक है। जहीर कुरेशी के गजल का शेर बड़ा सटीक लगता है-

'जब भी औरत ने अपनी सीमा- रेखा को पार किया
पार-गमन से पहले खुद को कितने दिन तैयार किया'[1]

रेशमा को पता था कि, अकरम अंसारी से पंगा लेने का अंजाम क्या होगा किंतु अंजाम की परवाह किए बिना लड़ने पर उतर आना आपने आप में परिवर्तन का परिचायक है।

लेखक ने प्रस्तुत उपन्यास द्वारा स्त्रियों की व्यथा कथा कोभी अत्यंत प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त किया है। गुलबानो शमशेर सॉईं की बेवा औरत हैं। इनका पूरा परिवार अकरम अंसारी के लिए काम करता रहा है किंतु पति शमशेर सॉईं की हत्या के बाद सब कुछ बदल गया।अंसारी ने शमशेर साईं की बहन मुन्नी बी को एक रखेल के रूप में इस्तेमाल किया है। शमशेर सॉईं की हत्या के आरोप में अकरम अंसारी को पुलिस पकड़ कर ले जाती है तब उसकी नाज बेगम अपनी बेगमी रुतबे को चलाकर मुन्नी बी को घर से बेदखल कर देती है। मुन्नी बी को गुलबानो ही सहारा देती है। आगे मुन्नी बी अपाहिज नासिर साईं से निकाह कर जिंदगी में सहारा तलाशना चाहती है। हाँलांकि नासेर सॉईं खुद दोनों पैरों से अपाहिज है। लेखक ने यहाँ स्त्री का अस्तित्व बिना पुरुष के खतरे से खाली नहीं है इस बात को आधोरेखित किया है।

प्रेम सबका चहेता विषय रहा है किंतु प्रेम में बँधे दो प्रेमियों के एक जगह आने का समय जब आता है तब इसी प्रेम के बीच कई तरह की दीवारों को खड़ा कर दिया जाता है। समाज प्रेम करने वालों के साथ कम, विरोध में अधिक हाथ बटाता दिखाई देता है। इस उपन्यास में भी दो प्रेम कथाओं की छोटी निर्झर प्रेमधारा प्रवाहित होती है, किंतु देखते-देखते प्रेमधारा मातम में बदल जाती हैं। पहली प्रेम कथा हैं रामअवतार यादव की बेटी जसोदा और लीलाधर शाह की, जो घाघरा नदी के तट पर निर्झर रूप में बहने

लगी थी। रामाअवतार यादव को इसकी भनक लगते ही जसोदा को बिन बताए देवली के अकलू यादव के साथ ब्याहितकर दी जाती हैं। जसोदा चाह कर भी कुछ नहीं कर पाती है, मन मसोसकर डकैत अकलू यादव की पत्नी बनकर जिबह हो जाती है। डकैती के जुर्म में अकलू यादव को जेल होने के बाद अपने बेटे का नाम लीलाधर रख अपने प्रेमी लीलाधर शाह की कमी को इस रूप में पूराकरती है।

दूसरी प्रेम कथा है, मनोहर और रेवती की। मनोहर और रेवती पढ़ने लिखने वाले दो होनहार छात्र हैं। मनोहर रजक मानिकपुर का रहने वाला जो सिवान में अंग्रेजी में पढ़ रहा है। रेवती लीलाधर यादव के बेटे रमन सिंह यादव की बेटी है। दादा लीलाधर यादव और दादी कुसुमा देवी की लाडली है। मॉ जसोदादेवी को अंतिम समय में लीलाधर यादव ने वचन दिया था कि, रेवती की पढ़ाई बंद नहीं करेंगे। इसी वचन को निभाने की खातिर रेवती सिवान मेंपढ़ने आयी हैं। इसी बीच मनोहर रजक से उसकी पहचान और नजदीकी बढ़ती चली जाती है। मनोहर रजक एक निम्न जाति का लड़का है।डिग्री होने पर मनोहर कलेक्टर की पढ़ाई के लिए पटना कॉलेज में दाखिला लेकर प्राइवेट कोचिंग सेंटर में अध्ययन करने लगता है। इधर रेवती भी जिद करके पटना के उसी कॉलेज में दाखिला लेती हैं जहाँ मनोहर ने दाखिला लिया था।मनोहर और रेवती का मिलना-जुलना बढ़ते गया। इस बात की खबर भाई सुजीत को लग जाती हैं। सुजीत घर आकर काफी हंगामा खड़ा करता है। इसी बीच गाँव में चुनाव के ढोल मंजीरे बजते हैं। आरक्षण के तहत मुखिया और सरपंच की सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित हो जाती हैं। लीलाधर यादव किसी भी हालात में मुखिया पद जाने नहीं देना चाहता है। इसलिए रणनीतिक खाका तैयार करता है और पटना में पढ़ने वाली रेवती को मुखिया पद के लिए और कलवारी रेश्माको सरपंच पद के लिए खड़ा किया जाता है। गाजे-बाजे के साथ लीलाधर यादव गाँव वालों के सामने दो प्रत्याशियों के नामों का ऐलान करते हैं। हालांकि रेवती इस बात के लिए कतई तैयार नहीं है किंतु उसेकिसी भी तरह से तैयार किया गया है। चुनाव का प्रसार-प्रचार सिवान पर चढ़ जाता है। एक दिन रेवती सिवान के लिए निकलती है और जाते-जाते मानिकपुर होते हुए मनोहर रजक को मिलकर आती है। रेवती के वापस देवली पहुँचने से पहले उसके मानिकपुर होते हुए सिवान जाने की और मनोहर रजक के घर रुकने की खबर सुजीत सिंह यादव तक पहुँच चुकी थी। इस घटना से पहले से क्रोधित सुजीत ओर अधिक तिल-मिला जाता है। मन ही मन कुछ इस पर गंभीर रूप में वह सोचता हुआ घर से तुनक कर निकल जाता है।

वैशाख की धूप की भांति चुनाव का ज्वर देवली गाँव में चढ़ता जा रहा था। चुनाव प्रचार के अंतिम दिन की साँझ थी। लीलाधर यादव, रमन सिंह यादव, रेशमा, रेवती सब थक चुके थे। सब परेशान थे कि सुजीत यादव कहाँ है। उतने में लीलाधर यादव का मोबाइल बज उठता है और लीलाधर यादव हाँ-हाँ कहते-कहते लड़खड़ा कर गिर पड़ते हैं' उनका मोबाइल किसी और जगह पर जाकर गिर पड़ता है पटना के कदम कुआं थाने से फोन था सुजीत सिंह यादव ने भगीरथी लॉज में मनोहर रजक नाम के छात्र की गोली मारकर हत्या कर दी और मौका-ए-वारदात से सुजीत को गिरफ्तार कर लिया गया है। पुरानी पीढ़ी के जसोदा की प्रेम कहानी हो या नई पीढ़ी के रेवती और मनोहर रजक की

प्रेम कहानी दोनों प्रेम कहानियों का अंत बेहद अफसोस जनक हुआ है। प्रेम करने वालों के प्रति आज भी समाज की सनातनी मानसिकता जस की तस बनी हुई है इसे भी इस उपन्यास में अधोरेखित किया है।

आलोच्य उपन्यास बिहार के गाँव के बदलाव की कहानी कहते-कहते स्त्री की स्थिति और गति में बदलाव नहीं हो पाया। आज भी स्त्री विपदात्मक जीवन जीने को विवश है। जसोदा, रेशमा कलवारी, गुलबानो, रेवती जैसी स्त्रियाँ आज भी पुरुष के आश्रय में नरक यातनाओं को झेल रही हैं। अकरम अंसारी के जेल जाने के बाद नाच बेगम मुन्नी को भी घर से हटा देती है जैसे तैसे गुलबानो के यहाँ मुन्नी पनाह पाती है। न चाह कर भी उसे लगता है कि, कब तक गुलबानो पर वह बोझ बनी रहेगी इसलिए अपाहिज नासिर साईंसे निकाह करने को वह लाचार हैं कहती है - 'कवनो ठौर तो चाहिए।' जिनगी काटने के लिए कोई घर तो चाहिए। कहिया तक तुम्हारे चलेगी जिनगी?... निकाह किया होता अकरम ने तो आज बेसहारा तो न होती।'[2] अकरम अंसारी जैसी पुरुष व्यवस्था ने स्त्री को इस्तेमाल मात्र रख छोड़ा है। सहारा पाने के लिएसमझौता मात्र स्त्री को ही करना पड़ता है। रेवती आधुनिक पढ़ी लिखी स्त्री है। पढ़ते-पढ़ते मनोहर को पाना चाहती है। वह अपने मन मुताबिक जीवन जीना चाहती है।वहअपने परिवार जनों के विरोध को झेल रही हैं। उपन्यास में वह एक जगह मनोहर रजक से कहती है 'तुम नहीं समझ सकते मनोहर। तुम सिर्फ गरीबी से लड़ रहे हो' जाति से लड़ रहे हो। मैं एक लड़की हूँ और अपने से कई गुना ताकतवर हर जाति और धर्म के पुरुषों से लड़ रही हूँ। तुम्हारी दरिद्रता और जाति कुछ देर के लिए तुम्हारे मनोबल को तोड़ सकती है, पर मैं जिन से लड़ रही हूँ, यह लोग बाबा पिता भाई या परिजन होने हुए भी मेरी पूरी जिंदगी तबाह कर सकते हैं।'[3] और जिस बात का डर रेवती को था वही हुआ उसके अपने परिजनों ने रेवती से उसकी पढ़ाई का कैरियर छीन लिया। वह जिससे प्यार करती थी उस मनोहर रजक की भी हत्या कर दी गई स्पष्ट है कि पुरुष व्यवस्था के आगे हारने वाली जसोदा, रेशमा, मुन्नी बी. हो या रेवती एक लंबी परंपरा मिलती है समाज बदल रहा है की घोषणाएँ नारे बाजी के रूप में अच्छे लगते हैं किंतु समाज का यथार्थ रूप उपन्यास प्रस्तुत करता है। यहाँ की सामंती संरचना में हो रहे अन्दरूनी बदलावों को भी सामने ले आते हैं।

संदर्भ :

1. मैंला आंचल -फणीश्वर नाथ रेणू-राजकमल प्रकाशन ,नयी दिल्ली
2. दाता पीर -हृषीकेश सुलभ -राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
3. जहीर कुरेशी की गजल-साहित्य सौरभ

सहयोगी प्राध्यापक
महाराष्ट्र महाविद्यालय, निलंगा,
जिला लातूर ४१३५२१

संबंधों पर पड़ते तनाव का सच

- डॉ. सिन्धु जी नायर

सामाजिक विषमताओं और विसंगतियों के परिणामस्वरूप व्यक्ति मन में असंतोष और असुरक्षा की भावना उत्पन्न हो गई, जिसके कारण तनाव, संत्रास एवं घुटन की स्थिति बनती देखी गई। तेजी से बढ़ती जाती आर्थिक विषमता, महँगाई और भ्रष्टाचार की समस्याओं ने पीढ़ियों के द्वन्द्व को अधिक व्यापक और उग्र बना दिया है। निम्न वर्ग गरीबी और अभाव को झेलता है। वह वर्ग भूख की लपेट में जल रहा है। इनके साथ ही मध्यवर्ग भी अपनी अभावग्रस्तता को सह रहा है। मध्यवर्ग हो या निम्नवर्ग ही क्यों न हो अथार्भाव के कारण टूटते जा रहे हैं। व्यक्ति आर्थिक तंगियों के कारण परेशान है। मध्यवर्ग अपनी सफेदपोशी के नीचे आर्थिक दृष्टि से बहुत खोखला है। नये कहानीकार मध्यवर्ग के होने के कारण ही उनकी कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन की अभावग्रस्तता का चित्रण मार्मिक लगता है। उन कहानीकारों ने अर्थाभाव के कारण उत्पन्न विसंगतियों को प्रस्तुत किया है। नये कहानीकारों ने आर्थिक विषमता के दबाव से बनते-बिगड़ते मध्यवर्गीय संबंधों का आकलन किया है। इस संदर्भ में लिखने वाले कहानीकारों में मोहन राकेश, कमलेश्वर, धर्मवीर भारती, अमरकांत, शेखर जोशी, मन्नू भण्डारी और कृष्ण बलदेव वैद आदि प्रमुख हैं।

पति-पत्नी के बीच संबंधों की दूरी का एक कारण धन है। कमलेश्वर की कहानी 'राजा निरबंसिया' पत्नी के संबंधों में आई दूरी का वर्णन है। जगपति रिश्तेदार के यहाँ विवाह में जाता है और दसवें दिन भी न लौटने पर उसकी पत्नी चंदा उसे ढूँढती हुई अस्पताल आ पहुँचती है। चन्दा जगपति की सुरक्षा के लिए, अच्छी दवाईयों को पाने के लिए, पति को नयी जिन्दगी देने के लिए अपना शरीर कम्पाउण्डर बचनसिंह को समर्पित कर देती है, यहाँ चन्दा पति को बचाने के लिए अपने शरीर को बेचती है। जब जगपति को यह पता चलता है कि चंदा ने कड़ा नहीं बेचा है, तो सोचने लगता है कि वह चन्दा से कड़ा माँगकर बेचकर कोई-न-कोई छोटा-मोटा कारोबार शुरू कर देगा। इतने दिनों की गैरहाज़िरी के बाद वकील साहब ने दूसरी मुहर्रिर रख दिया है। कम्पाउण्डर घर ढूँढते-ढूँढते जगपति के घर पहुँच जाता है। बचनसिंह का उसके घर आना-जाना देखकर भी जगपति चुप रहता है। उसके चुप रहने का कारण यह है कि वह बेकार है। वह कारोबार करना चाहता है और बेचन सिंह कारोबार के लिए पूँजी देने के लिए तैयार है। बेकारी और आर्थिक तंगी की इस स्थिति में कहीं से पूँजी मिलना बहुत ही बड़ी बात है। बचन सिंह की सहायता से जगपति की काम-धाम की समस्या हल हो जाती है। जगपति ने लकड़ी की टाल खोल ली है। धीरे-धीरे कारोबार बढ़ जाने पर बचनसिंह भी नौकरी छोड़कर उसी मे लग जाता है। जगपति यह भली-भांति जानता है कि बचन सिंह यह पूँजी चन्दा के शरीर से ही वसूल करनेवाला है।

गरीबी का नग्न रूप अमरकांत की कहानी 'दोपहर का भोजन' में देखने को मिलता हैं। लेखक ने इस कहानी के माध्यम से मध्यवर्गीय जीवन की गरीबी और विवशता को रेखांकित किया है। सिद्धेश्वरी दोपहर का भोजन बनाकर बैठी है। बड़ा बेटा रामचन्द्र

खाना खाने आता है। वह एक स्थानीय दैनिक समाचार पत्र के दफ्तर में प्रूफरीडरी का काम सीख रहा है। उसने पिछले साल इंटर पास किया है। सिद्धेश्वरी का दूसरा बेटा मोहन इस साल हाईस्कूल का प्राइवेट इम्तहान देने की तैयारी कर रहा है। बारी-बारी से दोनों बेटे दो-दो रोटियाँ खा कर उठ जाते हैं। माँ दोनों से ही एक और रोटी लेने का आग्रह करती है, किन्तु उस घर में सभी जानते हैं कि तीसरी रोटी लेने का अर्थ उनके हिस्से में केवल दो रोटियाँ ही हैं। तीसरी रोटी लेने का अर्थ है दूसरे का भोजन छीनना। इसी वजह से सब पेट भरा होने का बहाना करके उठ जाते हैं। वह मोहन से कहती है कि 'बड़का तुम्हारी बड़ी तारीफ कर रहा था। कह रहा था, मोहन दिमागी होगा, उसकी तबीयत चौबीसों घंटे पढ़ने में ही लगी रहती है।'[1] इस के बाद मुंशी चन्द्रिका प्रसाद(पिता) आते हैं। सिद्धेश्वरी पति के सामने बेटों की तारीफ करती है। माँ घर की गरीबी और वास्तविक स्थिति को छिपाती रहती है। वह परिवार के सदस्यों के बीच पारस्परिक स्नेह को बनाये रखने के लिए बेटों और बाप से एक-दूसरे की प्रशंसा करती है। लेखक ने पढ़े-लिखे बेकार बड़े पुत्र और डेढ़ महीने पूर्व नौकरी से हटे पति के परिवार की अवस्था का वास्तविक चित्रण किया है।

अमरकांत की एक और कहानी 'डिप्टी कलक्टरी' आर्थिक तंगी का झेलते परिवार को प्रस्तुत करती है। शकलदीन बाबू मुख्तार है। परन्तु डेढ-दो साल से उनकी मुख्तारी का काम उनसे संभाली नहीं जाती है। बुढ़ापे के कारण अब वे पहले जैसे काम नहीं कर पाते हैं। इसी वजह से मुवक्किल उनके पास कम हो आते हैं। वे इस स्थिति में राम का नाम लेकर कचहरी जाते हैं और जो थोड़ा बहुत कमाई होती है, उसी से घर चलता है। शकलदीप बाबू का बेटा नारायण इस साल डिप्टी कलक्टरी की परीक्षा के लिए बैठना चाहता है। और फीस भरने के लिए पैसे का इन्तजाम शकलदीप बाबू को उधार लेकर करनी पड़ती है। परीक्षा लिखकर इन्टरव्यू तक पहुँचकर भी नारायण डिप्टी कलक्टर बनने में सफल नहीं होता है। इस कहानी में लेखक ने यह सूचित किया है कि मध्यवर्गीय व्यक्ति काबिल होकर भी असफल हो जाता है। जब वह असफल हो जाता है तब माता-पिता यह सोचकर आश्वस्त हो जाते हैं कि बेटा सही सलामत है।

किसी को विषम परिस्थिति में सहायता करने की मनः स्थिति होते हुए भी मनुष्य मदद करने में निस्सहाय हो जाता है। इस बात का जिक्र अमरकांत की कहानी 'ज़िन्दगी और जोंक' है। इस कहानी का पात्र 'मैं' असमर्थ है। रजुआ के हैजा होने पर किसी ने उसकी मदद करने से इन्कार कर दिया है। कोई दवा-दारू करने के लिए भी तैयार नहीं हैं। 'मैं' की पत्नी बताती है कि रजुआ दस्त से पस्त होकर खण्डहर में पड़ा हुआ है। 'मैं' उसके लिए कुछ करना चाहता है। लेकिन निस्सहाय है। वह अपनी आर्थिक अवस्था का वर्णन इस प्रकार करता है कि 'मैं लगभग सौ रुपए वेतन पाता था, इसके अलावा महीने का अन्तिम सप्ताह था, मेरे पास एक भी पाई नहीं था'[2]। मन्नू भण्डारी की कहानी 'सजा' में मध्यवर्गीय परिवार की आर्थिक समस्या को उभारा गया है। आशा के पिता पर ऑफिस के रुपये गबन करने का आरोप लगाया गया है। कोर्ट में केस चल रहा है। केस का खर्च तो मामा दे रहे हैं। घर की आर्थिक स्थिति दिन-प्रति दिन बुरी होती जा रही है। आर्थिक तंगी की वजह से नीचे के मकान को खाली कर दिया जाता

है। खाना, पकाना, सोना सभी कुछ बरसाती में होने लगता है। इतना ही नहीं परिवार के अन्य सदस्य भी काफी मेहनत करके इस घर को संभालने का प्रयास करते हैं। बाबा किसी दुकान में हिसाब लिखने जाते हैं। आशा को स्कूल बस छोड़नी पड़ती है। बाबाजी को हिसाब करने में कुछ भूल हो जाने की वजह से उनकी काम छूट जाती है। अब वे पेंशन के पचास रुपये में से किसी तरह पन्द्रह रुपये भेज देते है। इस दौरान अम्मा के सारे गहने बिक जाते हैं। आर्थिक अभाव से उत्पन्न अनेक समस्याओं को झेलते हुए आशा को लगता है कि 'कभी-कभी सोचती, पप्पा को सस्पेण्ड हुए दो साल तीन महीने हुए, इतने दिनों मैं आखिर कितना खर्च हुआ कि बैंक का सारा रुपया निकल गया, अम्मा के सारे गहन बिक गये.... और भी पता नहीं क्या-क्या चला गया। वकील लोग शायद बहुत लुटेरे होते हैं। कभी सोचती, इससे तो पप्पा सचमुच ही आफिस का स्पया मार लेते तो अच्छा होता। कम-से-कम मुन्नू को तो अपने पास रख सकते, और एक पंखा भी रख लेते। इस उमस में तो चमड़ी जैसे उबली जाती है। ईमानदारी करके ही कौन बड़ा सुख मिल रहा है।'[3] जब तक अदालत से फैसला मिलता है, तब तक पूरा परिवार आर्थिक कष्टों को सहते हुए पूरी तरह टूट चुका है।

मोहन राकेश की कहानी 'मन्दी' पहाड़ी इलाके के लोगों की आर्थिक विपन्नता की समस्या है। यह किसी पहाड़ी शहर की कहानी है जहाँ के लोग बेकार हैं। वे सीजन, का इंतजार करते हैं। इस कहानी के सभी पात्र आर्थिक संकट झेल रहे हैं। ऐसे समय जब सीजन नहीं आया है, एक यात्री को रास्ते में एक बूढ़ा नत्थासिंह के होटल का पता मिलता है। होटल पहुँचने पर यात्री देखता है कि बूढ़ा नत्थासिंह और उनके दोनों बेटे हलवाई के साथ ताश खेल रहे हैं। वहाँ उसके होटल में अण्डे की भी व्यवस्था नहीं है। यात्री के कहने पर मँगवाई जाती है। नत्थासिंह यात्री से रात का खाना भी वहीं खाने का अनुरोध करता है। लौटते हुए वह नत्थासिंह के होटल से दो अण्डे लेने के लिए जाता है, तब वह बोलता है कि उसने उस यात्री के लिए मुर्गा बनाया है। उसने सोचा कि वह रात को वहीं खाना खाने आयेगा और साथ ही दो एक प्लेट होटल में आनेवाले ग्राहक भी ले लेंगे। परन्तु किसी भी ग्राहक ने मुर्गा खाने की ख्वाहिश जाहिर नहीं की है। वह कहता है कि 'क्या पता था कि खुद खाना पड़ेगा। ज़िन्दगी में वे भी दिन थे। वे भी दिन थे, जब अपने लिए मुर्गे का शोरबा तक नहीं बचता था। और एक दिन यह है। भरी हुई पतीली सामने रखकर बैठे हैं। गांठ से साढ़े तीन रुपये लग गए, जो अब पेट में जाकर खनकते भी नहीं।'[4]

कमलेश्वर की कहानी 'बयान' में उल्लेख मिलता है। गलत व्यवस्था का शिकार व्यक्ति आत्महत्या कर लेता है। वह व्यक्ति फोटोग्राफर है। असलियत को सही रुप में प्रकाश में लाने की वजह से उस काम से निकाला जाता है। आम मध्यवर्ग की तरह इस व्यक्ति के पास अथोर्पार्जन का दूसरा माध्यम नहीं है। उसके घर की हालत लगातार खराब होती जा रही है। कहीं से भी कोई काम नहीं मिल रहा है। इस दौरान बच्ची का जन्म होता है। पत्नी को घर से निकलकर नौकरी करनी पड़ती है। गर्मियों की छुट्टियों में स्कूल से वेतन नहीं मिलता है। इन दिनों घर की हालत बद से बदत्तर होती चली जाती है। व्यक्ति का विश्वास अपने काम पर से उठ जाता है। उसे जीने के लिए कोई मार्ग

नहीं सूझता है। ऐसी परिस्थिति में आर्थिक मजबूरी की वजह से उसने अपनी ही पत्नी की अधनंगी तस्वीर निकालकर पत्रिका में भेज दी है। इस तस्वीर की वजह से स्त्री को नौकरी से निकाल दिया जाता है। स्त्री पति की आत्महत्या के बाद न्यायालय के सामने बयान करती है कि 'मेरी वे अधनंगी तस्वीरें स्कूल के मैनेजर तक भी पहुँची थी। उन्होंने फौरन तय किया था कि इस तरह की औरत का स्कूल में रहना एक पल के लिए भी मुमकिन नहीं है'[5]। कमलेश्वर की कहानी 'इतने अच्छे दिन' के माध्यम से मनुष्य का ऐसा ही हैवानियत भरा रूप दिखाया गया है। इस कहानी में इलाके में लगातार तीसरे साल भी अकाल पड़ जाने से लोग मर रहे हैं। बाला कोई भी काम न पाकर पेट की आग को बुझाने के लिए हड्डियों का व्यापारी बन जाता हैं। इस बात को लेखक ने इतने व्यंग्यात्मक ढंग से बताया है - 'अपने रिश्तेदारों की हड्डियाँ कितनी कीमती है। अपने रिश्तेदारों के ढोर-डंगरों की हड्डियाँ कितनी कीमती हैं। हड्डियों के लिए तब महाभारत मचा था। लोग पहरा लगाने लगे थे - ये हमारे रिश्तेदारों की हड्डियाँ हैं.... ये उनके ढोर-डंगरों की हड्डियाँ हैं। इन पर हमारा हक है।'[6] यह कितनी ही व्यंग्यात्मक स्थिति है कि जीवित से अधिक मृतक, मृतकों के शव से अधिक उनकी हड्डियाँ अधिक मूल्यवान बन जाती हैं। बाला इन हड्डियों को एक चीनी मिल में शोरा निकालने के लिए सप्लाई करता है। उसे हड्डियों के एक बोरे का सवा रुपये मिल जाते हैं। अकाल के समय इन हड्डियों की कीमत इतनी अधिक हो जाती है कि कुत्ते और गिद्ध लाश की सफाई जल्दी नहीं करते हैं, इसलिए इसे झुलसती-तपती धरती के नीचे दबा देने से शव जल्दी ही साफ हो जाएगी। रात के वक्त कोई और इन लाशों को खोद कर न ले जाये, इस उद्देश्य से बाला उसकी बहन कमली का पहरे पर लगाता है। वहीं से ड्राइवर बंतासिंह कमली को उठा कर ले जाता है। इस घटना के बाद कमली तन का पेशा करने लगती है।

इसी प्रकार मन्नू भण्डारी की कहानी 'रानी माँ का चबूतरा' में अर्थ की कमी के कारण अधिक से अधिक मेहनत करके गुलाबी अपने बच्चों को पालती है। उनका पति शराबी है इसी वजह से गुलाबी उसे झाड़ू से मारकर घर से निकाल देती है। गुलाबी दिन भर मजदूरी करती है। वह अपने और अपने बच्चों का पेट पालती है। समय पर काम के लिए न पहुँचने के कारण ठेकेदार दूसरे मजदूरों को काम पर लगा देते हैं। लोग उसकी निंदा करते हैं कि वह बच्चों के प्रति सख्त है। वह अपने रोते बच्चों को कमरे में बन्द करके काम करने जाती है। वह बच्चों के पेट को पालने के लिए और भी अधिक काम करती है। एक दिन वह बेहोश हो जाती है तब लोग उसे डाँटते हैं, उसकी निन्दा भी करते हैं। गुलाबी इस बात को अच्छी तरह जानती है कि लोग बातें मात्र करते हैं, कोई आवश्यकता पड़ने पर कोई मदद करने वाला नहीं। अमरकांत की कहानी 'मूस' में आर्थिक अभाव के कारण पत्नी-पति की फिर से शादी करवाती है। परबतिया जब अपने नैहर से लौटी तो लल्लू गोंड की लुगाई मुनरी को अपने साथ ले आती है। मुनरी के पति लल्लू ने चमार की लड़की घर में बिठा ली हे। वह शराब पीकर मुनरी को मारता -पीठता है। परबतिया मुनरी को बहला-फुसलाकर अपने साथ ले आती है। परबतिया मीठी बातें करके मुनरी को अपने बस में रखना चाहती है। वह यह चाहती है कि - 'परन्तु परबतिया को स्कीम दूसरी ही थी। उसके लिए मुनरी कामधेनु गाय थी, जिसकी

पगहिया को वह मूस जैसे निरीह से बाँधकर अपनी काहिली और असमर्थता और पति की अर्द्ध-बेकारी की समस्या को हल करना चाहती थी।'[7]

निष्कर्षतः आज हमारे सभी पारिवारिक और सामाजिक संबंध अर्थ के तराजू में तोले जाते हैं। मनुष्य अपने गरीब सगे-संबंधियों से आँखें चुराता है, उसे शक होता है कि वह पैसा न माँग ले। लेकिन दूर के किसी अमीर व्यक्ति से आत्मीय संबंध स्थापित करने के लिए बेताब होते हैं, हालांकि हम इस बात से वाकिफ है कि उस व्यक्ति की कमाई सीधे रास्ते की कमाई नहीं है। हमारे निकट के संबंध पति-पत्नी, बहन-भाई, माता-पिता आदि संबंधों के बरकरार रहने के मूल में भी अर्थ तंत्र ही है। नये कहानीकार संबंधों में आनेवाली आर्थिक विषमता, विवशता, विपन्नता आदि की स्थितियों को अपनी कहानियों के माध्यम से दर्शाते हैं। इस प्रकार आधुनिक कहानी व्यक्ति की आर्थिक समस्याओं, भूख, गरीबी और विभिन्न प्रकार के अथार्भावों का बहुआयामी चित्रण करती हैं। वस्तुतः ये कहानियाँ हमारे वर्तमान सामाजिक परिदृश्य के ऐसे खंड-खंड चित्र प्रस्तुत करते हैं, जिनसे समाज की पूरी तस्वीर एक बड़े केनवेस पर अपने संपूर्ण विवरणों के साथ प्रस्तुत हो जाती है।

संदर्भ :

1. 'दोपहर का भोजन' अमरकांत- प्रतिनिधि कहानियाँ- पृ. 101, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994
2. 'जिन्दगी और जोंक'- अमरकांत- प्रतिनिधि कहानियाँ- पृ. 62, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994
3. सजा- मन्नू भण्डारी- कथा यात्रा- पृ.119, सं. राजेन्द्र यादव, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997
4. मन्दी- मोहन राकेश-मेरी प्रिय कहानियाँ- वही-पृ. 51, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1992
5. 'बयान'- कमलेश्वर-मेरी प्रिय कहानियाँ- पृ. 65, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1995
6. 'इतने अच्छे दिन' - कमलेश्वर- इतने अच्छे दिन- पृ. 14, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1989
7. 'मूस'- अमरकांत- प्रतिनिधि कहानियाँ-पृ. 91-92, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994

असोसिएट प्रोफेसर,
महाराजास कॉलेज (सरकारी स्वायत्त),
एरणाकुलम, केरल

विकास बिश्नोई की कहानियों में बदलते वर्तमान परिदृश्य

- डॉ. रश्मि शर्मा

प्रारंभ से ही साहित्य एवं समाज में एक अटूट संबंध रहा है। साहित्य में समसामयिक घटक सदैव उजागर होते हैं। बाल साहित्य अभिव्यक्ति की एक समर्थ विधा है, जो कि जीवन के समकालीन यथार्थ को सामने लाने में सक्षम है। इसे मानव मन की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति माना गया है। बाल कहानियां बालकों के अंतर्मन का प्रतिबिंब होती हैं। बालक उस कच्ची मिट्टी के समान होते हैं, जिन्हें जिस आकार में ढालने का प्रयास किया जाए वे वैसे ही आकार का रूप ले लेते हैं। बच्चे हमारा भविष्य हैं, इसलिए बाल्यावस्था रूपी कच्ची किंतु उर्वर मिट्टी में संस्कारों के बीच डाल दिए जाने चाहिए, तभी वह समय आने पर अंकुरित, पल्लवित होकर कल के अनुशासित, संवेदनशील और सभ्य नागरिक के रूप में पुष्पित होंगे। बाल साहित्य की रचना को लेकर डॉ. नागेश पांडेय संजय के विचार दृष्टय है 'ऐसा बाल साहित्य जिसे पढ़कर बच्चे आनंदित हो, उनका सम्यक विकास हो और वह आत्म सुधार तथा जीवन के संघर्षों से जूझने की दिशा में क्रियाशील हो सके, सही मायने में वही बाल साहित्य है। भले ही उसकी रचना बाल साहित्य के रूप में नहीं हुई हो। वस्तुतः बाल साहित्य का प्रणयन अत्यंत कठिन कार्य है। बच्चों द्वारा स्वयं अपने लिए लिखा जाना कठिन है और बड़े सभी बाल मानसिकता से ऊपर उठ चुके होते हैं। बाल साहित्य लेखन को इसलिए परकाया प्रवेश की संज्ञा दी गई है। बाल अनुभूतियों को आत्मसात कर उसे उन्हीं की भाषा में प्रस्तुत करने वाला ही वास्तविक बाल साहित्यकार है।'[1]

युवा लेखक विकास बिश्नोई नए युग के लेखक हैं। वे समय सापेक्ष लेखन में पारंगत है। उनकी बाल कहानियां बच्चों की दुनिया को समृद्ध बनाने का प्रमुख स्रोत हैं। यह कहानियां बच्चों में सही गलत की समझ विकसित करती हैं। उनमें आत्मविश्वास, सजगता के गुण निर्मित करती हैं। उनकी कहानियों के सशक्त पात्र मानवीय गुणों को ग्रहण करते हुए बिना किसी उपदेश के बच्चों में अच्छे बुरे की समझ पैदा करते हैं। यह बाल कहानियां बच्चों की मनः स्थिति के साथ सामंजस्य बिठाकर उन्हें सहज ही संस्कारों की ओर उन्मुख करने की विशिष्टता रखती हैं। लेखक ने अपनी बाल कहानियों के विषय बालकों के इर्द-गिर्द परिवेश से ही आत्मसात किये हैं। जिनको पढ़कर बच्चे कल्पना लोक की अपेक्षा यथार्थ के धरातल पर वस्तुओं की परख करते हैं। जिससे बच्चों में नैतिक मूल्यों के विकास से व्यवहारगत परिवर्तन परिलक्षित होने लगता है। बालक अपने परिवेश को, रिश्तों को सूक्ष्मता से जांचने लगते हैं। कहानीकार विकास बिश्नोई के बाल कहानी संग्रह 'आओ चले उन राहों पर' की कहानियां रोचक होने के साथ-साथ बच्चों को जिंदगी की छोटी से छोटी सीख बहुत ही सरल एवं सहज ढंग से देती हैं। इनमें समसामयिक परिवेश को भी बड़ी शिद्दत के साथ प्रसंगानुकूल उजागर किया है। यह कहानियाँ ग्रामीण एवं महानगरीय भाव बोध को उजागर करने में सफल रही है।

पिछले एक दो दशकों में परिवार प्रणाली में कुछ महत्वपूर्ण बदलाव अनुभव किए गए हैं। आधुनिक भोगवादी युवा पीढ़ी अतिशय सुख-सुविधाओं की तलाश में स्वार्थी होती जा रही है। संयुक्त परिवारों का स्थान एकल परिवार लेते जा रहे हैं। भौतिक चकाचौंध एवं अथोर्पार्जन की उत्कृष्ट पिपासा ने जीवन-शैली को तो बदल दिया है, परंतु समाज में हर तरफ मूल्य का संक्रमण दिखाई पड़ता है, जिससे तनाव, असंतुष्टता एवं द्वन्द्वों में बढ़ोतरी हुई है। पश्चिमी संस्कृति से प्रभावित आधुनिक पीढ़ी में व्यक्तिवादी प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला है, जिसके परिणाम स्वरूप वे संयुक्त परिवारों में रहना पसंद नहीं करते। आधुनिक पीढ़ी सुख-सुविधाओं से संपन्न होने के बाद अपने माता-पिता को फालतू सामान समझती है। आज हमें कई हृदय विदारक कहानियां सुनने को मिल जाएँगी, जहां बच्चों ने अपने माता-पिता के साथ अमानवीय व्यवहार करते हुए, उन्हें घर से निकाल दिया या वृद्ध आश्रम भेज दिया। विकास बिश्नोई की कहानी 'श्राद्ध' के प्रमुख पात्र रमेश को भी अपनी वृद्धावस्था में अपने पारिवारिक सदस्यों की ओर से उपेक्षा एवं अपमान झेलना पड़ा। वृद्धावस्था में व्यक्ति को भावनात्मक सहारे की आवश्यकता होती है, परंतु रमेश के बेटों ने पिता के साथ दुर्व्यवहार करते हुए पहले उसे घर पर ही नजरबंद किया और फिर वृद्धाश्रम छोड़ आए। आधुनिकता की अंधी दौड़ में भागते हुए युवा अपने कर्तव्यों व संस्कारों को भूलते जा रहे हैं। जिन माता-पिता ने उनके जीवन के हर अच्छे बुरे वक्त में उनको संभाला, आज उन्हें संभालने के लिए संतान के पास न तो समय है और न ही सामर्थ्य। मरणोपरांत रमेश अपने मित्र जगदीश से अपने दिल की व्यथा इस प्रकार कहते हैं -'काश मेरे जीते जी यह दोनों बच्चे मुझे इसका आधा भी प्रेम कर लेते, तो मैं यहाँ तुम्हारे साथ न होता। मेरे बीमार होने पर मुझे घर के कोने में और बाद में वृद्धाश्रम में असहाय न छोड़कर थोड़ा-सा ध्यान दिया होता। आज जितना समय दान आदि में लगा रहे हैं, उतना समय काश मेरे साथ बैठकर सुख-दुख की बात में लगा देते। मरने के बाद भी मुझे कंधा देने का समय उनके पास नहीं था। भला आज मेरे पीछे से यह श्राद्ध करने का क्या लाभ?'[2]

एक सुप्रसिद्ध कहावत है कि 'पूत कपूत तो क्यों धन संचे, पूत सपूत तो क्यों धन संचे।' अर्थात् यदि पुत्र सपूत है, तो धन संचय का लाभ नहीं, क्योंकि वह अपने लिए स्वयं धन कमा लेगा और यदि पुत्र कपूत है तब भी धन संचय का कोई लाभ नहीं, क्योंकि वह कमाया हुआ धन उड़ा देगा। अधिकतर माता-पिता भावुक होकर अपनी जायदाद अपने बच्चों के नाम कर देते हैं। फिर उन्हें अपने ही घर से निकाल दिया जाता है। आर्थिक स्वतंत्रता बुजुर्गों के लिए परम आवश्यक है। बुजुर्ग लोक लाज के डर से अपने साथ हुए गलत व्यवहार के लिए अपने बच्चों के विरुद्ध कानूनी कार्रवाई नहीं कर पाते। यही गलती रमेश द्वारा भी की गई, जब उसने भरोसे की आशा में अपना सारा कारोबार अपने बच्चों के हाथों में सौंप दिया और अपने दुर्भाग्य के द्वार स्वयं खोल दिए।

आधुनिकीकरण की अवधारणा आधुनिक विकास की गतिशील प्रक्रिया से संबंधित है। वहीं पर्यावरणीय चेतना से अभिप्राय हमारे आसपास के वातावरण से संबंधित समस्याओं की जागरूकता से है और उनके समाधान की दिशा में किए जा रहे प्रयासों से

है। आधुनिकीकरण की एक विडंबना है कि एक तरफ जहां विकास है, तो दूसरी तरफ भारी विनाश भी है। लगातार तीव्र आधुनिकीकरण से प्रदूषण भी बढ़ा है, जिससे प्रकृति के लिए बहुत बड़ा खतरा बन रहा है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में हो रहे प्रयोगों से, रासायनिक क्रांति से, कई सूक्ष्म जीव और वायरस उत्पन्न हुए हैं, जिसका भयंकर परिणाम करोना वायरस के रूप में पूरे विश्व ने झेला है। आधुनिकीकरण की आड़ में मनुष्य ने अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए पर्यावरण का काफी नुकसान किया है, जिससे पर्यावरण संकट बढ़ रहा है। विकास बिश्नोई की कहानी 'आदत से मजबूर' में लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि मानव की स्वार्थ लिप्सा से पर्यावरण का अस्तित्व खतरे में पड़ चुका है। मानव की वर्तमान जीवन शैली और शहरीकरण से जुड़ी योजनाएं पर्यावरण के लिए बहुत ही घातक सिद्ध हुई है। अंधाधुंध शहरीकरण के कारण पेड़ काटे जा रहे हैं और पक्षियों का आश्रय समाप्त होता जा रहा है। कल कारखाने खुलने से पर्यावरण प्रदूषण में बहुत बढ़ोत्तरी हुई है। पक्षियों का पलायन भी पर्यावरण संतुलन की दृष्टि से एक गंभीर समस्या बन चुका है। हालांकि जब करोना काल में जीवन की रफ्तार काफी धीमी पड़ गई थी, ऐसे में प्रकृति ने स्वयं को पुनः संवारना प्रारंभ किया था। 'माँ : बेटा! आज इंसान कोरोना महामारी से जूझ रहा है, जो उसके खुद के कर्मों का ही फल है। हम जैसे जीवों को मारकर वह खाता है, जिसकी वजह से यह वायरस फैला। इस मानव जाति ने प्रकृति को कई प्रकार से नुकसान पहुँचाया है। अपनी सुख सुविधाओं के लिए उसने पेड़ काट दिए, जीवो को मार डाला। हर ओर अपने कारखाने लगा दिए, नदियों को गंदा कर दिया और भी न जाने क्या क्या, जिसका परिणाम तो उसे भुगतना ही पड़ेगा। अब प्रकृति का कहर उस पर टूट रहा है।'[3] ऐसे कठिन समय में प्रकृति प्रेम के समानांतर पर्यावरणीय चेतना जागृत करने की बहुत आवश्यकता है।

वर्तमान समय तकनीक व संचार की क्रांति का युग है। 21 वीं सदी में मोबाइल फोन ने संचार के क्षेत्र में एक नई उपलब्धि हासिल की है। प्रारंभ में मोबाइल केवल एक संचार माध्यम के तौर पर प्रयुक्त होता था, परंतु धीरे-धीरे मोबाइल व्यक्ति के जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा बन गया है। बढ़िया स्मार्ट फोन, इंटरनेट नेटवर्क की सुविधा हमारी बुनियादी आवश्यकता बन गई है। आज बच्चों से लेकर बूढ़े तक सभी इसका प्रयोग कर रहे हैं। यदि सही ढंग से मोबाइल का प्रयोग किया जाए, तो यह किसी वरदान से कम नहीं है। 'मोबाइल है ना' कहानी में लेखक ने जहां वित्तीय लेन देन, ऑनलाइन बुकिंग, खरीदारी जैसे रोजमर्रा के कार्यों में मोबाइल फोन को उपयोगिता सिद्ध की है, वहीं इसके दुष्परिणामों की ओर भी संकेत किया है, जैसे प्रत्येक आयु वर्ग के लोगों में फोन की लत लगने का भय, समय की बबार्दी, बच्चों के सर्वांगीण विकास में कमी, अवसाद, आत्मकेंद्रित एवं अकेलेपन की समस्या इत्यादि। कहानी में गांव से आई सचिन की मां के लिए सभी पारिवारिक सदस्यों का हर समय मोबाइल फोन में व्यस्त रहना एक गंभीर एवं चिंतनीय विषय है। बच्चों का सुबह स्कूल और शाम को खेलने के लिए बाहर ना जाना, उनमें संस्कार तथा मूल्यों के निर्माण के प्रति किसी का ध्यान ना होना, मां को अच्छा नहीं लगता। 'अरे मां, आजकल सब ऑनलाइन मोबाइल से हो जाता है। कहीं आने जाने की जरूरत नहीं होती। दुनियादारी, संस्कार, मित्रता वगैरा सब क्या, मां ने

हैरानी से पूछा। लेकिन इस बार सचिन के पास कोई जवाब नहीं था। थी तो बस अपने बच्चों के भविष्य की चिंता।'[4]

आर्थिक स्वावलंबन अपने सामर्थ्य से आत्मनिर्भर होने की प्रक्रिया है। निःसंदेह वर्तमान समय में मनुष्य के जीवन में धन का महत्व सबसे अधिक है, क्योंकि व्यक्ति की वित्तीय स्थिति के आधार पर ही उसकी सामाजिक स्थिति का आंकलन किया जाता है। धन से हम अपनी सभी जरूरतों को पूरा कर सकते हैं। एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है कि 'बाप बड़ा ना भैया, सबसे बड़ा रुपया'। पश्चिमी देशों के प्रभावाधीन आज बहुत से लोग अपने वर्तमान के लिए तो सुख-सुविधाएं जुटाते हैं, परंतु भविष्य के लिए संग्रह नहीं करते, जिससे प्रतिकूल परिस्थितियां आते ही उन्हें कर्ज लेना पड़ता है और बाद में समय पर कर्ज न चुकाने के कारण अवसाद तनाव की स्थिति में रहते हैं। हमारे बड़े बुजुर्ग हमेशा अपनी आमदनी में से भविष्य के लिए कुछ बचत करने की सीख देते हैं और बच्चों को यह बचत की आदत प्रारंभ से ही सिखाई जानी चाहिए, ताकि वे भविष्य की आर्थिक चुनौतियों के लिए तैयार रह सकें। 'नानी से बचत की सीख' कहानी में आशु अपनी नानी के आमदनी के सीमित स्त्रोतों के विषय में तो जानता था, फिर भी उसे अचरज इस बात से होता था कि नानी अपनी और हम सभी जरूरतों को कैसे पूरा कर लेती है। 'बेटा जिंदगी में जो अपने पास आई लक्ष्मी को सोच-समझ कर उपयोग में लाता है, वह हमेशा जिंदगी में सफल होता है।'[5] आशु ने नानी की सिखाई यह बचत की सीख गांठ बांध ली और भाई के विवाह में खुद के पैसों से उपहार देकर वह बहुत खुश हुआ। जिस प्रकार बूंद-बूंद से सागर भरता है, उसी प्रकार व्यक्ति को दुनियादारी में दिखावे के चक्कर में ना पड़ कर फिजूलखर्ची पर नियंत्रण करना चाहिए।

लेखक विकास बिश्नोई एक प्रतिभाशाली रचनाकार हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में शब्दों के द्वारा अपनी संवेदनाओं को बहुत ही बेहतरीन ढंग से संजोया है। लेखक ने समय सापेक्ष विषयों को बदलते वर्तमान परिदृश्यों के संदर्भ में बाखूबी प्र स्तुत किया है। उनकी कहानियों की विषय वस्तु जीवन मूल्यों से अनुप्राणित हैं, जो कि बच्चों में ज्ञान संवर्धन के साथ-साथ नैतिक विकास की ओर भी उन्मुख हैं।

संदर्भ :

1. डॉ नागेश पपांडेय 'संजय', बाल साहित्य के प्रतिमान, पृष्ठ 10
2. विकास बिश्नोई, श्राद्ध, फरीदाबादः शब्दाहुति प्रकाशन, आओ चले उन राहों पर, पृष्ठ 82-83,
3. वही, आदत से मजबूर, पृष्ठ 64
4. वही, मोबाइल है ना, पृष्ठ 19,
5. वही, नानी से बचत की सीख, पृष्ठ 16

सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग
पं. मोहन लाल एस.डी.कॉलेज फतेहगढ़ चूड़ियां,
जिला गुरदासपुर, पंजाब

प्रेमचन्द के आलोचकों का सांस्कृतिक अधिष्ठान

मिन्नु जोसेफ

संस्कृति समाज के गहराई पर व्याप्त विभिन्न भावात्मक परिकल्पनाओं के समग्र स्वरूप का नाम है। संस्कृति की कोई परिपक्व परिभाषा निकालना या उसे एक परिभाषा में बाँधना एक उलझन भरा प्रयास होगा। प्रसिद्ध नृविज्ञान-वेत्ता मैलिनास्की के अनुसार 'मानव जाति की समस्त 'सामाजिक विरासत' या मानव की समस्त संचित दृष्टि का ही नाम संस्कृति है।'[1] इस परिभाषा के अनुरूप मानव सृजित सभी भौतिक परिकल्पनाएँ संस्कृति के अंतर्गत शामिल है। यानि विकास के संगत मानव अपने श्रम, कौशल, कल्पना और विवेक से निर्मित जगत तथा मूल्य, चेतना, भाषा, कला, धर्म-रिवाज जैसे तमाम संकल्पनाएँ प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से संस्कृति के स्वरूप बन गये हैं। संस्कृति की कोई अनंतिम परिभाषा नहीं है। क्योंकि संस्कृति का मापदंड़ या उसका स्वरूप का निर्णय समय के अनुसार बदलता रहता है। प्रत्येक युग के सामाजिक सन्दर्भ के प्रभाव स्वरूप सांस्कृतिक सन्दर्भ रूपायित होता है। तदनुरूप युगीन चेतना के बदौलत तत्कालीन साहित्यकारों व साहित्यिक प्रवृत्तियों में भी सांस्कृतिक आयाम के परिवेशगत सन्दर्भ दिखाई पड़ते हैं। साहित्यिक क्षेत्र में प्रेमचन्द का उदय भारतीय राष्ट्रीय सांस्कृतिक आन्दोलन के वक्त हुआ था। परतंत्रता के अथाह दुख से उपजी स्वतंत्रता की मोह ने समाज में एक सांस्कृतिक जनजागरण की आवश्यकता को जन्म दिया। इस सांस्कृतिक जनजागरण में भारत की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक पुनर्निर्माण को अहमियत दिया गया। फिर भी इस सांस्कृतिक जनजागरण के मूल में उपनिवेश विरोधी राजनैतिक जागरण की पृष्ठभूमि राष्ट्रीय अस्मिता के लिए संघर्ष कर रही थी। इसी बीच राष्ट्र में साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के बीच विधि विरुद्ध सम्बन्ध विकसित हुआ। 'औपनिवेशिक विचारधारा या संस्कृति से टकराहट के फलस्वरूप भारतीय इस बात के लिए बाध्य हुए कि वह अपनी स्थिति, नियति पर बुनियादि रूप से विचार करें और उस शक्ति का विरोध करे जो अपनी विचारधारा और संस्कृति के दबाव से भारतीय अस्मिता को उसकी जड़ों तक नष्ट करने की चेष्टा कर रही थी।'[2] इस वातावरण में युगीन चेतना के फलस्वरूप प्रत्येक कलाकार का उदय हुआ। इन कलाकारों ने भारतीय सांस्कृतिक जनजागरण के विभिन्न पक्षों को अपनी सृजनात्मकता के माध्यम से वाणी दी।

एक कलाकार और साहित्यकार के नाते प्रेमचन्द की रचनाओं में सांस्कृतिक चेतना का विविध रूप विद्यमान है। यह सांस्कृतिक चेतना तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक आर्थिक परिस्थितियों से उत्पन्न एवं विकासित है। समाज की गहराई तक जड़ समान उलझे हुए भारतीय जन साधारण की समस्याओं को वाणी देने वाला प्रथम हिन्दी रचनाकार है प्रेमचन्द। इसी के बदौलत उनकी रचनाओं में भारतीय सांस्कृतिक धरोहर के विभिन्न आयाम काफी सघनता के साथ जमी हुई है। इसी सांस्कृतिक धरोहर के नाते प्रेमचन्द की सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक विचार सारणियाँ भारतीय साम्राज्यवादी, सामंतवादी शक्तियों के बखिया उघेड़ने में सहायक सिद्ध हुए है। प्रेमचन्द के लेखनकाल से ही उन पर लगातार आलोचनाएँ निकलना प्रारम्भ हुई थी। मुख्य रूप से गाँधी चिन्तन,

मार्क्सवाद, स्त्री, दलित, किसान आदि कई अवधारणाओं के आधार पर श्रेणिबद्ध रूप से उन पर आलोचनाएँ निकले हैं। प्रेमचन्द के साहित्य सांस्कृतिक धरोहर के खजाना होने केबावजूद भी सांस्कृतिक आयाम पर अब तक बहुत कम अध्ययन सामने आए हैं। प्रेमचन्द की रचनाओं के सांस्कृतिक पक्ष पर विचार करनेवालों में डॉ. सत्यवती मित्तल, डॉ. पूरन चन्द जोशी तथा चंद्रकांत बंदेवडिकर आदि आलोचक प्रमुख है। तीनों आलोचकों ने प्रेमचन्द के सांस्कृतिक धरोहर के बिलकुल अलग-अलग पक्ष को आलोचना का विषय बनाया है। तीनों आलोचक इस बात पर एकमत है कि प्रेमचन्द के सांस्कृतिक पक्ष के केन्द्र में उपनिवेश विरोधी तत्व ने काम किया था।

डॉ. सत्यवती मित्तल के प्रेमचंदीय पाठ के बुनियाद ही सांस्कृतिक पक्ष है। मित्तल जी के अनुसार मनुष्य अपने जीवन को शुद्ध, परिष्कृत एवं सात्विक बनाने के लिए जिन तत्वों को अर्जित किया है वही संस्कृति है। डॉ. सत्यवती मित्तल प्रेमचंद के सांस्कृतिक धरातल को भारतीय पुनर्जागरण की देन मानते हैं। उनके अनुसार तत्वतः भारतीय जनजागरण की पृष्ठभूमि सांस्कृतिक ही थी। उन्होंने स्वतंत्रता की चाह, देश भक्ति और स्वाधीनता आन्दोलन को इसी सांस्कृतिक पुनर्जागरण का अनिवार्य परिणाम बताया है। यानी स्वतंत्रता आन्दोलन जोर पकड़ने से पहले सृजनात्मक क्षेत्र में सांस्कृतिक जनजागरण के विभिन्न पक्षों का प्रचार-प्रसार हो चुका था। आलोचक के अनुसार रचनात्मक क्षेत्र में जन संस्कृति और स्वाधीनता बोध का व्यापक प्रयोग सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने किया था। जबकि चन्द्रकान्त बंदेवड़िकर के अनुसार प्रेमचन्द में सांस्कृतिक धरोहर की जो विविधता है उसका मुख्य कारण उनका सर्वसमावेशी लेखकीय व्यक्तित्व तथा अपने परिवेश से, अपने आस-पास के जन जीवन से हार्दिकता पूर्वक जुड़े रहने से है।

प्रेमचंद ने सांस्कृतिक उत्थान को भारत की उन्नति का पहला चरण माना है। इसके जरिए भारतीय समाज की गहराई तक जमी हुई जड़ रूपी समस्याओं के खिलाफ एक सांस्कृतिक क्रानति ही प्रेमचन्द का लक्ष्य था। 'अंग्रेजों व सामंती व्यवस्था के शिकंजे में जकड़ी सभ्यता व संस्कृति का आवरण खोल उसे साहित्य के माध्यम से स्वस्थ दिशा प्रदान की तथा युगों से पद दलित व सर्ववंचित मनुष्यों में यह आस्था भरने की चेष्टा की कि अब समय आ गया है, जब व्यक्तियों का संगठित विद्रोह सांस्कृतिक क्रांति का रूप ग्रहण करे।'[3] यानि आलोचक की दृष्टि में प्रेमचन्द में जो सांस्कृतिक क्रानति उत्पन्न हुई थी वह सामंतवाद और साम्राज्यवाद दोनों के खिलाफ था। भारत की पुरातनपंथी भेदभाव पर आधारित संस्कृति का प्रेमचन्द ने सदा विरोध किया है इसलिए मित्तल जी के शब्दों में प्रेमचन्द 'नवीन जनवादी सांस्कृतिक विकासशील चेतना' का पक्षधर है। 'प्रेमचन्द भारतीय संस्कृति में प्रगाढ़ आस्था रखते थे, किन्तु उसकी जड़ परम्पराओं को अवांछनीय समझकर उनका विरोध करते थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति के कर्तव्यप्रधान, धर्मप्रधान, परमार्थप्रधान, अहिंसाप्रधान, व्रत और नियमप्रधान तथा 'वसुधैव कुटुंबकम्' के रूप की महानता को स्थापित करने का प्रयास किया।'[4] यानि भारतीय संस्कृति में गहरी आस्था रखने के बावजूद भी प्रस्तुत आलोचक के अनुसार प्रेमचन्द में इस संस्कृति के जड़ रूपी रूढ़ियों के प्रति गहरी उपेक्षा की दृष्टि भी मौजूद है। इस सन्दर्भ में डॉ. पूरन चन्द जोशी

की दृष्टि में भी समानता देखी जा सकती है। वे भी मानते है कि पुरातन रूढ़िगत संस्कृति व समाज के कुचलने से ही प्रेमचन्द ने नयी जनवादी संस्कृति के जन्म को साकार माना है। वे लिखते है 'पिछड़े हुए और प्राचीन समाज को नये समाज के जन्मने के लिए नष्ट होना ही चाहिए, यही वह स्पष्ट सन्देश है जिसे प्रेमचन्द ने 'गोदान' के माध्यम से प्रेषित किया है।'[5] इसके सम्बन्ध में चन्द्रकान्त बादिवडेकरकी दृष्टि भी बाकि आलोचकों के छिद्रांवेषण से मेल रखते हैं। उनके अनुसार प्रेमचन्द भारत की सांस्कृतिक धरोहर के दूषित वृत्तियों के विरोधी थे, इसलिए तत्कालीन अन्य रचनाकारों से अलग होकर प्रेमचन्द ने जाति और वर्ण पर आधारित सामाजिक शोषण का निर्भीक ढ़ंग से पदार्फाश किया। 'प्रेमचन्द ने भारतीय संस्कृति की लंबी परम्परा में उत्पन्न एक महत्वपूर्ण दोष का भी प्रबल विरोध किया। वह दोष अहि नारी सम्बन्धी दूषित दृष्टि का।'[6] अतः आलोचक के अनुसार इसके विरुद्ध प्रेमचन्द ने आत्मनिर्भर संकल्पशील नारियों को अपनी रचनाओं का पात्र बनाया। तीनों आलोचक इस विषय पर एक मत है कि प्रेमचन्द भारतीय संस्कृति की दूषित अविरत परम्परा के विरोधी थे और उसके स्थान पर नवीन जनवादी संस्कृति की स्थापना चाहते थे।

पाश्चात्य संस्कृति के बिगड़े हुए पक्षों के प्रति प्रेमचन्द की उपेक्षा भाव के सन्दर्भ में उद्योगीकरण, पूँजीवादी संस्कृति, उपयोगितावाद आदि विदेशी दर्शन के सांस्कृतिक शोषण पर विचार करते हुए डॉ. सत्यवति मित्तल बेशक कहते है कि भारत के सांस्कृतिक पतन के मुख्य तत्व के रूप में प्रेमचन्द ने विदेशी संस्कृति के प्रचार-प्रसार को माना है। आलोचक के अनुसार रचनाओं के द्वारा प्रेमचन्द के मूल उद्देश्यों में एक थी देश की सांस्कृतिक एकता। इसलिए उन्होंने धार्मिक अंधविश्वासों और रूढ़ियों पर लगातार प्रहार करते रहे। प्रेमचन्द संक्रमण काल में जी रहे थे। पूँजीवाद का आरम्भ हो गया था। अतः इसके विस्तार से समाजिक आर्थिक व राजनीतिक संकीर्णताओं के साथ-साथ 'मध्यवर्ग' स्थापित हो रहे थे। प्रेमचन्द अपने विराट साहित्यिक और सामाजिक संवेदना के संयोग से तद्युगीन नई संस्कृति और सभ्यता के उन्नति-अवनति पर अनवरत आलोचनाएँ प्रकाशित कर रहे थे। चंद्रकान्त बांदिवेडेकर के अनुसार प्रेमचन्द ने सभ्यता व सांस्कृतिक के टकराहट को वाणी देने का वह जोखिम उठाया जिसे उसके पहले या बाद में करने की कोई हिम्मत ही नहीं किया। उन्होंने पूँजीवादी नई संस्कृति के माहौल में शहरीय संस्कृति को ग्रामीण संस्कृति के लिए घातक कहा है। प्रस्तुत आलोचक के अनुसार प्रेमचन्द की सांस्कृतिक चेतना का रूप शोषणमुक्त, समानता पर निर्धारित तथा कृषि संस्कृति को सुरक्षित रखनेवाले समाज पर आधृत था।

पूरन चन्द जोशी की आलोचना का मुख्य आधार औपनिवेशिक, 'अर्द्ध-सामन्ती' समाज में किसान, गाँव व शहरीय संस्कृति का टकराहट है। संक्रमणकालीन अवस्था में भारतीय गाँवों पर उत्पन्न त्रासदी ने गाँव व शहर को अलग-अलग कर दिया। इस अलगाव को प्रेमचन्द ने रंगभूमि में स्पष्ट रूप से दिखाया है। समय के अनुसार व्यवस्था में संशोधन होना जरूरी है। प्रेमचन्द का ख्याल था कि यदि कोई भी व्यवस्था पुरानी व प्राचीन पड़ जाती है तो इसके बदले क्षमताशील नवीन व्यवस्था के सकारात्मक पक्ष को अपनाना चाहिए। प्रस्तुत आलोचक ने प्रेमचन्द के इस अनुमान[7] के कारण उन्हें

बाल्जाक; जोला और डिकेंस की भाँति विश्व-स्तर के उपन्यासकार माना है। आलोचक ने प्रेमचन्द की रचनाओं में औपनिवेशिक गाँव के अंतर्गत शोषित किसान के साथ-साथ एक ऐसे वर्ग का भी संकेत दिया है जिसे उन्होंने 'अर्द्ध-सामन्त' या 'सुधरा हुआ भू-स्वामी' नाम दिया है। औपनिवेशिक संस्कृति के भीतर इसके सम्बन्ध में आलोचक ने यह निष्कर्ष निकाला है कि शहरी वर्ग और अर्द्ध-सामंतों के परजीवी संस्कार ने ही भारतीय गाँव के सांस्कृतिक धरातल को ध्वस्त-भग्न कर दिया। '...अपनी कृतियों में सामाजिक यथार्थ की मुख्य प्रवृत्ति को एक ओर अक्रामक, परजीवी शहरी निवासियों और दूसरी ओर निष्क्रिय तथा मेहनतकश ग्रामीण जनता के बीच की खाई के रूप में ही देखा।'[8] इसके सम्बन्ध में प्रेमचन्द की सबसे बड़ी न्यूनता यही बतायी गई है कि उन्होंने 'भू-प्राप्त और भू-हीन किसानों के बीच के अन्तर और अन्तर्विरोध' पर अपना बयान स्पष्ट नहीं किया है। प्रेमचन्द के भारतीय गाँव के सांस्कृतिक पक्ष को आलोचक ने गाँधी के विचारों के आलोक में निरूपित करने की चेष्टा कीहै क्योंकि उनके अनुसार गबन तक के उपन्यास में महात्मा गाँधी के चिंतन और अन्तर्दृष्टियों का चित्रण दिखाई पड़ता है। लेकिन गोदान में औपनिवेशिक संस्कृति के अंतर्द्वंद के कारण प्रेमचन्द ने यथार्थ को चित्रित करने का भरपूर प्रयास किया है।

प्रेमचन्द के साहित्य के सांस्कृतिक पक्ष को परखने के लिए इन आलोचकों ने अपने तर्कों और दृष्टिकोण को आधार बनाया है। सांस्कृतिक आयाम के किसी भी पक्ष पर आलोचना करते वक्त स्वाभाविक रूप से धार्मिक पक्ष घुस जाते है, लेकिन इन तीनों आलोचकों ने प्रेमचन्द के सांस्कृतिक दृष्टिकोण को धार्मिक भावनाओं से मुक्त रखा है। प्रेमचन्द के साहित्य के सांस्कृतिक धरातल के सम्बन्ध में इन आलोचकों की सबसे बढ़ी अवधारणा 'सांस्कृतिक जनजागरण' को लेकर है। सांस्कृतिक मूल्यांकन के लिए इन आलोचकों ने नई अवधारणाओं को आलोचना का केंद्रीय तत्व स्वीकार किया है। इसके लिए आलोचकों ने प्रेमचन्द की रचनाओं के सांस्कृतिक पक्ष के तह तक जाकर अति सूक्ष्म एवं बारीक तथ्यों को ढूँढ़ निकाला जिसके जरिए 'अर्द्ध सामन्त' जैसे नई अवधारणा को अध्ययन का मूल स्रोत बनाया। इस अध्ययन के द्वारा आलोचकों का निष्कर्ष यह है कि भले ही प्रेमचन्द ने भारतीय सांस्कृतिक धरोहर को साहित्य का पहचान बना लिया हो लेकिन उन्होंने पुरातनपंथी भेदभाव पर आधारित संस्कृति का पूर्णतः तिरस्कार किया है। यानि आलोचकों के अनुसार पुरानी व्यवस्था तथा नयी व्यवस्था के सकारात्मक पक्षों से बनी जन संस्कृति को वाणी देना ही प्रेमचन्द का रचनात्मक लक्ष्य था। अन्य आलोचकों की तुलना में इन आलोचकों का आलोचनात्मक पाठ बिल्कुल अलग ढ़ंग के हैं जो पाठक को प्रेमचन्द के साहित्य के सम्बन्ध में अध्ययन - विश्लेषण के नए वातावरणों की ओर ले जाते हैं।

संदर्भ :

1. जोशी, पूरनचन्द, परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, राजकमल प्रकाशन, 2009, पृ.11
2. जोशी, पूरनचन्द, परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, राजकमल प्रकाशन, 2009, पृ.77

3. डॉ. मित्तल, सत्यवती, भारतीय जनजागरण और प्रेमचन्द के उपन्यास, प्रकाशन संस्थान, पृ.164
4. डॉ. मित्तल, सत्यवती, भारतीय जनजागरण और प्रेमचन्द के उपन्यास, प्रकाशन संस्थान, पृ.165
5. जोशी, पूरनचन्द, परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, राजकमल प्रकाशन, 2009 , पृ.199
6. सं. अरविंदाक्षन, ए, प्रेमचन्द के आयाम, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2006, पृ.54-55
7. जोशी, पूरनचन्द, परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, राजकमल प्रकाशन, 2009, पृ.186
8. जोशी, पूरनचन्द, परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, राजकमल प्रकाशन, 2009, पृ.195

शोधार्थी,हिंदी विभाग
कोच्चिन विज्ञान व
प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय,
केरल- 682022

भारतीयता के उपासक : प्रेमचंद

- राघवेन्द्र सिंह

'हिन्दी कथा साहित्य का सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार कौन? यह प्रश्न जब भी समक्ष आता है तो उत्तर मिलता है मुंशी प्रेमचंद। हिन्दी साहित्य में प्रेमचंद एकमात्र ऐसे लेखक हैं जिनका अपना एक विलक्षण व अद्वितीय व्यक्तित्व है, अनूठी पहचान है, जिनकी कथा हिन्दुस्तान के जन-जन के अन्तःस्थल को झकझोरती है। हिन्दुस्तान की बात करने वाले इस लेखक को वामपंथी साम्यवादी सोच का पैरोकार बताइएगा तो गांधीवादी गांधी का पुजारी और आर्यसमाजी दयानंद सरस्वती का चेला लेकिन वादों विवादों से परे यह लेखक भारतीय आत्मा का लेखक हैं। मुंशी प्रेमचंद का संपूर्ण रचना कर्म भारत की शस्य श्यामला भूमि के वासियों की समस्याओं के निदान हेतु जद्दोजहद का आख्यान है। प्रेमचंद देश की सभी समस्याओं का निदान अपनी मिट्टी के तासीर के हिसाब के सदैव आग्रही रहे। प्रेमचंद सच्चे अर्थों में भारतीयता के लेखक हैं, आजीवन भारतीय आत्मा को देशवासियों के जेहन में पिरोने का व्रत का पालन करते रहे व पाश्चात्य संस्कृति की विद्रूपताओं से आगाह करते रहे। वर्तमान पीढ़ी प्रेमचंद के साहित्य को आत्मसात करेगी तो अवश्यमेव भारतीयता की रक्षा होती रहेगी।कलम का सिपाही सच्चे अर्थों में भारतीयता का सिपाही है।'

भारत के यशस्वी प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने आधी आबादी के गृहस्थ जीवन को सरल व सुगम बनाने हेतु 1 मई 2016 को उज्ज्वला योजना का शुभारंभ किया। उज्ज्वला योजना के संदर्भ में नमो ऐप पर लाभार्थी महिलाओं से बातचीत के संदर्भ में भारतीय प्रधानमंत्री ने कहा कि झ'मुझे आज याद आ रहा है हमारे देश के बहुत बड़े विद्वान लेखक मुंशी प्रेमचंद उनकी एक बहुत मशहूर कहानी है ईदगाह। उन्होंने जो वह कहानी साल 1933 में लिखी थी, और इस कहानी का मुख्य किरदार एक छोटा सा बालक हमीद था। वह मेले में मिठाई न खाकर अपनी दादी के लिए एक चिमटा खरीद लाता है और चिमटा इसलिए ताकि खाना बनाते समय दादी के हाथ जल न जाए उन्हें चोट न लग जाए।'[1] ईदगाह कहानी का मर्म प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी को ही नहीं अपितु संपूर्ण भारतीय मन को उद्वेलित करता है। यही संवेदनशील मर्म का उद्वेलन प्रेमचंद को महान और प्रासंगिक बनाता है।

जब भी हिंदी के महान कथाकार की बात आती है तो प्रेमचंद का नाम बरबस ही प्रत्येक हिन्दुस्तानी की जुबान पर आता है। उसका एकमात्र कारण है प्रेमचंद रचित साहित्य में भारतीयता का पुट। हिंदुस्तान की सौंधी मिट्टी की बात करते-करते ही 'कलम का सिपाही' उपन्यास सम्राट के रूप में अमरत्व प्राप्त करते हैं। प्रेमचंद का संपूर्ण साहित्य भारत, भारतीयता व भारतीयों के लिए ही सदैव समर्पित रहा है। प्रेमचंद ने लिखा है कि मेरे दो ही उद्देश्य हैं पहला तो मैं स्वराज चाहता हूँ और दूसरा में भारतीय आत्मा की रक्षा करना चाहता हूँ। प्रश्न यह है कि भारतीय आत्मा क्या है? भारतीय आत्मा है भारतीय संस्कृति। भारतीय संस्कृति का ही उद्घोष है 'वसुधैव कुटुंबकम्'[2], 'माता भूमि पुत्रोऽहं पृथीव्याः[3]', 'सर्वे भवंतु सुखिनः[4]' यह उद्घोष भारतीय समाज जीवन, राष्ट्रीय जीवन के मूल मंत्र ही नहीं अपितु वैश्विक समाज, जीवन व राष्ट्रीय जीवन के मूल मंत्र हैं।

जिससे संपूर्ण मनुष्य जाति सुखी, संपन्न, समृद्ध, संवेदनशील व मानवीय बन सकेगी। राष्ट्रीयता को संस्कृति से विलग नहीं किया जा सकता। प्राचीन काल में सनातन संस्कृति को भारतीय संस्कृति या भारती ही कहते थे।

'उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।'[5]

प्रेमचंद ने अपने साहित्य में भारतीय आत्मा के दीपक को ही प्रज्वलित किया। प्रेमचंद की भारतीयता हिंदू मन का ही रेखांकन है। उपन्यास सम्राट का एक-एक शब्द हिंदुस्तान के राष्ट्रीय जीवन का राग है। भारत माता के चरणों में समर्पित वह उद्गार है जो हजारों- हजारों वर्षों से हिंदू संस्कृति से निसृत है। 'भारतीयता का अर्थ है भारत की समग्र परंपरा, भारतवर्ष का सामाजिक -सांस्कृतिक इतिहास, भारतवर्ष की पुरातन-अधुनातन पृष्ठभूमि, भारतवर्ष की संवेदना, भारतवर्ष की कला, भारतवर्ष का साहित्य। इन सब में एक ही भाव है जो भारतवर्ष के प्राचीन दर्शन व भारत के अध्यात्म को जीवन से जोड़ता है। मेरी दृष्टि में भारतीयता पूरे इतिहास का निचोड़ है हमारे दर्शन का निचोड़ है हमारे जीवन के आदर्शों का प्रतीक है।'[6]

भारतीय समाज को कुरीति, पाखंड व कलंक को मेटकर सामाजिक समरसता के मध्य सांस्कृतिक पुनर्जागरण हेतु अहर्निश युद्धरत कबीर की ही परंपरा को अपने लेखनी के माध्यम से प्रेमचंद भी आगे बढ़ा रहे थे। प्रेमचंद के मानस में अंकित भारतीय संस्कृति का उदात्त स्वरूप उनको बार-बार सामाजिक बुराइयों को मिटाने के लिए आक्रोशित व उद्वेलित कर रहा था। जिसका परिणाम था कि पुरुषोत्तम राम के निषाद राज, शबरी या यूँ कहें कि समाज के वंचित, शोषित समाज को मुख्य धारा में शामिल कर भारतीय संस्कृति की सैद्धांतिकी को व्यवहारिक स्वरूप प्रदान करने हेतु प्रेमचंद आजीवन संघर्षरत रहे। यही वह बिंदु है जहाँ कुटिल वामपंथी वंचित, शोषित के उल्लेख मात्र से उनको मार्क्सवादी या साम्यवादी खांचे में फिट करने हेतु शीर्षासन करते रहते हैं लेकिन प्रेमचंद वामपंथी न होकर सही मायने में भारतीयता के उपासक, राष्ट्रीयता के उद्घोषक, भारतीय संस्कृति के सच्चे सिपाही थे।

'जब हम कहते हैं कि भारतीय सृष्टि नारायण की सृष्टि है। जब हम मनुष्य की एकता की बात करते हैं, तो हम साम्यवाद की बात स्वीकार क्यों करें। जब हमारा भारतीय दर्शन मनुष्य की एकता की बात करता है। अद्वैतवाद यह कहता है कि सब मनुष्य बराबर हैं। सब ईश्वर की संतान हैं तो मैं इस दर्शन को स्वीकार करूँगा या मार्क्सवादी दर्शन से स्वीकार करूँगा? इसलिए प्रेमचंद में जो भारतीयता है जो उनके जीवन मूल्य हैं, जो उनके साहित्य में आए हैं, वह भारत की सनातन परंपरा से आए हैं। वह मार्क्स से नहीं आए। प्रेमचंद एक भी ऐसा पात्र पैदा नहीं कर पाए जो लेनिन या स्टालिन का रूप हो। हाँ, उन्होंने ऐसे पात्र बनाए जो गांधी का प्रतिरूप हो सकता है। जो धर्म ,न्याय, सत्य पर चलते हैं। ये पात्र कम्युनिस्ट कैसे हो सकते हैं। इसलिए प्रेमचंद भारतीय आत्मा के महाकथाकर हैं।यही सत्य है।'[7]

भारतीय संस्कृति या भारतीयता समरसता, त्याग, तपस्या, बलिदान, एकात्मकता, कौटुम्बिकता, आध्यात्मिकता आदि तत्वों से निबद्ध है ,और हम प्रेमचंद के साहित्य

का अवगाहन करेंगे तो पायेंगे कि प्रेमचंद इन्हीं भाव धाराओं के लिए सदैव संघर्षरत रहे। मुंशी प्रेमचंद हिंदुस्तान की सभी समस्याओं का समाधान अपनी मिट्टी की तासीर के अनुसार ही करना चाहते थे।' रूस में यह तरीका कैसे कामयाब हो गया? हो गया,जैसे हो गया, मगर उससे क्या; हर समय हर जगह एक ही नुस्खा काम नहीं देता। हर देश का अपना अलग रंग-ढंग होता है, परंपरा, इतिहास, मनोविज्ञान सब कुछ अलग होता है। उसको समझना जरूरी है वर्ना बस नाकामी हाथ आती है।'[8]

मुगलकालीन सत्ता से विह्वल भारतीय मानस को राम रूपी छांव से शीतलता की जो कामना 16वीं शताब्दी में गोस्वामी तुलसीदास ने की, अंग्रेजों की गुलामी से तप्त भारतीय मानस के लिए वही कामना राजनीतिक प्रदेश में गांधी व साहित्यिक प्रदेश में प्रेमचंद कर रहे थे। कमल किशोर गोयनका लिखते हैं - 'गांधी स्वाधीनता आंदोलन का नेतृत्व कर रहे थे और वे पाँच लाख लोगों का सामूहिक बलिदान चाहते थे, पर प्रेमचंद का रास्ता व्यक्ति-व्यक्ति को इसके लिए तैयार करना था। साहित्य राजनीति की तरह सामूहिक आंदोलन नहीं करता, वह तो हर व्यक्ति को, जो उसका पाठक है स्वतंत्र रूप से संस्कारित करता है, उनके मन में नई चेतना उत्पन्न करता है और उसमें भारत-बोध जाग्रत करके स्वराज के लिए कुछ करने के लिए उद्धत करता है।..... गांधी अपनी धर्माश्रित राजनीति से भी भारतीय आत्मा की रक्षा और स्वराज के लिए ही अहिंसक संग्राम कर रहे थे और प्रेमचंद उसे अपने साहित्य से गतिशील बना रहे थे। गांधी राजनीति में और प्रेमचंद साहित्य में ऐसे स्वराज के लिए समर्पित थे जो भारतीय चित्त और चेतना से भारतीय आत्मा की रक्षा कर सके। गांधी इसलिए रामराज्य के रूप में स्वराज को पाना चाहते थे और प्रेमचंद का लक्ष्य भी इससे भिन्न नहीं था। वे स्वाधीनता संग्राम के साहित्यिक नायक थे।'[9]

प्रेमचंद को वामपंथी विचारधारा के विचारकों व लेखकों ने सदैव अनर्गल व्याख्याओं के आधार पर अपने खेमे का लेखक घोषित किया। वामपंथियों ने प्रेमचंद रचित साहित्य को पढ़ने की या तो जहमत नहीं उठाई या जानबूझकर मानसरोवर -7 में संकलित 'जिहाद' जैसी कहानियों को कभी भी विमर्श के केंद्र में आने नहीं दिया। 'जिहाद' कहानी इस्लामिक बर्बरता व धर्मांतरण के अमानुषिक पक्ष को उजागर करती है। प्रेमचंद हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे और इस्लाम धर्म की भातृभाव पक्ष के कायल थे लेकिन कलम का सिपाही इस्लाम धर्म के धर्मांतरण व रक्तपात की मुखालफत भी करता है। प्रेमचंद हिन्दू धर्म की प्राचीन अद्वितीय सांस्कृतिक परंपराओं के कायल हैं और स्वधर्म हेतु प्राणोत्सर्ग के पक्षधर हैं। 'जिहाद' कहानी के खजाचंद का प्राणोत्सर्ग सनातन संस्कृति की परम्परा का अद्वितीय उदाहरण है। श्यामा धर्मदास से कहती है-'तुम्हारे पास वह खजाना था, जो तुम्हें आज की लाख वर्ष हुए ऋषियों ने प्रदान किया था। जिसकी रक्षा रघु और मनु,राम और कृष्ण, बुद्ध और शंकर, शिवाजी और गोविंद सिंह ने की थी। उस अमूल्य भंडार को आज तुमने तुच्छ प्राणों के लिए खो दिया।'[10]

'मैं उस धर्मवीर की व्याहता हूँ, जिसने हिन्दू जाति का मुख उज्ज्वल किया है। तुम समझते हो कि वह मर गया। यह तुम्हारा भ्रम है। वह अमर है। मैं इस समय उसे स्वर्ग में बैठा देख रही हूँ। तुमने हिन्दू जाति को कलंकित किया है। मेरे सामने से दूर हो

जाओ।'[11]

सोजे -वतन (1908) में संकलित कहानी 'यही है मेरा वतन' का पात्र अमेरिका से साठ वर्ष बाद जब हिन्दुस्तान लौटता है और बम्बई में अंग्रेजी बोलते लोग, अंग्रेजी दुकानें और मोटर गाड़ी देखता है तो निराश होता है, उसकी निराशा, वेदना आनंद में तब परिवर्तित होती है जब वह गंगा स्नान हेतु जाते बुजुर्गों को देखता है साथ वह भी चल पड़ता है। अपने हृदय में अंकित प्यारा हिंदुस्तान, वह गंगा माँ की गोद में गायत्री मंत्र जप रहे साधकों, माथे पर टीका लगाए सस्वर वेदपाठी ब्राह्मणों, हवन करते साधकों के मध्य जाकर पाता है और गुनगुनाता है- 'प्रभु मेरे अवगुन चित्त न धरो...।'

'मैं खुशी से पागल हो रहा था। मैंने अपना पुराना कोट और पतलून उतार फेंका और जाकर गंगा माता की गोद में गिर पड़ा , जैसे कोई नासमझ, भोला-भाला बच्चा दिन भर पराये लोगों के साथ रहने के बाद शाम को अपनी प्यारी माँ की गोद में दौड़कर चला आये, उसकी छाती से चिपट जाये। हाँ, अब मैं अपने देश में हूँ। यह मेरा प्यारा वतन है, यह लोग मेरे भाई हैं, गंगा मेरी माता है।'[12]

प्रेमचंद का यह पात्र गंगा माँ की गोद में निवास करता है और राम- नाम जप करता है और उसकी दिली तमन्ना है कि उसकी अस्थियाँ यूँ कहें की संपूर्ण अस्तित्व माँ गंगा के में ही समाहित हो जाए।

हिंदू संस्कृति व सनातन धर्म अनादि है, अनंत भी है क्योंकि इसका सृजन मानवता व संस्कारों की बुनियाद पर आधारित है। हिंदू संस्कृति गाय, गंगा, गायत्री और गीता पर आधारित है। गाय और गंगा की संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है। प्रेमचंद सांस्कृतिक दृष्टि से सदैव संपन्न रहे। 'सभ्यता का रहस्य' कहानी का मूल उद्देश्य सांस्कृतिक जागरूकता के माध्यम से पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित भारतीय मानस को झकझोरना ही था। 'कलम का सिपाही' भारतीयता के आईने में भारतीयों को अपने साहित्य के माध्यम से उपभोक्तावादी संस्कृति से आगाह कर रहा था।

आज संपूर्ण विश्व उपभोक्तावादी संस्कृति से संत्रस्त है और इससे निपटने की राह खोज रहा है। इसकी राह प्रेमचंद के साहित्य में निहित है।' सभ्यता का रहस्य' के राय साहब और दमड़ी के चरित्र से प्रेमचंद पाश्चात्य संस्कृति के बरक्स भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता स्थापित करते हैं और भारतीयता में ही अपनी आस्था प्रकट करते हैं।' अगर कोट- पतलून पहनना, टाई-हैट कालर लगाना, मेज पर बैठकर खाना- खाना, दिन में तेरह बार कोक या चाय पीना और सिगार पीते हुए चलना सभ्यता है, तो उन गोरों को भी सभ्य कहना पड़ेगा, जो सड़क पर बैठकर शाम को कभी-कभी टहलते नजर आते हैं, शराब के नशे से आंखें सुर्ख, पैर लड़खड़ाते हुए रास्ता चलने वालों को अनायास छेड़ने की धुन! क्या उन गोरों को सभ्य कहा जा सकता है? कभी नहीं। तो यह सिद्ध हुआ की सभ्यता कोई और ही चीज है, उसका देह से इतना संबंध है नहीं है जितना मन से।'[13]

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा'[14] मंत्र ईशावास्योपनिषद का महज मंत्र मात्र नहीं है अपितु यह भारतीय संस्कृति,भारतीयता या यूँ कहें कि भारतीय मानस का मूल मंत्र है। 'त्याग' भारतीय जीवन दर्शन का आधारभूत तत्व है। राम, कृष्ण, बुद्ध, दधीचि, हरिश्चंद्र जैसे अनेकानेक महापुरुषों का जीवन त्याग का सर्वोत्तम उदाहरण है। प्रेमचंद भारतीय जीवन

मूल्यों के आग्रही थे। प्रेमचंद की कहानी 'बैंक का दिवाला' के पात्र कुंवर साहब कहते हैं - 'दरिद्रता कोई पाप नहीं है। यदि मेरा त्याग हजारों घरानों का कष्ट और दुरावस्था से बचाए तो मुझे उससे मुंह न मोड़ना चाहिए। केवल सुख से जीवन व्यतीत करना ही हमारा ध्येय नहीं है। हमारी मान- प्रतिष्ठा और कीर्ति सुख- भोग ही से तो नहीं हुआ करती। राज मंदिरों में रहने वालों और विलास में रत राणा प्रताप को कौन जानता है? यह उनका आत्मसमर्पण और कठिन व्रत पालन ही है, जिसने उन्हें हमारी जाति का सूर्य बना दिया है। श्री रामचंद्र ने अपना जीवन सुख-भोग में बिताया होता तो आज हम उनका नाम भी न जानते। उनके आत्म बलिदान ने ही उन्हें अमर बना दिया।'[15]

'पंच परमेश्वर' कहानी भी भारतीयता को ही निरूपित करती है, भारतीय इतिहास तमाम गाथाओं से भरा पड़ा है जहां धर्म पालन हेतु संबंधों को भी दरकिनार कर दिया जाता है।

'दोस्ती-दोस्ती की जगह है, किन्तु धर्म का पालन करना मुख्य है। ऐसे ही सत्यवादियों के बल पर पृथ्वी ठहरी है, नहीं तो यह कब की रसातल को चली जाती।'[16]

'सद्गति'(1931), 'ठाकुर का कुंआ '(1932),'कफन'(1936) प्रभृति कहानियां जो प्रेमचंद के साहित्य के संदर्भ में वामपंथी विचारकों द्वारा बार-बार उल्लिखित की जाती हैं क्योंकि इन कहानियों के माध्यम से ही वह हिन्दू धर्म और भारतीय संस्कृति को कमतर घोषित करने का लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन प्रेमचंद का यह लेखन साम्यवाद से प्रभावित होकर कदापि नहीं किया गया क्योंकि भारतीय साहित्यिक-सांस्कृतिक परंपरा ऐसे लेखन से समृद्ध रही है। भारतीय संस्कृति में सामाजिक विभेद को सदैव हेय माना गया है। विश्व के सबसे प्राचीन ग्रंथ वेद सामाजिक समरसता का मार्ग प्रशस्त करता आ रहा है। वेद का उद्घोष -'यत्र विश्वम् भवत्येकनीडम्' अर्थात वेद वह नीड़ है जहां संपूर्ण विश्व एकात्मकता एक साथ निवास करता है। भारतीय मनीषी सहकार, समरसता की भावना से सदैव निबद्ध रहा।

'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते।।'[18]

प्रेमचंद भारतवर्ष की एकात्मकता के क्षरण व उससे समाज जीवन में व्याप्त बुराईयों को समूलनाश के लिए सदैव उद्यत रहे, क्योंकि सनातन संस्कृति में अंधकार पक्ष के विरुद्ध लड़ने की एक लम्बी परंपरा रही है। नाथपंथ के साधक रहे हों या संत परंपरा के कबीर और रैदास सभी ने सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध अपना मत प्रकट किया।

'जो तू बाभन बभनी जाया। तौ इन बाट होइ काहे न आया।'[19]

कबीर की ही परम्परा का निर्वहन कथा साहित्य में प्रेमचंद कर रहे थे, स्पष्ट है कि उनका लेखन मार्क्स से नहीं अपितु भारतीय भावधारा से ही प्रभावित रहा है।

'हिंदुत्व का सीधा मतलब है, तर्क.-प्रतितर्क, सोच-विचार और सतत प्रवाही बहस का अनुसंधानपरक अधिष्ठान। डॉ. अंबेडकर ने हिन्दू धर्म पर बेशक उत्तेजक सवाल उठाए। उनके सवाल हिंदू समाज की जाति-वर्ण आधारित व्यवस्था की सहज पीड़ा से आए। लेकिन यह हिंदुत्व का ही कमाल है कि उसकी कोख से डॉ. अंबेडकर जैसा अग्निधर्मा विद्रोही पैदा हुआ। उसी की कोख से बुद्ध जैसा परिपूर्ण ज्ञानी। बुद्ध ने भी

हिंदू धर्म और हिंदू समाज की तमाम मान्यताओं को काटा। स्वामी दयानंद ने भी। लेकिन सारा कमल हिंदुत्व का है। यहां ज्ञान की यात्रा लगातार जारी ही रहती है। विश्व ज्ञान का प्राचीनतम एनसाइक्लोपीडिया, ऋग्वेद कहता है- 'हे परमात्मा, श्रेष्ठ विचार सभी दिशाओं से हमारे पास आएं।' एतदर्थ हिंदुत्व की सनातन धारा में सद् विचारों के स्वागत की परंपरा है। हिंदू आदिकाल से सत्य, शिव और सुंदर की शोध यात्रा पर है।'[20]

प्रेमचंद उपनिवेशवाद से स्वाधीनता के साथ ही समाज जीवन में भी समरस व भय मुक्त समाज की स्थापना था। 'आहुति' कहानी की रूपमणि हो या 'गबन' उपन्यास का देवीदीन खटिक समाज जीवन व राष्ट्र जीवन पर अपना स्पष्ट मत रखते हैं। प्रेमचंद जहां बाहरी तत्वों से राष्ट्र की संप्रभुता के आग्रही थे तो वहीं समाज विघातक तत्वों से भी भारत को मुक्त करना चाहते थे। उनके जेहन में एक आदर्श हिन्दुस्तान का सपना था। देश, वेष, भाषा, खान-पान सभी दृष्टियों से प्रेमचंद भारत और भारतीयता के पक्षधर थे। पाश्चात्य पहनावे पर व्यंग्य अंग्रेजी के इ४३ बट और ढ४३ पुट पर व्यंग्य करते हैं, तो वहीं मादक वस्तुओं के बरक्स भारतीयों के खान-पान की प्रशंसा करते हैं। निष्कर्षतः कह सकते हैं कि प्रेमचंद आचार, विचार, व्यवहार प्रत्येक दृष्टि से भारतीयता के उपासक थे।

संदर्भ :

1. https://www.bbc.com/hindi/in-44280312, 2.पञ्चतंत्र 5.3.37, 3.अथर्ववेद, पृथ्वीसूक्त 12.1.12, 4.गरूड़ पुराण 2.35.51, 5. विष्णुपुराण 2.3.1, 6. सं.प्रभात झा, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली 2016,पृष्ठ -78, 7. डॉ. कमल किशोर गोयनका, कालजयी लेखक हैं प्रेमचंद, पाञ्चजन्य 5 अगस्त 2018, भारत प्रकाशन, दिल्ली,2018 पृ. 8, 8. अमृतराय, कलम का सिपाही, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद,1992,पृ.218, 9. डॉ. कमल किशोर गोयनका, प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ कहानी की खोज,नई धारा पत्रिका, अशोक प्रकाशन, पटना,1 दिसंबर 2021 पृ.14, 10. मानसरोवर -7, प्रकाशन संस्थान,नयी दिल्ली,1999, पृ.181, 11. वही पृ.183, 12. सं-बलराम अग्रवाल, सोजे वतन तथा अन्य जब्त सुदा कहानियां, साक्षी प्रकाशन, दिल्ली, 2019, पृ. 39, 13. मानसरोवर -4, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली,1999, पृ. 202, 14. ईशावास्योपनिषद मंत्र -1, 15. मानसरोवर-7, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 1999, पृ.106, 16. वही पृ.157, 17. ऋग्वेद-10-191-2, 18. डॉ. पारस नाथ तिवारी, कबीर ग्रंथावली, राका प्रकाशन, प्रयागराज,1976,पद 182, पृ.106, 19.सं.प्रभात झा, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली 2016, पृ.114-115

सहायक प्राध्यापक (हिन्दी)
भदावर विद्या मंदिर
स्नातकोत्तर महाविद्यालय बाह, आगरा - 283104

बेरोजगार युवा मानस की व्यथा-कथा और अखिलेश का कथा-साहित्य

- डॉ. योगेन्द्र सिंह / प्रो. नवीन चन्द्र लोहनी, शोध निर्देशक

मनुष्य समाज की मूलभूत इकाई है। समाज के कार्य-व्यवहार और उद्देश्यपरकता को सुचारु रूप से गतिशील बनाए रखने के पीछे मनुष्य का विशेष प्रदेय है। मनुष्य ने समाज में सामाजिक संबंधों का ऐसा ताना-बाना बुना है जिसमें मनुष्य ही इसका सर्वेसर्वाऔर नियोक्ता दोनों है। सामाजिक गतिशीलता की इस प्रक्रिया में प्रत्येक चर-अचर की अपनी अलग भूमिका और योगदान होता है। इन सभी प्राणियों में केवल मनुष्य ही एकमात्र प्राणी है जिसे अपने जीवन-यापन के लिए अर्थोत्पादन की आवश्यकता पड़ती है। अर्थोत्पादन की प्रक्रिया ही उसकी आजीविका कहलाती है। साहित्य, सत्ता को राह दिखाने वाली मशाल होती है, किंतु पिछले कुछ समय से साहित्य के स्वरूप और उद्देश्यों में व्यापक बदलाव आए हैं। संक्रमण के इस दौर में जहाँ लेखकों के समक्ष सृजन के अनेक आयाम है, वहाँ देश के समक्ष खड़ी इस भयावह स्थिति की ओर बहुत कम लोगों का ध्यान गया है। उपेक्षा के इस दौर में केवल वहीं व्यक्ति इस मार्मिक स्थिति को साहित्य में उकेर सकता है, जो स्वयं इस अवस्था का भुक्तभोगी रहा हो। अखिलेश का लेखन; युवा वर्ग की इसी विवशता की बानगी प्रस्तुत करता है। आपकी कहानी 'चिट्ठी' बेरोजगार युवाओं की कारुणिक त्रासदी का महाख्यान है, जिसे हिंदी कथा संसार में एक मील का पत्थर माना जाता है। इस विषय पर लिखी गई आपकी कहानी चिट्ठी अत्यंत लोकप्रिय और चर्चित रही है। शिक्षित बेरोजगारी को अपना वर्ण्य-विषय बनाती यह कहानी; हिंदी कथा साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। गाँव-कस्बों से इलाहाबाद पढ़ाई और नौकरी की तैयारी करने आए युवाओं की मनो-सामाजिक अवस्थाओं से यह कहानी बखूबी गुजरती है। इस कहानी को पढ़कर ऐसा ही प्रतीत होता है कि इस कहानी का एक पात्र स्वयं लेखक भी रहा है अथवा उसने बहुत पास से इस मार्मिक व्यथा को देखा व झेला ही नहीं है अपितु पूरी शिद्दत के साथ महसूस भी किया है। कहानी में वे इस विषम स्थिति को इस रूप में दशाते हैं 'कमोवेश मंडली के हर सदस्य की स्थिति यही थी। किंतु त्रासदी थी कि हम सुखमय जीवन जीने की कामना करते थे, किंतु हमारे मनीऑर्डर वानप्रस्थ पहुँचाने वाले थे। यह दीगर बात है कि सब लोग त्रिलोकी की तरह पहले हफ्ते में ही कंगाल नहीं होते थे लेकिन महीने के अंत में भोजन को लेकर तीन तिकड़म करना सभी की बाध्यता थी।'[1] युवाओं के लिए ही नहीं बल्कि यह समस्या निम्नवर्गीय समाज के लिए आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। अंततः उनके परिवार का भी धैर्य जवाब दे जाता है और उनके वापिसी का बुलावा आ जाता है। इसी मार्मिक स्थिति को अखिलेश ने इस प्रकार दशार्या है 'आखिर हम यहाँ इकट्ठा क्यों हुए हैं? मदन मिश्र दार्शनिक अंदाज में बोला। मैंने कहा, यहाँ हम विदाई-समारोह के उपलक्ष्य में एकत्र हुए हैं। नहीं, प्रदीप ने बताया, यह बैठक हमारे शोक की सभा है। हमारे पास जो सुख था, इस बैठक से पहले खत्म हो गया। कल से हम दुःखी दुनिया के दुःखी नागरिक होंगे।

हम नागरिक नहीं हैं। दुःखी दुनिया के नागरिक मजदूर और किसान होते हैं, जिनके श्रम का शोषण होता है। हमारे पास तो सामाजिक श्रम करने का भी अधिकार नहीं है। त्रिलोकी तैश में आ गया था जिसके पास कोई काम नहीं होता, वह आदमी नहीं होता। हम आदमी नहीं है इस व्यवस्था ने हमें आदमी नहीं रहने दिया, हमसे हमारा होना छीन लिया गया। त्रिलोकी सुबकने लगा। वह सिर झुकाए सुबक रहा था।'[2]

यहाँ कथाकार अखिलेश ने बेरोजगार युवाओं की दयनीय मनोस्थिति को चित्रित किया है। बिना काम-काज के व्यक्ति कितना असहाय व उपेक्षित होता है, यह स्थिति अखिलेश ने कहानी के पात्र कृष्णमणि के माध्यम से दिखाई हैं 'तुम लोग समझते होंगे मैं नशे में हूँ लेकिन मैं होशोहवास में कह रहा हूँ। बेरोजगारी के कारण मैं कई-कई बार रोया हूँ। पिछली बार रक्षाबंधन था। बहन को देने के लिए मेरे पास कुछ भी नहीं था। भाई उसके लिए कपड़े ले आए थे। मेरे पास कुछ नहीं था। बहन ने मेरे सिराहने की किताब में चुपके से सौ का नोट रख दिया। उसे पॉकेट में रख खूब रोया। मैंने उसे कुछ नहीं दिया। वह नोट अब भी मेरी डायरी में रखा है। मैं उसे देखता हूँ और उदास हो जाता हूँ।'[3] बेरोजगारी जितनी घातक हैं उससे भी अधिक घातक स्थिति शैक्षिक बेरोजगारी की है। कहानी का हर एक पात्र इससे पीड़ित है। अशिक्षित व्यक्ति कहीं भी, कोई काम या मजदूरी तो कर सकता है मगर वे लोग वह कार्य भी नहीं कर सकते हैं। 'और मैं, मेरा पिता से कोई संवाद नहीं। एक दिन उन्होंने गुस्से में चीखकर कहा, लोग पूछते हैं कि तुम्हारा बेटा क्या करता है? मैं क्या बताऊँ उन्हें? बोल। जवाब दो। बोल। बस, इसी दिन से हम एक-दूसरे से नहीं बोले।'[4] बेरोजगार व्यक्ति के लिए बेरोजगारी उसकी स्वजनित नहीं होती है अपितु यह सामाजिक होती है। यह जानते हुए भी समाज इस व्यवस्था के निवारण हेतु उपाय न करके बेरोजगार व्यक्ति को उपेक्षित करने लगता है जबकि उपेक्षा बेरोजगार व्यक्ति की नहीं बेरोजगारी की होने चाहिए थी। समाज की उपेक्षा का दंश झेल रहे व्यक्ति को जब अपने अपनों तथा परिवार की उपेक्षा और तिरस्कार का सामना करना पड़ता है तो उसकी यह पीड़ा असहयनीय हो जाती है। कहानी के उपर्युक्त उद्धरण में कथाकार अखिलेश ने ऐसी ही स्थिति पर दृष्टिपात किया है।

'चिट्ठी' कहानी में लेखक अखिलेश ने समकालीन समय की ऐसी हकीकत को बेनकाब किया है, जिसे सत्ताधारियों ने लगभग बेदखल कर दिया है। मगर सच इस बेदखली के सर्वथा विपरीत है। यह समस्या आज भी वैसी ही है जैसी चिट्ठी कहानी के समय थी। लेखक अखिलेश न इसे बड़ी बेबाकी से प्रस्तुत करके; इसी सच की शनाख्त की है। 'चिट्ठी' कहानी के संदर्भ में वरिष्ठ कथाकार स्वयंप्रकाश का मत दृष्टव्य है 'अखिलेश की कहानी 'चिट्ठी' हिंदी कहानी का बड़ा मोड़ साबित हुई थी। जैसे ज्ञानरंजन की फैंस के इधर-उधर या प्रेमचंद की कफन। यह कोई पच्चीस साल पहले लिखी गई थी। पहली नजर में कहानी का शिल्प बहुत पुराना और कुछ-कुछ ओ हेनरीनुमा लगता है।'[5] स्वयंप्रकाश का यह कथन 'चिट्ठी' कहानी की सर्वमान्यता की पुष्टि ही नहीं करता अपितु इसके शिल्प पर भी दृष्टिपात करता है।

'चिट्ठी' कहानी का ही अगला पड़ाव 'मुक्ति' कहानी है। चिट्ठी कहानी में अखिलेश ने जहाँ कई युवाओं के माध्यम से इस समस्या पर गंभीरता से दृष्टिपात किया था तो

'मुक्ति' कहानी में एक अकेले शिक्षित युवा सुभाष के चरित्र के माध्यम से बेरोजगारी जनित दशाओं का गहन अन्वेषण किया है। बेरोजगार व्यक्ति के लिए जीना अभिशाप है। वह अपनी इच्छाओं को मारकर जीता तो रहता है मगर बार-बार उसके सम्मान को चोट पहुँचती रहती है। 'मुक्ति' कहानी के एक प्रसंग में कहानीकार में ऐसी ही स्थिति पर दृष्टिपात किया है-

'पप्पू परिचय कराने लगा, भइया यह मेरा दोस्त अनिल है। बनारस में रहता है। अच्छा, किस क्लास में पढ़ते हो अनिल? उसने स्नेह से पूछा ट्वैल्थ में। कुछ देर और वह अनिल से बात करता रहा। तभी अनिल पूछ बैठा, कहाँ हैं आप, उसने बताया, यहीं। अनिल ने फिर पूछा, क्या करते हैं आप? वह घबड़ा गया। कोई जवाब नहीं सूझ रहा था। हकलाने लगा। आखिर किसी तरह बोला, कुछ नहीं। बस ऐसे ही। इतना कहने के बाद देखा, थोड़ी देर पहले इस लड़के के चेहरे पर उसके प्रति सम्मान की जो चमक थी, बुझ गई।'[6] बेरोजगार व्यक्ति के लिए 'वह क्या करता है' इस प्रश्न का जवाब देना बहुत दुष्कर और कष्टदायी होता है। लेकिन यहीं सवाल उसके सामने बार-बार आता जाता रहता है।

कथाकार अखिलेश ने इस भयावह समस्या को केवल अपनी कहानियों में ही नहीं उठाया है अपितु अपने उपन्यासों में और अधिक व्यापक विषय के रूप में प्रस्तुत किया है। आपका प्रथम उपन्यास 'अन्वेषण' बेरोजगार युवाओं का महाख्यान माना जाता है। प्रस्तुत उपन्यास भारतीय समाज में बेरोजगार युवाओं की सिनयोग्राफी प्रस्तुत करता है। उपन्यास का नायक एक बेरोजगार युवा है। इसके सभी दोस्त भी उसी की तरह बेरोजगार ही है। वह उपन्यास के आरंभ में ही निराशा से लिप्त हैं 'मेरी नौकरी पाने की उम्र बीत गई। मेरी नौकरी पाने की उम्र का यह आखिरी साल था। लेकिन नहीं, मेरी नौकरी पाने की उम्र का आखिरी साल वह था जब मेरी नौकरी पाने की उम्र का पहला साल था। मेरी शुरूआत का पहला दिन मेरे अंत का अंतिम दिन था।'[7] स्पष्ट है उपन्यास का नायक रोजगार न मिलने के कारण निराशा से घिरा हुआ है। उसकी यह निराशा परिस्थितिजन्य है जो धीरे-धीरे उसे ही नहीं उसके जैसे अधिकांश लोगों को घेरती जाती है। जैसे-जैसे ये लगाव अथोर्भाव से जूझते हैं वैसे-वैसे ही इनकी क्रांति चेतना के सभी पक्ष मौन होते जाते हैं। बस एक ही पक्ष जागृत रहता है, नौकरी की इच्छा। अफसोस! वह बहुत कम लोगों को ही मिल पाती है।

लेखक ने अन्वेषण उपन्यास में 'चिट्ठी' कहानी को ही और अधिक विस्तार दिया है; यदि यह कहा जाए तो अप्रासंगिक नहीं होगा क्योंकि उपन्यास के कथाविस्तार में 'चिट्ठी' कहानी के प्रसंग बखूबी नजर आते हैं। उदाहरणार्थ, 'वह आखिरी दिन था जब हम विजेन्द्र के काफी हाउस में इकट्ठा थे। बस, एक राघव नहीं था। विजेन्द्र का मनीऑर्डर आया था, सो वह कॉफी के साथ पकौड़ा भी खिला रहा था। मदन जल्दी-जल्दी खा रहा था। वह भूखा था। पता नहीं, सुबह उसने खाना खाया था या नहीं। पता यह भी नहीं कि पिछली रात उसने खाना खाया था या नहीं। दरअसल निश्चित तो यह भी नहीं कि उसे खाना कब मिला था।'[8] इधर ये युवा बेरोजगार भूखे-प्यासे रहकर रोजगार के विकल्प तलाशने में लगे होते हैं उधर इनके माता-पिता की उम्मीदें धीरे-धीरे नाउम्मीदी

में बदलती जाती है। इसी की बानगी उपन्यासकार ने यहाँ कराई हैं 'मैं भीतर कमरें में घुस गया। देखा, पिता चारपाई पर कमरे की छत को एकटक देखते हुए रो रहे थे। मूक और अविरल। मुझे देखकर उन्होंने आँसू पोंछे। उनकी आँखें सूखी थी। मुझसे चारपाई की पाटी पर बैठने का इशारा किया। मैं बैठ गया। उन्होंने कहा तुझे चिंता करने की कोई जरूरत नहीं। मैं हूँ, वह इतनी जोर से बोले कि मैं चौंक गया। दरअसल वे माँ को सुनाना चाह रहे थे यह बात, जो बरामदे में बैठी थी। मैंने खिड़की से देखा माँ उठकर आँगन में चली गई। इसका मतलब, वह दुःखी थी। दुःखी न होती तो मुस्कुराती। माँ को जाता देख पिता जी का चेहरा मुरझा गया।'[9] यह वेदना इकतरफा नहीं होती है। दरअसल इसमें बेरोजगार व्यक्ति तो पीसता ही है उसके साथ-साथ उसके कामयाब होने की आस लगाए बैठे उसके माता-पिता को भी पीसना पड़ता है। 'तभी अचानक मेरी आँखों से आँसू निकलने लगे, मैं क्या करूँ? कुछ करने को हो, तो करूँ, आखिर मैं क्या करूँ? माँ और पिता जान न ले इसलिए मैं कंठ को दबाकर रो रहा था।'[10] उपन्यास का नायक 'मैं' एक अदद रोजगार पाने की जद्दोजहद में अपने प्रेम को भी खो देता है और अपने आत्मसम्मान को भी। उसके पिता अपनी नौकरी से रिटायर होने के बाद भी प्राइवेट नौकरी करते है] यह बात उसे आत्मग्लानि से भर देती है। अखिलेश ने इस उपन्यास का ताना-बाना बेरोजगारी के इर्द-गिर्द ही बुना है इसलिए इसके अधिकांश पात्र इसी दंश से पीड़ित हैं। बेरोजगारी की इस मार को जो युवा झेल लेता है वह कुछ कर गुजरता है। मगर जो झेल नहीं पाता वह कहीं का नहीं बचता। उपन्यासकार ने इस स्थिति का बड़ा मार्मिक चित्रण उपन्यास में चित्रित किया है-

'पिछले साल नवम्बर में, देवेन्द्र ने आत्महत्या कर ली। क्यों, कैसे, मुझे लगा खून का बहुत बड़ा थक्का मेज पर आ गिरा हो और फड़फड़ा रहा हो। क्यों, क्या, जिस लिए नौजवान मरते हैं। राखी में बहन नहीं आई तो बहन के घर राखी बँधाने खाली हाथ गया था। बहन ने राखी बाँध दी और कहा, तुम हमारी हँसी क्यों उड़वाते हो? वह दरअसल उसी क्षण मर गया था। लेकिन उसने आत्महत्या रास्ते में की। हालाँकि बहन कोई इकलौती वजह नहीं थी। बहन की तरह बहुत लोगों ने मारा था। वह बहुत बार मरा था लेकिन आत्महत्या उसने रास्ते में की।'[11] हर बेरोजगार युवा की यही कहानी हैं। स्वयं उपन्यासकार अखिलेश ने उपन्यास की इन पंक्तियों में बेरोजगार युवाओं की इस आत्मवेदना को स्वरानुभूति प्रदान की हैं 'हमें ध्वस्त करने के लिए बस इतना ही काफी है कि कोई हमसे पूछे कि हम क्या कर रहे हैं?'[12] यह सवाल हमारी खैरियत पूछना नहीं होकर हम पर तंज कसना है जिससे हर बेरोजगार युवा को दो चार होना पड़ता है। इसी संदर्भ में प्रियंम अंकिम का मत द्दष्टव्य है 'अन्वेषण लगातार क्रूर दौर की सलाखों में गिरफ्तार युवा के अंतःस्थल में प्रतिध्वनित होते विप्लवों को पूरी ईमानदारी से दर्ज करता है।'[13] इसी तथ्य की पुष्टि हरे प्रकाश उपाध्याय भी करते हैं 'कथाकार अखिलेश का पहला उपन्यास अन्वेषण दरअसल भयावह बेरोजगारी और कैरियरवाद के बीच व्यवस्था से जूझते उस संघर्ष और सरोकार की तलाश की कोशिश है जो कहीं दीप्त तो अपनी पूरी आभा के साथ है मगर उसे लापता हो जाने का खतरा सामने पेश है।'[14] स्पष्ट है कि अखिलेश का वह उपन्यास बेरोजगार युवा मानस की पीड़ा को व्यक्त करने

वाला मार्मिक आख्यान है, इसमें उपन्यासकार ने भारतीय समाज में व्याप्त इस समस्या को विविध आयामों-संदर्भों में उद्घाटित किया है।

अखिलेश ने अपने दूसरे उपन्यास 'निर्वासन' में भी इस समस्या की ओर ध्यानाकर्षित किया है। इस समस्या की तलाश में अखिलेश एक साथ तीन कालखंड़ों में विचरण करते नजर आए हैं। वे सर्वप्रथम इसकी तलाश औपनिवेशिक काल में करते है। जब भुखमरी, अकाल जैसी समस्याओं से तंग आकर लाखों भारतीयों को निर्वासित होकर गिरमिटिया देशों में जाना पड़ा था। यदि उन गिरमिटिया मजदूरों के समक्ष आजीविका का संकट न होता तो वे कदापि अपनी जन्मभूमि को छोड़कर जाने को तैयार नहीं होते। भूख व रोजगार, कभी इन दोनों कारकों के कारण ही वे असहाय निर्वासन के लिए अभिशप्त हुए थे। इस स्थिति को अखिलेश ने उपन्यास में इस रूप में चित्रित किया है।

वस्तुतः कहा जा सकता है कि कथाकार अखिलेश का कथा साहित्य अपने समय में बेरोजगार युवाओं के संघर्ष व छटपटाहट को सफलतापूर्वक दर्शाता है। आजीविका का संकट और रोजगार की समस्या अखिलेश का प्रिय विषय रहे हैं इसलिए आपकी कहानी तथा उपन्यासों में ये घटनाएँ बार-बार आती है। आपकी कथा दृष्टि का वैशिष्ट्य है कि इस विषय की पुनरावृत्ति होने पर भी; ये एक नयापन लिए होती है। जिसमें युवाओं को सार्थक दिशा की प्राप्ति हेतु प्रेरित किया जाना, सबसे बड़ी विशेषता है। कथाकार अखिलेश की कथादृष्टि इसी श्रमदृष्टि और सौंदर्यबोध से अनुगृहीत है।

संदर्भ :

1.अखिलेश, चिट्ठी, शापग्रस्त, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1997, पृ॰सं॰ 45, 2. वही, पृ॰सं॰ 56, 3. वही, पृ॰सं॰ 57, 4. वही, 5. स्वयं प्रकाश, चिट्ठी से निर्वासन तक, बनास जन, पृ॰सं॰ 308, 6. अखिलेश, मुक्ति, मुक्ति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1984, पृ॰सं॰ 56, 7. अखिलेश, अन्वेषण, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1992, पृ॰सं॰ 9, 8. वही, पृ॰सं॰ 28, 9. वही, पृ॰सं॰ 29-30, 10. वही, पृ॰सं॰ 30, 11. वही, पृ॰सं॰ 95, 12. वही, पृ॰सं॰ 99, 13. प्रियम अंकित, लहूलुहान होती संभावनाओं की गरिमा का अन्वेषण, कथाकार अखिलेश : सृजन के आयाम, साहित्य भंडार प्रकाशन, प्रयागराज, प्रथम संस्करण 2019, पृ॰सं॰ 182, 14. हरे प्रकाश उपाध्याय, बेरोजगारी का मार्मिक आख्यान, कथाकार अखिलेश : सृजन के आयाम, साहित्य भंडार प्रकाशन, प्रयागराज, प्रथम संस्करण 2019, पृ॰सं॰ 185

प्रशिक्षित स्नातक शिक्षक (हिंदी)
राजकीय उच्चतर माध्यमिक बाल विद्यालय,
गीता कॉलोनी, दिल्ली-110031

'धर्म और अधर्म' नाटक - पौराणिक परिप्रेक्ष्य में

- डॉ शर्लिन

हिंदीतर भाषी लेखक डॉ. एन चंद्रशेखरन नायर के तीन एकांकी नाटकों का संकलन है - धर्म और अधर्म' इस संकलन के नाटक है - सृष्टि का रहस्य ,महाभारत का वीर पुरुष, धर्म और अधर्म। इस संकलन के तीनों नाटक रामायण और महाभारत युग से संबंधित हैं। इस संकलन के सभी एकांकी पौराणिक हैं लेकिन युगीन संदर्भों की गहरी भाव भूमि होने के कारण इनकी मूल्य वक्त स्वयं सिद्ध करती है।

'सृष्टि का रहस्य' एकांकी, इस संकलन का प्रथम एवं लघु एकांकी है। इस एकांकी का कथानक अंग नरेश लोमपातकी उपकार दृष्टि तथा धार्मिक प्रवृत्ति से संबंध है। सूखे के कारण संपूर्ण राज्य अकाल ग्रस्त है। राजा और मंत्री इस बात से चिंतित है कि भीषण अकाल से प्रजा की रक्षा कैसे की जाए। अनेक याज्ञिक अनुष्ठान होते हैं, लेकिन वर्षा नहीं होती। राजा लोमपाद को पश्चाताप होता है क्योंकि उन्हीं के दुष्कर्मों से परेशान ब्राह्मणों ने अंग देश त्याग दिया था। राजा लोमपाद कहते हैं - 'मंत्री ठीक बोल रहे हैं। मुझे बड़ा खेद है। मेरे कारण सारे ब्राह्मण देवता हमारा यह अंग देश छोड़ गए हैं। अब पछता रहा हूँ' ।[1] मंत्री उन्हें राजा दशरथ के दुष्कर्म का भी स्मरण कराता है जिन्होंने मुनि कुमार की हत्या की और पाप कर्म के भागी बने राजा लोमपाद का कथन है -'हाँ हमारे मित्रवर महाराजा दशरथ को मुनि कुमार की हत्या से शाप लग गया है। उन्हें पुत्र शोक होगा। यही मुनि शाप है।'[2] इस प्रकार राजाओं की पतनोन्मुख स्थितियों की ओर संकेत करके मंत्री उन्हें सजग करते हैं। पुत्रहीन दशरथ की दयनीय स्थिति की ओर लोमपाद का ध्यान जाता है तो वे गंभीरता से सोचते हैं तथा मंत्री को किसी योग्य ऋषि की तलाश करने का आदेश देते हैं ताकि वह पुत्रेष्टि यज्ञ भी संपन्न कर सकें और वर्षा भी करा सकें। इसके लिए मंत्री विभाण्डक के पुत्र ऋष्यश्रृंग से यज्ञ कराने की सलाह देते हैं। उन्हें लाने का उपक्रम भी करता है। महर्षि विभांडक का ब्रह्मचर्य उर्वशी के कारण खंडित हुआ था। मंत्री कहते- 'महर्षि विभाण्डक को एक बार महाह्रद में स्नान करने वाली उर्वशी का दर्शन मिला और उनका ब्रह्मचर्य खंडित हो गया। महर्षि ने चाहा कि उसी बीज से उत्पन्न पुत्र ऋष्यसृंग को जीवन में कभी स्त्री दर्शन से व्रत -भंग न हो जाए।'[3] अतः उन्होंने अपने पुत्र को नारी की छाया से दूर रखा है। उनके क्रोध के भय से ऋष्यश्रृंग को यज्ञ हेतु आमंत्रित करना दुष्कर कार्य है। इस दुष्कर कार्य को संपन्न करने के लिए एक वारांगना अपनी पुत्री को प्रस्तुत करती है जो ऋष्यश्रृंग के कोमल भावों को उद्दीप्त करके तथा दशरथ पुत्री शांता के विवाह हेतु प्रस्तुत करके स्वयं उनके मार्ग से हट जाती है। ऋष्यश्रृंग के आगमन मात्र से वर्षा का प्रबल वेग अकाल की काली छाया को दूर कर देता है। ऋष्यश्रृंग में सांसारिक सुख भोगने की लालसा जगती है। विभांडक सृष्टि के रहस्य को समझते हैं इसीलिए पुत्र के इस कार्य के प्रति संतोष व्यक्त करके सहर्ष सहमति दे देते हैं। इस तरह दशरथ पुत्री शांता से उनका विवाह संपन्न हो जाता है।

इन घटनाओं की सूत्रधार वारांगना और उनकी पुत्री है। वे राजा के द्वारा दिए जाने वालेपुरस्कार को भी स्वीकार नहीं करते। राजा लोमपात मंत्री से कहते हैं - 'लेकिन मुझे

एक बात में अब भी खेद हो रहा है। हमने उस वारांगना को राज्यसभा में उचित स्थान देकर सम्मानित करना चाहा। परंतु उस स्त्री ने अपने लिए कुछ न लेकर महान त्याग का परिचय दिया।'[4] अंततः महर्षि विभाण्डक की सारी स्थिति को समझ लेते हैं और कहते हैं कि आज समझ गए हैं कि ईश्वर का निश्चय ही बलवान है। वारांगना महर्षि की उपस्थिति में दिवंगत होती हैं और उसकी पुत्री को यह कह कर ले जाते हैं कि 'अब उसका नया जीवन जन्म हो रहा है, वेश्यालय में नहीं, पर्णशाला में उसका नया जीवन व्यापार होगा।'[5] इस नाटक में राजा लोमपद अपने उदार राजत्व, महर्षि विभाण्डक अपनी तेजस्वी व्यक्तित्व तथा ऋष्यश्रृंग अपने सहज सरल व्यक्तित्व से दर्शक को प्रभावित करते हैं किंतु इससे भी ऊपर नाटककार ने वारांगना और उसकी पुत्री के चरित्र की उदात्तता को प्रतिष्ठित किया है। इनके माध्यम से लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि 'स्त्री चाहे वह वारांगना ही क्यों न हो ,अपने त्याग से ही पवित्र है। व्यवसाय से कोई ऊँचा या नीचा नहीं होता।'[6] वारंगना और उसकी पुत्री अपनी चरित्रगत उदात्तता के कारण अंततः उच्च आध्यात्मिक परिणति को प्राप्त करती हैं। वारांगना का कथन है - 'मैंने अपने प्राणों पर खेल कर ही महर्षि के पास जाने का वचन दिया है। इसलिए कि यह देश सुख चैन से रहे दुर्भिक्ष और अकाल से बचे।[7] प्रस्तुत नाटक में स्त्री का त्याग और उसकी चरित्रगत उद्दातता का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है।

'धर्म और अधर्म' संकलन का दूसरा एकांकी है - 'महाभारत का वीर पुरुष'। यह नाटक दो दृश्य का एकांकी है। प्रथम दृश्य में शरशैय्या पर पड़े भीष्म पितामह और कर्ण के बीच का वातार्लाप है। एकांकी का प्रारंभ महाभारत युद्ध की विकराल रात्रि के मध्य होता है। बाणशैय्या पर भीष्म पितामह पड़े हुए हैं। कर्ण आते हैं और पितामह को नमन करते हैं। भीष्म पितामह की इस दशा से कर्ण को दुख होता है। भीष्म पितामह कर्ण को आलिंगन करते हुए कहते हैं -'मुझे मालूम है कि तुम सारे जगत में एकमात्र दानवीर हो तुम जैसे सर्वश्रेष्ठ सुरमा हो वैसे अतुल्य ब्राह्मण भक्त भी हो। कर्णमेरे वत्स, तुम देवता सदृश्य हो।'[8] पितामह उसे कुंती पुत्र होने का रहस्य बताते हैं लेकिन कर्ण पहले से ही इस बात से अवगत था। भीष्माचार्य सलाह देते हैं कि वह अपने भाइयों - पांडवों के साथ हो जाएँ। लेकिन कर्ण दुर्योधन के उपकारों का स्मरण करते हुए इस प्रस्ताव को विनम्रतापूर्वक टाल देता है। कर्ण को जहाँअपने सगे भाइयों ने अपमान किया वहाँ दुर्योधन ने मान सम्मान दिया इसलिए कर्ण कहते हैं 'जिस दुर्योधन ने मेरा उद्धार किया उसे मैं कैसे भूल सकता हूँ। मेरे हृदय की भभकती आग पर उन्होंने स्नेह का पानी डालकर मुझे उबार लिया।'[9] युद्ध में भी वह दुर्योधन का साथ ही देता है। अंत में भीष्माचार्य संदेश देते हैं - 'प्रतिहिंसा छोड़ों क्रोध छोड़ो पर क्षत्रिय धर्म का पालन करो।'[10]

द्वितीय दृश्य में श्री कृष्ण, कुंती, द्रौपदी, तथा पांडवों के बीच का वार्तालाप है। इस दृश्य में कुंती श्री कृष्ण के समक्ष अपने पुत्रों से इस सत्य का उद्घाटन करती है कि कर्ण पांडवों का जेष्ठ भाई है। पांडव शोकमग्न को जाते हैं और कर्ण के प्रति अपने व्यवहार के बारेमें सोचकर पश्चाताप करते हैं। युधिष्ठिर कहते हैं - 'मैं सोच रहा था, बड़े भाई ने जानबूझकर मुझे वध से मुक्त किया था। नहीं तो, जब उन्होंने युद्ध में मुझे पराजित किया, पर मुझे न मार कर छोड़ दिया, तब सचमुच मुझसे पित् तुल्य स्नेह किया। उन्होंने

युद्ध क्षेत्र के पीछे मुड़ते हुए मुझे रोककर पूछा आप यह क्या कर रहे हैं? अच्छे राज परिवार में जन्म पाया। युद्ध से पीठ दिखाकर प्राण रक्षा करना चाहते हैं क्या क्षत्रिय धर्म नहीं जानते? ब्राह्मण धर्म ही आपको प्रिया होगा। आप कृपया वीरों का सामना न करें। उनसे अप्रिय न कहना विशेष कर मुझ जैसे व्यक्ति से। जाइए अर्जुन और कृष्ण के पास जाइए। कर्ण आपकी हत्या नहीं करेगा। हाय! वेकितने अच्छे!'[11] कृष्ण कुंती के कथन का समर्थन करते हुए यह जानकारी देते हैं कि युद्ध के आरंभ होने से पूर्व ही कर्ण को समझाने की कोशिश की थी ताकि वह पांडवों के साथ मिल जाए लेकिन कर्ण ने एक न मानी। युधिष्ठिर विगत घटनाओं पर शोक व्यक्त करते हुए कहते हैं -'शेष जीवन मैं अपने किए पर आँसू बहाता रहूँगा। सर्वगुण संपन्न कर्ण जैसे बड़े भाई का वध करके राजभोग की इच्छा नहीं होती।'[12]

'महाभारत का वीर पुरुष 'नामक नाटक में डॉ. नायर ने वीर पुरुष कर्ण के महान व्यक्तित्व को ही उभारा है। भीष्माचार्य, कुंती, पांडव सब कर्ण के स्वाभिमान वीरता और दानशीलता के प्रति श्रद्धानत है। इस प्रकार लेखक ने विवादास्पद चरित्र का विश्लेषण कर कर्ण की तेजस्विता को उजागर किया है।

'धर्म और अधर्म' में डॉ चंद्रशेखर नायर ने महाभारत युद्ध और युद्धोपरांत हुए धर्म और अधर्म का चित्रण किया है। प्रथम दृश्य में द्रौपदी युधिष्ठिर को अपने हक के लिए लड़ने के लिए प्रेरित करती हैं। भीम भी क्षत्रियों की प्रशंसा करके युधिष्ठिर को युद्ध के धर्म मार्ग पर लाने की चेष्टा करते हैं। भीम कहते हैं -'आप कैसे क्षत्रिय वंश में जन्म पा गए। आपका व्यक्तित्व ब्राह्मण का है। क्षत्रिय के लिए युद्ध से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। इसलिए शत्रु वध के लिए तैयार हो जाइए।'[13] इसी बीच व्यास महर्षि भी आते हैं। युधिष्ठिर की आशंका समाप्त हो जाती है। दूसरे दृश्य में भी अर्जुन को युद्ध करने के लिए प्रेरित करते हुए हम देख पाते हैं। भीम का कथन है - 'केवल ईश्वर के नाम पर पौरुष का हनन करना पाप है। उल्टे, पौरुष के सामने विधि का सामना करना ही धर्म है। धर्म और अधर्म के भेद को स्पष्ट करते है युधिष्ठिर इसी बात की पुष्टि करते हुए कहते हैं भीष्म पितामह ने भी एक संदर्भ में मुझसे कहा था कि जो राजा क्षमा करता है उसकी नीच जन हमेशा निंदा करेंगे जैसे महावत बलशाली हाथी के सिर पर पैर रखकर उसकी पीठ पर चढ़ता है। वैसे दयालु राजा का अनादर होता रहेगा।'[14] युधिष्ठिर श्री कृष्ण की राय को अमल करने की इरादे से कृष्ण से मिलने निकल पड़ता है।

तीसरे दृश्य में संजय के माध्यम से धृतराष्ट्र युद्ध को टालने का संदेश भिजवाता है इस बात पर चर्चा करने के लिए पांडवों की ओर से श्री कृष्ण जाते हैं। इस दृश्य में श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर, भीष्म, अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी और संजय है। संजय युधिष्ठिर से घृतराष्ट्र का संदेश देता है कि वह और भीष्म पितामह आदि श्रेष्ठजन युद्ध नहीं चाहते हैं' युधिष्ठिर युद्ध न करने की सलाह से सहमत होते हुए भी कौरवों द्वारा हड़पे गए इंद्रप्रस्थ के हिस्से की माँग करते हैं। संजय युद्ध के भीषण परिणाम का उल्लेख करके युधिष्ठिर को भयभीत और विपथ करता है। संजय कहते हैं - 'आर्य पांडव, घृतराष्ट्र महाराज ने यह संदेश भेजा है कि पुत्र पांडवों को क शम प्राप्त हो। आप बड़े धर्मिष्ट एवं अहिंसक हैं। युद्ध भयानक। स्वजनों को मार कर राजभोग करना श्रेयस्कर नहीं है। वहाँ

भीष्म आदि आचार्य को भी शम ही प्रिय है। पांचाल राजा और कौरवों को शांति दे।'[15] लेकिन युधिष्ठिर विपथ न होते हुए कर्तव्य पालन एवं धर्म युद्ध के लिए तैयार होते हैं।

चौथे दृश्य में धराशायी दुर्योधन को दिखाया गया है जो अपने धर्म से पराजित होने के कारण क्रुध है। श्री कृष्ण के संकेत से भीम दुर्योधन की जाँघ पर प्रहार करते हैं जो युद्ध नियम के विरुद्ध है। दुर्योधन कहते हैं 'अरे कंसदास का पुत्र! क्या तुझे लज्जा नहीं आती? तूने भीम को संकेत दिया कि मेरी जाँघ पर मारो। राजाओं को अनेक धार्मिक रीति से तूने मरवा डाला। असत्य कथन कर द्रोण से धनुष डलवा कर धृष्टद्युम्न द्वारा उनका वध कर दिया। तूने ही अर्जुन द्वारा गलत बाण से घटोत्कच का वध कराया। तुझसे बढ़कर पापी कौन हो सकता है? नरश्रेष्ठ कर्ण को भी तूने धोखे से मरवा डाला। तूने अनार्य होकर भी मुझे जैसे अनेक धर्मिष्ट आर्यों की हत्या करवाई थी।'[16] भीम अपनी प्रतिज्ञा का पालन करता है। दुर्योधन इसेअधर्म कहता है लेकिन पांडव इसे प्रतिज्ञा का पालन कहकर धर्म की दुहाई देते हैं। श्री कृष्ण धर्म की रक्षा के लिए धर्म का आश्रय लेने की बात स्वीकार करते हैं। कृपाचार्य अश्वत्थामा और कृत्तवर्मा दुर्योधन की इस अवस्था पर क्रुद्ध होकर पांडवों का वंश नाश करके लौट आते हैं और दुर्योधन को यह सुखद समाचार देते हैं कि- पांडवों के पक्ष में वासुदेव और सात्यकी को मिलाकर केवल सात ही अवशेष रह गए हैं और हम तीन बचे है। द्रौपदी के बेटे धृष्टद्युमन और सारे पांचाल मारे गए' उनके सारे दुष्कर्मों का हमने बदला लिया। धृष्टध्युमन को मैंने दबोच दबोचकर मार डाला।'[17] इस तरह दुर्योधन यह समाचार सुनकर तृप्त भाव से आंखें मूंदकर मृत्यु का वर्णन करता है।

डॉ. चंद्रशेखर के नाटकों का मूल भाव सर्वोदय का है। इंद्रसिंह का कथन है 'नायर जी के नाटकों की प्रमुख विशेषता यह है कि चाहे प्रतीकात्मक पात्र हो चाहे अभीधात्मक। दोनों ही आदर्श, देश प्रेम, राष्ट्रीयता, सर्वोदयता की उदात्त भावनाओं के परिवेश में फलते-फूलते हैं। पात्र त्याग और तपस्या की पावन अग्नि रेखा से परीक्षा देकर भक्ति और अनुराग के खरे कंचन पर जटिल आभूषण बन जाते हैं जो मानव मन में अपना अमिट बिम्ब छोड़ जाते है।'[18] प्रस्तुत नाटक 'धर्म और अधर्म' में लेखक ने निष्पक्ष भाव लिया है। वे न पांडवों के साथ है और न ही कौरवों के साथ। उन्होंने दोनों को धर्म और अधर्म के निर्णय हेतु कटघरे में खड़ा करके अपनी तटस्थता प्रदर्शित की है।

1-डॉ. एन. चंद्रशेखर नायर का नाटक साहित्य -डॉ . एन.चंद्रशेखर नायर -श्रीनिकेतन प्रकाशन - प्रथमसंस्करण -1982 ,पृष्ठ 11, 2 वही , पृष्ठ 11, 3 वही , पृष्ठ 12, 4 वही , पृष्ठ 22, 5 वही , पृष्ठ26, 6 दक्षिण की प्रतिनिधि हिंदी साहित्यकार -डॉ .एन चंद्रशेखर नायर - डॉ गोपालजी भटनागर -पृष्ठ 186, 7-डॉ . एन .चंद्रशेखर नायर का नाटक साहित्य -डॉ एन.चंद्रशेखर नायर -श्रीनिकेतन प्रकाशन - प्रथम संस्करण -1982, पृष्ठ 14, 8 वही, पृष्ठ 30, 9 वही , पृष्ठ32, 10 वहीं, पृष्ठ 34, 11 वहीं, पृष्ठ 41, 12 वहीं, पृष्ठ 43, 13 वहीं, पृष्ठ 50, 14 वहीं, पृष्ठ 57, 15 वहीं, पृष्ठ 59, 16 वहीं, पृष्ठ 66-67, 17. वहीं, पृष्ठ 72, 18 डॉ . एन .चंद्रशेखर नायर का नाट्य साहित्य-समीक्षात्मक अध्ययन- श्रीनिकेतन प्रकाशन - प्रथम संस्करण -1982–इंद्रसेंगर- पृष्ठ 41

सह. आचार्य, सरकारी संस्कृत कालेज, तिरुवनंतपुरम, केरल

दलित विमर्श के आइने में हिन्दी नाटक और रंगमंच

- विभीषण कुमार

आज बौद्धिक और साहित्यिक जगत में दलित विमर्श पर काफी चर्चा चर्चा चल रही है। अन्य भारतीय भाषाओं के साथ हिन्दी भाषा के विविध साहित्यिक विधाओं के साथ नाटकों के द्वारा भी दलितों के सवाल, हक और अधिकारों को उठाया जा रहा है। नाटक को साहित्य की सबसे प्रभावपूर्ण विधा माना जाता है। यह दलित समाज के लिए और भी प्रभावी है, क्योंकि यह समाज अशिक्षित-अर्द्धशिक्षित व्यक्तियों का समूह है। ऐसे में दलित नाटकों का लेखन-मंचन दलितों पर अधिक असर डालता है। आम्बेडकर जी ने कहा है -'मेरे दस भाषणों से कहीं अधिक एक नाटक की प्रस्तुति लोगों पर असर डालती है।'[1] हिन्दी मुख्यधारा के नाटककारों ने भी दलित चेतना से संपृक्त नाटकों का लेखन-मंचन किया। दिल्ली में दलित जीवन के आस-पास मंचित होनवाले कुछ नाटक हैं - 'सुलगते दरिया', 'मिट्टी की गाड़ी', 'जाति ही पूछो साधु की', 'कबिरा खड़ा बजार में', 'कोर्ट मार्शल', 'महाभोज', 'आगरा बाजार', 'जमादारनी' आदि।

कबीर ऐसे समाज सुधारक कवि थे जिनका व्यक्तित्व भारतीय जनमानस को प्रभावित करता रहा है। ऐसे व्यक्तित्व को लेकर भीष्म साहनी का 'कबिरा खड़ा बजार में' महत्वपूर्ण नाटक है। इसमें कबीर ढोंग, और रुढ़िवादी मिथ्या धारणाओं का खंडन करने वाला संघर्षी पात्र है जो जाति और धर्म के बीच संघर्ष करते हुए एक नए मूल्य और प्रतिमान की स्थापना करता है। कबीर के अक्खड़ और प्रखर व्यक्तित्व को लेकर इस नाटक का कई बार मंचन हो चुका है, जिसे रंगमंच पर व्यापक प्रशंसा मिली है। स्वयं नाटककार के शब्दों में - 'नाटक में उनके काल की धर्मांधता, अनाचार, तानाशाही आदि के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उनके सत्यान्वेषी प्रखर व्यक्तित्व को दिखाने की कोशिश की गयी है।'[2]'कोर्ट मार्शल' नाटक सेना में व्याप्त जातिवाद, भेदभाव और वर्चस्ववादी मानसिकता के साथ सैन्य न्याय-व्यवस्था का सच उजागर करता है। इस नाटक के माध्यम से स्वदेश दीपक ने आधुनिक हिन्दी रंगमंच को नई ऊर्जा प्रदान की है। इसका प्रथम मंचन 1991 ई. को दिल्ली में हुआ था। उस समय सुनील शंकर ने कराची, पाकिस्तान में इसके पचासों शो किए। जिससे यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि दर्शकों ने इसे कितना पसंद किया।

मन्नू भंडारी के 'महाभोज' नाटक की कथावस्तु का केन्द्र सरोहा नामक गाँव है जहाँ सूदखोरी और बेगारी से दलितों का संघर्ष है। शासन-प्रशासन भी सत्ता के हाथों की कठपुतली बनी हुई है। निर्दोष को फंसाने और दोषी को बचाने का पूरा खेल रचकर राजनीतिक रोटी सेंकी जाती है। वे 'मंच प्रस्तुति के बाद' में लिखती हैं - 'बड़े-बड़े नगरों के सभ्य नागरिकों के लिए 'महाभोज' की तकलीफ एवं संघर्ष सुपरिचित स्थिति से दिल दहला देने वाला, लेकिन मात्र एक कलात्मक साक्षात्कार भर है, जबकि देश की संघर्षरत जनता के लिए साहस और प्रतिरोध का हथियार भी।'[3] ऐसे नाटकों के मंचन के लिए दलित रंगमंच की अवधारणा ने नई जमीन प्रदान की है। जिससे दलितों में नई ऊर्जा का संचार होता है। क्योंकि दलित नाटक का थीम सामाजिक सरोकारों

से इतना जुड़ा हुआ है कि इसे पढ़कर दलित वर्ग अस्मिताई संघर्ष के लिए प्रेरित होते हैं। हिन्दी साहित्य के कई नाटककार आरम्भ से ही रंगमंच से जुड़े थे। लेकिन उन्होंने लोक नाटकों की तरफ ध्यान नहीं दिया। जिसके कारण दलित नाटक रंगमंच से प्रायः दूर होते चले गये। प्रसिद्ध मराठी नाट्यकार संजय जी लिखते हैं - 'हिंदी के रंगकर्मियों ने देशी नाट्य शैलियों की तरफ जरा भी ध्यान नहीं दिया। दिल्ली से बाहर रंगमंडलियाँ नहीं निकली। हबीब तनवीर ने कुछ दलित विषयों को लेकर दलित कलाकारों के साथ 'आगरा बाजार', चरणदास चोर', 'चंदा बेड़नी' जैसी अच्छी नाट्य कलाकृतियाँ पेश की। लेकिन वह अलग संस्कृति बताने तक सीमित रही। कोई विद्रोह खड़ा नहीं कर पाई।'[4] दलित नाटकों की रचना पर्याप्त होने के बाद भी उसके मंचन की समस्या बनी हुई है। भारतीय रंगमंच की लम्बी परंपरा में दलित विमर्श से सम्बन्धित रंगमंच का अभाव है। भरतमुनि ने नाट्यधर्मी और लोकधर्मी दो रूपों में नाटकों को बाँटा था। नाट्यधर्मी नाटकों का सम्बन्ध जहाँ शास्त्रीय पद्धति से था, वही लोकधर्मी का सम्बन्ध आम जन-जीवन के व्यक्त दुख-दर्द और सहज बोल चाल की भाषा से। दलित नाटक और रंगमंच कला या मनोरंज के लिए नहीं है, बल्कि दलितों में चेतना और अस्मिता लाने के लिए है। इसे मोहनदास नैमिशराय की इस परिभाषा से पुष्ट किया जा सकता है - 'दलित नाटक वह है, जिसमें रक्त संचार की भाँतिचेतना का संचार होता हो। यहाँ तिलिस्म, फरेब, प्रेम-प्रसंग, माला-कमंडल, मूर्ति-मंडन, तिलक-त्रिपुंड या आकाशीय कल्पनाओं के लिए कोई जगह नहीं है। विषमताओं से मुकाबला और संघर्ष के लिए तत्परता उसकी गुण-ग्रा'ता है। यहाँ गणना (द४ल्ल३३८) नहीं, गुणवत्ता (द४ँ३८) की महत्ता है। दलित नाटक की जमीन उसकी प्रामाणिकता का द्योतक है। अतीत के उत्पीड़न की फोटोग्राफी अपेक्षित नहीं है। शिक्षा, पद, विकास और पुनर्वास के साथ आज का सच उजागर होना चाहिए। उसे प्रयोगधर्मी होने के बजाय यथार्थवादी होना है।'[5] परम्परागत हिन्दी नाटकों के लिए लोक नाटकों के लिए अभिनय एवं रंगमंचीय व्यवस्था में दलित समाज आरंभ से ही जुड़े हुए हैं। ऐसे लोक नाटकों का अध्ययन करते हुए मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं -'मध्यकाल में जिस तरह के मौखिक क्षेत्रीय और लोक रंगमंच का जन्म और विकास हुआ वह तो पूरी तरह से दलित वर्ग पर आश्रित था। ये लोग नाटक मंडलियों के साथ गाँव दर गाँव घूम-घूमकर समाज के जमीदार सभ्रांत और धनाढ्य वर्ग का मनोरंजन किया करते थे। भांड, बिरासी, मदारी, अखाड़ेबाज और बाद में नौटंकी कलाकार-ये सब समाज के उन्हीं वर्गों का प्रतिनिधित्व करते थे जिन्हें आज हम दलित के नाम से जानते हैं।'[6] नुक्कड़ नाटक, नौटंकी, तमाशा आदि कई प्रकार के नाटकों के लिए प्राथमिक साज-सज्जा से लेकर परम्परागत नाटकों को खेले जाने के लिए मंच तैयार करते थे। अब वे अपने ही सवाल से युक्त नाटकों के लिए रंगमंच की व्यवस्था करने में असमर्थ हो रहे हैं। क्योंकि आर्थिक संकटों के बीच रोजगार को लेकर दलित रंगकर्मियों के पास व्यवसायिक प्रतिस्पर्धा कम है। वे लाइट्स, सेट्स और मेकअप आदि का खर्च उठाने में सक्षम नहीं है। वहीं फिल्मों या लघु फिल्मों के निमार्ता करोड़ों कमा लेता है और एक रंगकर्मी जीवन भर मेहनत करने के बाद भी नहीं कमा पाता। ऐसे में शोषण, दमन, अन्याय और अत्याचार के खिलाफ दलितों का संघर्ष कैसे दिखाया जा

सकेगा? कुछ दलित रंगकर्मियों ने रंगमंच को दलित बस्तियों तक ले जाकर नाटकों का मंचन किया। नुक्कड़ नाटकों को खेला। लेकिन आज फिल्म और सीरीयलों के इन्द्रधनुष अधिक लुभावने हो गए हैं, जिनसे समाज और संस्कृति अधिक प्रभावित हो रहे हैं। इस लुभावने रंग-बिरंगी आभासी दुनियाँ में दलित नाटकों को देखने की फुर्सत कौन निकालें? दलितों में चेतना जगाने वाले फिल्म या सीरियल कम हैं। आज तकनीक के युग में सभी प्रकार के नाटकों का मंचन आसान हो गया है। फिर भी दलित नाटकों के मंचन का गहरा संकट है। इस संकट से उबरे बिना दलित रंगमंच के माध्यम से दलित विमर्श अधूरा रह जाएगा।

1855 ई. में दलित रंगमंच की शुरूआत मराठी में रचित 'तृतीय रत्न'(महात्मा फूले) नाटक से होता है। संस्कृत नाटक और रंगमंच के विकास की अगली कड़ी के रूप में हिन्दी में भी कई तरह के रंगमंच हैं। भाषा, शैली और विचारधारा के आधार पर भी रंगमंचों का विभाजन है। जैसे जनवादी और प्रगतिवादी रंगमंच। इसलिए दलित रंगमंच की भी आवश्यकता है। क्योंकि इस रंगमंच के आईने में दलित समाज का भद्दा रूप देखा जा सकता है। दलित साहित्य में अभिव्यक्त दलितों के यथार्थ चित्र को प्रस्तुत करने में रंगमंच अधिक कारगर सिद्ध होगा। दलित नाटककार एवं आलोचक राजेश कुमार लिखते हैं - 'दलित रंगमंच से अभिप्राय उस रंगमंच से है, जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को अभिनय के माध्यम से दशार्या है। अपने जीवन संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित रंगमंच उसी की अभिव्यक्ति का सशक्त प्लेटफार्म है। यह कला के लिए कला का नहीं बल्कि जीवन का और जीवन की जिजीविषा का रंगमंच है।'[7] बहुत से ऐसे दलित नाटक हैं, जिसका लेखन तो हुआ लेकिन मंचन नहीं हुआ।

लेखक और रंगकर्मी राजेश कुमार वंचितों-उत्पीडितों व हाशिए के समाज पर रहने वाले लोगों के सामाजिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक मुद्दों को रंगकर्म के माध्यम से पुरजोर ढंग से उठाने के लिए जाने जाते हैं। वे दलित रंगमंच के लिए नई पैरवी करते हैं। अपने नाटकों की दुनिया में राजेश जी ने वंचितों और उत्पीड़ितों की वकालत की है। इनका नाटक 'आंबेडकर और गाँधी' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस नाटक के सम्बन्ध में मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं - 'राजेश कुमार का यह नाटक इतिहास के आईने में अंबेडकर और गाँधी के बीच जातिगत और वर्णगत डिस्कोर्स को नए सिरे से देखने की कोशिश करता है।'[8] शिल्पगत दृष्टि से विचार करने पर इस नाटक में अधिक अंकों और दृश्यों का तामझाम नहीं है इसलिए रंगमंच की दृष्टि से भी सफल है।

माता प्रसाद ने सर्वाधिक हिन्दी दलित नाटकों की रचना की है। नुक्कड़ नाटक और एकांकी आदि सभी प्रारूपों में दलितों के प्रश्न को उठाया है। रंगमंचीय दृष्टि से उतने सफल नहीं, किंतु संवेदना की दृष्टि से पूर्णतः सफल नाटक है। 'अछूत का बेटा', 'वीरांगना झलकारी बाई', 'वीरांगना उदा देवी पासी', 'दिल्ली की गद्दी पर खुसरो भंगी', 'तड़प मुक्ति की', 'धर्म के नाम पर धोखा', 'धर्म परिवर्तन' आदि चर्चित नाटक हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि के नाटक 'दो चेहरे' का प्रथम मंचन देहरादून के टाउन हॉल में 1987 ई. में हुआ था। इस नाटक में शिवराज सिंह जैसे पात्र हैं जो शहर के कारखाने में मजदूर यूनियन का नेता है। वह कारखाने में दलित-मजदूरों के पक्ष में आन्दोलन,

हड़ताल और भाषणबाजी करता है, लेकिन अपने गाँव में दलित-मजदूरों पर जुल्म ढाता है और दलित युवतियों के साथ जोर-जबरदस्ती करके हवश की भूख मिटाता है। लेकिन गाँव का दलित पात्र शहर के कारखाने आकर उनका पोल खोलते हैं और उन्हें सबक सिखाते हैं। नाटककार ने यूनियन नेता के दो चेहरों को उजागर किया है।

मोहनदास नैमिशराय के 'हैलो कामरेड' और 'अदालतनामा' दो नाटक प्रकाशित हैं। दिल्ली के विभिन्न स्थानों पर इनका मंचन भी हुआ है। नैमिशराय जी के उपन्यास 'क्या मुझे खरीदोगे?' और कहानी 'अपना गाँव' का भी नाट्य रूपांतरण का मंचन किया जा चुका है। 'क्या मुझे खरीदोगे' में जहाँ दलित नायिका को प्यार में उलझा कर वेश्यावृत्ति की आग में झोंकने की कथा है तो वहीं 'अपना गाँव' में जाटव जाति की युवती कबूतरी के उपर अत्याचार की व्यथा है। सूरजपाल चौहान अपने लघु नाटक 'छू नहीं सकता' में बालक भीमराव के जीवन को दृश्यांकित करते हुए शैक्षिक संस्थानों में होनेवाले छुआछूत और भेदभाव को दिखाया है। रूपनारायण सोनकर नाट्य रचना के साथ रंगमंच और अभिनय से भी जुड़े थे। 'एक दलित डिप्टी कलेक्टर', 'छायावती', 'महानायक' और 'समाजद्रोही' उनके नाटक हैं। जिसमें 'एक दलित डिप्टी कलेक्टर' सबसे चर्चित नाटक है। इसमें नाटककार ने उच्च जातियों और दलित जातियों के बीच दलित स्त्री के दोहरे संघर्ष को दिखाया है।

रंगमंच की दृष्टि से सुशीला टाकभौरे के भी नाटक सफल हैं। 'नंगा सत्य' नाटक की शुरूआत रंगकर्म करनेवाली एक टोली से शुरू होती है। भारतीय दलित नाट्य अकादमी के संस्थापक, निदेशक व अभिनेता श्याम कुमार लिखते हैं - 'नंगा सत्य भी दोहरी मानसिकता को समाज के सामने लाने का एक सफल प्रयास है। यह रंग निर्देशक का कार्य है कि इसके मंचन को जीवंत स्वरूप प्रदान कर, उस पर सही चित्रण करे।'[9] इनके नाटक 'रंग और व्यंग्य' का लखनऊ के 'राय उमानाथ बालि प्रेक्षागृह' में खेला गया। जिसको युवा निर्देशिका अर्चना आर्या ने सफल मंचन कराया। इनके अन्य नाटक 'व्हील चेयर' एक ऐसा नाटक है, जिसके मंचन के बाद स्त्रियों में अस्मिता बोध पैदा होता है। इससे यह पता चलता है कि टाकभौरे का दृष्टिकोण दलितों की परिधि से बाहर है। अन्य महिला नाटककारों में अनिता भारती ने आम्बेडकर के जीवन पर 'दहाड़ उठा था एक सिंह' नाटक की रचना की है।

रत्नकुमार सांभरिया हिन्दी में सशक्त दलित नाटकों की रचना करते हैं। वीमा, भभूल्या और उजास, ये इनके तीन नाटक हैं। जिसे बिना अधिक तामझाम के मंच पर आसानी से उतारा जा सकता है। छोटे-छोटे चुस्त और दुरूस्त वाक्य, चेतना और अस्मिता का स्फूर्त प्रसार, कथ्य, शिल्प और उद्देश्य की दृष्टि से उतने ही सफल है। 'वीमा' नाटक में दलित पात्र का दोहरा संघर्ष है। एक जातिवाद के खिलाफ और एक अपनी निःशक्तता से। 'भभूल्या' हासिए के कूचबँदा(खानाबदोश) जाति के सच का भेद खोलता है तो उजास दलितों को राजनीतिक अंधेरे से उजाले की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है। अगर दलितों के पास अपने थियेटर हों तो ऐसे नाटकों का मंचन अन्य नाटकों को चुनौती प्रदान कर सकता है। दलितों के पास अपना थियेटर अथवा रंगमंच नहीं है। इसके संबंध में इसी नाटक के 'मेरी बात' में लिखते हैं - 'दलितों के पास अपने थिएटर अथवा रंगमंच,

ड्रामा, आर्टिस्ट या कलाकार, नाट्य संस्थाएँ अथवा रंग-मंडलियाँ अवलोकन या प्रदीपन ऑपरेटर कास्ट्यूम डिजाइनर(वेशभूषा निर्धारक) है। नाट्य विधा का तात्विक विवेचना के निकष पर खरे उतरने वाले चुनौतियाँ स्वीकारते या चुनौतियाँ देते दलित नाटक लिखे गए हैं।'[10] वर्तमान दौर में प्रो० सुरेश चन्द्र दलित साहित्य के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। इनका 'दलितों के सूर्य', 'समवादी सत्ता' और 'मनुवादी दलित' 'मंदिर से अस्पताल' आदि प्रमुख नाटक प्रकाशित हैं।

वस्तुतः हम कह सकते हैं कि अब दलित नाट्य साहित्य भी समृद्ध है। दर्जनों नाटकों का मंचन हो चुका है। कुछ नाटक बिना रंगमंचीय ताम-झाम के दलित बस्ती, गली और मुहल्लों में दिखाया जाता रहा है। नुक्कड़ नाटकों के माध्यम से बिना आर्थिक बोझ के दलित अस्मिता का सवाल उठाया जा रहा है। दलितों के साथ कुछ गैर दलित साहित्यकार रंगमंच से जुड़कर दलित नाटकों का मंचन करवाने में सहयोग कर रहे हैं। मगर अभी दलित नाटक और रंगमंच को लम्बी दूरी तय करनी है। दलित साहित्यकार के साथ दलित अभिनेता, दलित नाट्य निर्देशक और दलित रंगकर्मी पैदा करने होंगे। जिससे वैश्विक दलित विमर्श के आईने में हिन्दी दलित नाटक और रंगमंच अपनी पहचान स्थापित कर सके। जिससे कई तरह की सामाजिक विकृतियों और मिथकों को तोड़ते हुए इस आईने में दलित जन-जीवन का वास्तविक रूप देखा जा सकेगा और विमर्श के माध्यम से दलितों के हक और अधिकार के अँधियारी गली को प्रकाशित किया जा सकेगा।

संदर्भ :

1. नैमिशराय मोहनदास, दलित साहित्य की अवधारणा में रंगमंच, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला - 171005, संस्करण-2017 ई. , पृष्ठ सं० -54
2. साहनी भीष्म, कबिरा खड़ा बजार में,राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण - 2020 ई., पृष्ठ सं० - 09
3. भंडारी मन्नू, महाभोज, महाभोज, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण - 2020 ई., पृष्ठ सं० -11
4. नैमिशराय मोहनदास, हैलो कामरेड, सम्यक प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण - 2001 ई. , पृष्ठ सं० - 18
5. नैमिशराय मोहनदास, हिन्दी दलित रंगमंच की दस्तक, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण - 2022 ई., पृष्ठ सं०- 140
6. नैमिशराय मोहनदास, हिन्दी दलित साहित्य, साहित्य अकादमी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2011 ई., पृष्ठ संख्या -219
7. मौर्य सर्वेश कुमार(सं०) दलित नाटक की सैद्धांतिकी, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण - 2015 ई., पृष्ठ सं० - 42
8. नैमिशराय मोहनदास, दलित रंगमंच की दस्तक, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण - 2022, पृष्ठ सं० - 25
9. टाकभौरे सुशीला, नंगा सत्य, शिल्पायन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली,

संस्करण - 2015 ई., पृष्ठ सं० - 99
10. सांभरिया रत्नकुमार, वीमा, भभूल्या और उजास(तीन नाटक), श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण -2020 ई. पृष्ठ सं० - 7

शोधार्थी (सीनियर रिसर्च फेलो)
हिन्दी विभाग
भूपेन्द्र नारायण मंडल विश्वविद्यालय
लालूनगर, मधेपुरा-852113(बिहार)

'मुआवजे' नाटक में चित्रित सामाजिक यथार्थ'

- मनोजकुमार सुभाष शर्मा

समाज बहुत ही विस्तृत और व्यापक होता है अतएव उसके विकास और अस्तित्व को बनाये रखने के लिए साहित्यकार समाज का सतत मार्गदर्शन करता है। हमारे समाज में प्राचीन काल से ही सामाजिक, धार्मिक, सांप्रदायिक कुरीतियाँ विद्यमान है। स्त्री विषयक समस्या, वर्ग-भेद, वर्ण-व्यवस्था आदि हमारे समाज की मूल समस्याएँ हैं। अतः समाज सुधार उच्च कोटि की कलाओं और रचनाकारों के माध्यम से भी सम्भव हो पाया है। रचनाकार भीष्म साहनी जी ने अपनी रचनाओं को माध्यम बनाकर सामाजिक बदलाव में यथासाध्य सहयोग दिया है। नाटककार ने नाटक 'मुआवजे' में भारतीय समाज की अधिकांशतः समस्याओं को दशार्ने की कोशिश की है। अतः इस शोध आलेख में हम 'मुआवजे' नाटक को केंद्र में रखकर, भारतीय समाज का अध्ययन करते हुए ; उनमें वर्णित समस्याओं का अध्ययन करेंगे।

साहित्य, समाज को संरक्षित और संवर्धित करने का काम करता है। हिंदी साहित्य के विधाओं में समाज का पर्दापण हुआ है। आधुनिक काल में समाज की सभी समस्याओं का चित्रण हमें उन विधाओं में मिलता है। नाटक भी हिंदी साहित्य की महत्त्वपूर्ण एवं बहुचर्चित विधा है। नाटक विधा का प्रमाण भरत मुनि के काल से ही मिलता है। अगर हम 'नाटक' शब्द की उत्पत्ति पर विचार करें तो प्रायः उसमें भी मतभेद दिखायी देता है। 'नाट्य' शब्द की उत्पत्ति नट् धातु से हुई है। जिसे संस्कृत में रूपक कहा गया है और रूपक के दस भेद बताये गये हैं। इसमें नाटक को रूपक के एक भेद के रूप में स्वीकारा गया है। 'पाणिनि ने नाट्य की व्युत्पत्ति 'नट्' धातु से सिद्ध की है।'[1] और 'अंग्रेजी में'नाटक' का पर्यायवाची ड्रामा (ड्रामें) शब्द'[2] है। नाटक की परिभाषा या व्याख्या कोई भी हो किंतु प्राचीन काल से अब तक उसका उद्देश्य केवल सामाजिक उत्थान ही रहा है।

हिंदी नाटक में 'भीष्म साहनी' का नाम शीर्ष स्थान पर है। नाटककार भीष्म साहनी ने अधिकांशतः देश-विभाजन की समस्या पर अपनी कलम चलायी है क्योंकि देश-विभाजन की समस्या को उन्होंने देखा ही नहीं बल्कि जिया भी है। अपनी रचनाओं में, देश विभाजन के समय होने वाले सामाजिक बदलाव और समस्याओं को उन्होंने संवेदनात्मक रूप से प्रस्तुत किया है। उनकी रचनाओं में समाज के निम्न और मध्यवर्गीय समाज का जीवंत और यथार्थगत चित्रण मिलता है। 'मुआवजे' भीष्म साहनी जी का बहुचर्चित नाटक है, जो सन् 1993 में लिखा गया था। यह नाटक कुल बारह दृश्यों से ओत-प्रोत है। नाटक की मूल विशेषता यह है कि यह पूरा नाटक प्रहसन रूप में लिखा गया है। प्रहसन रूपक का एक भेद है। साहित्यकार भीष्म साहनी ने नाटक की भूमिका में लिखा है कि 'यह प्रहसन हमारी आज की विडंबनापूर्ण सामाजिक स्थिति पर किया गया व्यंग्य है।'[3] इस प्रकार रचनाकार ने नाटक की भूमिका में ही इसे प्रहसन कह कर इसके रूप का स्पष्टीकरण दे दिया है। प्रहसन की विशेषता को स्पष्ट करते हुए आलोचक बच्चन सिंह जी लिखते हैं कि 'सामाजिक पौराणिक एवं व्यंग्यात्मक (प्रहसनों) नाटकों

का मुख्य उद्देश्य था - समाज का सुधार - परिष्कार।'[4] वस्तुतः रचनाकार भीष्म साहनी और डॉ. बच्चन सिंह द्वारा स्पष्ट प्रहसन की विशेषता के आधार पर हम कह सकते हैं कि समाज सुधार में प्रहसन सटीक और उपयोगी माध्यम है क्योंकि प्रहसन व्यक्ति के मन की गहराई तक चोट करती है, जिसकी वजह से व्यक्ति स्वतः समाज सुधार की ओर अग्रसर होने लगता है।

समाज में वर्ग-भेद की समस्या बहुत पहले से ही विद्यमान है; किंतु औद्योगिक क्रांति के उपरांत समाज में वर्ग-भेद की समस्या वट वृक्ष की तरह जम गयी है, ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा। समाज में वर्ग व्यवस्था के कारण ही मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद उत्पन्न हुआ है। इसी वजह से समाज में निम्न और उच्च वर्ग के बीच बहुत लंबी खाई भी बन चुकी है। परिणामतः उच्चवर्गीय व्यक्ति निम्नवर्गीय व्यक्ति को मनुष्य नहीं बल्कि पशु समझने लगा है। निम्नवर्गीय व्यक्ति भुखमरी और गरीबी से हताश होकर स्वयं को मृत्यु के ग्रास में ढकेल रहा है। इस समस्या की बानगी को भी लेखक ने नाटक में साधारणतः से प्रस्तुत किया हैं। नाटक में पात्र गुमाश्ता, जग्गा से कहता है कि 'दिहाड़ी के हिसाब से करें तो क्या मालूम दिन में एक भी आदमी नहीं मर पाये, दिन-भर कहीं बैठे सुलफा पीते रहो।'[5] दरअसल, बेरोजगारी, गरीबी एवं आर्थिक समस्याओं से जूझने के कारण निम्नवर्गीय व्यक्ति हत्या, दंगा, लूटमार जैसे असामाजिक कार्यों की ओर बढ़ रहा है। इसी वजह से समाज में गैर-सामाजिक तत्व पोषित हो रहे हैं। नाटक में वर्ग-भेद की समस्या का भी चित्रण किया गया है। पात्र जग्गा, गुमाश्ता से कहता है कि 'ज्यादा हैं? तुम्हें कौन-से अमीरजादे और लखपति मरवाने हैं, यही मोची-नाई-मजदूर मरवओगे। अगर यह मंजूर नहीं तो दिहाड़ी के हिसाब से मरवा लो।'[6] इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि देश के हर क्षेत्र, हर राज्य के साथ-साथ देश के कोने-कोने में वर्ग भेद की समस्या विद्यमान है। आर्थिक समस्याओं के कारण मनुष्य जीवन की अन्य समस्याएँ भी दृष्टिगोचर हो जाती है। अतः ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा कि अनगिनत कष्टों से मिले मनुष्य जीवन के बावजूद भी निम्नवर्गीय व्यक्तियों का जीवन अथाह विपदाओं से भरा हुआ है।

बीसवीं शताब्दी में ही साहित्यकार सआदत हसन मंटो ने कहा था कि 'दुनिया में जितनी भी लानतें हैं, भूख उनकी माँ है।' इस आधार पर हम कह सकते हैं कि भूख के कारण ही मनुष्य हर कुकृत्य करने के लिए हालतन तैयार होता है। समाज में आज भी बुराई, भ्रष्टाचार जैसी समस्याएँ निहित है। समाज की गैर-सामाजिक क्रियाओं को स्पष्ट करते हुए लेखक पात्र सुथरा को माध्यम बनाकर कहते हैं कि 'हुकूमत, दौलत, सेवा, स्वार्थ, ये सब छोटी ताकते हैं, सबसे बड़ी ताकत बेईमानी है, भ्रष्टाचार।'[7] अतः इस संदर्भ के आधार पर हम कह सकते हैं कि समाज में जितनी भी समस्याएँ है, उन सब में भ्रष्टाचार सबसे बड़ी और अव्वल दर्जे की समस्या है। इस प्रकार आज के दौर में अच्छाई नगण्य होती जा रही है और बुराई निश्चिंत होकर समाज में फैलती जा रही है। गैर-सामाजिक क्रियाओं के कारण मनुष्य पर तमो गुण अधिक हावी होता जा रहा है। भ्रष्टाचार की समस्या ने समाज को खोखला कर दिया है। इस नाटक में सांप्रदायिक दंगा कथा के मूल केंद्र में स्थित है और उसे आधार बनाकर ही लेखक ने मनुष्य के

स्वार्थपरक स्वभाव को उल्लेखित किया है। व्यक्ति अपनी बुरी आदतों और लालच की वजह से किसी भी व्यक्ति का अहित करने से पीछे नहीं हटता है। आर्थिक समस्या को स्पष्ट करते हुए लेखक ने मुआवजे को विशेष विषय वस्तु का रूप दिया है। नाटक में जीवन कहता है कि 'लो, लाश को कोई और उठा ले गया है। अब मिल चुका तुम्हें मुआवजा। जो कोई लाश ले गया है, वही दस हजार वसूल कर लेगा। तुम लोग बहसें ही करते रहो।'[8] दरअसल सामाजिक व्यवस्था के कारण 'आर्थिक परिस्थितियों और दबाव ने आज मनुष्य को मूल्यहीन और संवेदनहीन बना दिया है।'[9] इस प्रकार नाटक में लेखक ने दंगे की समस्याओं को दशार्या है। दंगे के समय मृतकों के परिजनों को मिलने वाला मुआवजा ही इस नाटक का मूल विषय है। लालच और पैसे की वजह से व्यक्ति किसी भी व्यक्ति की लाश को अपने परिजन की लाश बताकर सरकारी मुआवजा लेने के लिए आमद है। अतः निम्नवर्गीय व्यक्ति अपनी आर्थिक हालत के कारण ही ज्यादा हतोत्साहित रहता है, ऐसा कहना गलत नहीं होगा।

आर्थिक समस्या का एक और जीवंत चित्रण नाटक में अभिव्यक्त हुआ है। नाटक में जीवन, मंगलू पर व्यंग्य करते हुए कहता है कि 'मंगलू, अगर तू मर जाये तो क्या बुरा है। तेरे घरवालों को कुछ पैसा मिल जायेंगे।'[10] अतः निम्नवर्गीय मनुष्य का जीवन आर्थिक संकट से घिरा हुआ रहता है। मध्यवर्गीय व्यक्ति आर्थिक संकट के कारण एवं अपने पेट की क्षुधा को मिटाने के लिए हर प्रकार के संकट से उलझने के लिए लाचार रहता है। आगे नाटक में लेखक ने निम्नवर्गीय व्यक्ति के जीवन के मजबूरी को प्रकट करने के लिए पात्र सुथरा को माध्यम बनाया है। सुथरा कहता है कि 'कुछ मुद्दत पहले एक जगह दंगा हुआ। हीरा रंगसाज मारा गया। उसकी घरवाली को दस हजार रुपए मिल गये। अब चाय-पानी की दुकान करती है, दूसरा खसम रखने की सोच रही है।'[11] इस संदर्भ में मनुष्य के व्यवहारिक जीवन को प्रस्तुत किया गया है। मनुष्य के व्यवहारिक एवं सांसारिक जीवन में वस्तु ही सर्वोपरि एवं महत्त्वपूर्ण है। ऐसा कहना गलत नहीं होगा कि मनुष्य के व्यवहारिक जीवन में धन, पद, प्रतिष्ठा आदि सब सांसारिक जगत की वस्तुएँ मानी जाती है। जहाँ मनुष्य को सांसारिक जीवनयापन करने के लिए इन सभी वस्तुओं का उपभोग करना आवश्यक समझा जाता है।

धार्मिक रूढ़िवादिता के कारण समाज में भिन्नता और अलगाव जैसी समस्याएँ पनपने लगी हैं। अस्तु कोई धर्म के नाम पर धंधा कर रहा है, तो कोई धर्म के नाम पर स्वयं की आहुति दे रहा है। धर्म की इस समस्या को लेखक ने बेबाकी से प्रस्तुत किया है। नाटक में दुकानदार, छोटेलाल को संबोधन करते हुए कहता है 'यही तो हमारी कौम में कमजोरी है। ब्याह-शादी में तो लाखों बहा देंगे, पर जब कौम पर खतरा मँडराने लगता है तो पैसे गिनने लगते है।दुश्मन ने हथियारों से अपने गोदाम भर लिये है और इधर आपको दाम की चिंता खाये जा रही है।'[12] वस्तुतः धर्म में व्यापार का हस्तक्षेप होने के कारण ही धर्म की शुद्धता नष्ट होती जा रही है और समाज के लोग स्वार्थी, संवेदनहीन होते जा रहे हैं। इस बात कोप्रस्तुत करते हुए नाटक में दुकानदार कहता है कि 'हमें तो व्यापार करना है, महाराज, जो भी आये दाम दे जाये और माल उठा ले जाये। (छुरा पेश करते हुए) औरों से चालीस रुपया फी छुरा लिया है, आप धर्मभाई हो, आप उन्तालीस

दे दो।'[13] अतः व्यापारियों और पूँजीपतियों के लिए पूँजी ही सर्वोपरि है, ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा। पूँजीपति वर्ग धर्म को व्यापार से जोड़कर अपना मुनाफा कमाने में लगा हुआ है। इस तरह पूँजीपति स्वार्थी और भ्रष्ट होते जा रहे हैं। इसी समस्या को चित्रित करते हुए दुकानदार से लेखक कहलवाते हैं 'यह वक्त पैसे गिनने का नहीं है महाराज, कौम के काम में कंजूसी नहीं करते। कौम पर मुसीबत आयी है, पैसे गिनते रहोगे तो कौम की रक्षा क्या कर पाओगे?ङ्घ मैं चार सौ लिख रहा हूँ।'[14] आज के दौर में पूँजीपति वर्ग धर्म का चोला पहनकर निम्नवर्गीय व्यक्तियों को लड़वा रहा है क्योंकि पूँजीवादी व्यक्ति या पूँजीपति व्यक्ति का मूल उद्देश्य केवल पूँजी है।लेखक ने नाटक में पूँजीवादी व्यवस्था की इस मनोदशा को वर्णित करने के लिए पात्र दुकानदार के कथन को उल्लेखित किया है। नाटक में पात्र दुकानदार से कहता है कि 'बेफिक्र रहिए। ठीक जगह पर पहुँच जायेगा। 'आदमियों का इंतजाम हम कर देंगे। उन्हें जो कुछ देना-करना होगा, वह भी बता देंगे। सस्ते में ही हो जायेगा। आप आराम से घर जाओ और टेलिविजन देखो। आजकल प्रोग्राम अच्छे आ रहे हैं। 'रामायण' का तो जवाब नहीं ! वाह, हमारी सभ्यता का निचोड़ सामने रख दिया है, वाह, वाह, क्या चीज बनी है।'[15] अतः पूँजीपति वर्ग के लिए धर्म दिखावा मात्र है, वास्तविक तौर पर धर्म से उसका कोई सरोकार नहीं है। ऐसा हम कह सकते हैं कि समाज के नियम एवं धर्म-कर्म के नियम पूँजीपति अपनी सहूलियत के अनुसार बनाता है। वही निम्नवर्गीय व्यक्ति उन सभी नियमों का अनुसरण करते हुए धर्म और धार्मिक कार्यक्रमों में स्वयं को पूर्णतः समर्पित कर देता है।

लालच और स्वार्थी प्रवृत्ति के कारण आज के बदलते समय में राजनीति की भूमिका भी बदल गयी है। बदलते समय के साथ-साथ राजनीति में अच्छे विचारों के बदलते बुरे विचारों ने अपना स्थान जमा लिया है, ऐसा कहना गलत नहीं होगा। भारतीय राजनीति व्यवस्था में तीन स्तंभ है। प्रथम न्यायपालिका, द्वितीय कार्यपालिका और तृतीय संसद। अतः तीनों व्यवस्था भिन्न-भिन्न होकर भी सरकारी एवं प्रशासनिक व्यवस्था को संचालित करती है। 'भीष्म साहनी' ने सरकार के कार्यों पर भी व्यंग्य किया है। नाटक में कमिश्नर कहता है कि 'सरकार ने मुआवजे का अच्छा चक्कर चलाया है। (अर्दली से) उनसे कहो, हमारी तरफ से कोई देर नहीं होगी, दंगा होते ही मुआवजा देना शुरू कर देंगे।'[16] इस संदर्भ के आधार पर हम कह सकते हैं कि सरकार के लिए निम्न लोग महत्त्वहीन है। हर देश की न्याय व्यवस्था उस देश के वास्तविक छवि को प्रस्तुत करती है। इसलिए कहा जाता है कि जिस देश की न्याय-व्यवस्था उत्तम होगी, उस देश की जनता उतनी ही अधिक सुखी होगी। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु डॉ. भीमराव रामजी अंबेडकर जी ने भारत के न्याय व्यवस्था को बहुत अधिक लचीला बनाया था। किन्तु धूर्त और लालची नेताओं के कारण भारत की न्यायिक व्यवस्था की छवि दागदार हो गयी है। भारत का नागरिक पहले जहाँ निश्चिंत होकर न्यायालय में जाता था, वही अब वह न्यायालय में जाने से भी घबराता है। इसलिए अब लोगों की मानसिकता हो गयी है कि न्यायालय जाने के पश्चात सिर्फ उसका समय और धन व्यतीत होगा, अन्य कुछ नहीं। न्यायालय की इस समस्या का परदाफाश करते हुए,नाटक में चौधरी कहता है 'सरकार इसलिए भी मुआवजा देने में देर करती होगी कि मुआवजा लेने वाला व्यस्त रोज

कचहरियों के चक्कर काटे, दरख्वास्तें दे और खाली न बैठें। सरकार को हर बात की फिक्र रहती है।'[17] वस्तुतः भारतीय न्याय-व्यवस्था विश्व की सबसे बड़ी न्याय-व्यवस्था मानी जाती है। बड़ी होने के कारण इसमें फँसने और उलझने की संभावनाएँ भी अधिक है, ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा। अतः इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि नाटक में प्रस्तुत उपर्युक्त पंक्ति सटीक और सही है।

निष्कर्षतः भारतीय समाज में विभिन्न प्रकार की विसंगतियाँ है। भीष्म साहनी ने अपने नाटक 'मुआवजे' के माध्यम से भारतीय समाज की इन विसंगतियों को उजागर करने की कोशिश की है। समाज, धर्म, पूँजीवाद, आर्थिक, भ्रष्टाचार, धार्मिक क्रिया-कलाप, स्त्रियों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण आदि समस्याएँ भारतीय समाज की मुख्य समस्या कही जा सकती हैं। कथाकार भीष्म साहनी जी का 'मुआवजे' नाटक समाज की कुप्रथाओं पर प्रहार कर समाज में समानता निर्मित करने का कार्य कर रही हैं। देश-काल और वातावरण के अनुसार मानवीय समस्याओं का स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है। अधिकांशतः हर देश के साहित्य और साहित्यकार द्वारा उस देश की समस्याओं का पर्दापण भी होता है। भारत देश में सदियों से कुछ मुख्य समस्याएँचली आ रही है ; जैसे स्त्री विषयक समस्या, आर्थिक समस्या, धार्मिक समस्या, जातिगत समस्या आदि। ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि भले ही युग और समय में बदलाव हुआ हो किंतु समस्याओं में तनिक भी परिवर्तन नहीं हुआ है। बल्कि समयानुसार समस्या के रूप में परिवर्तन हुआ है। अतः नाटककार 'भीष्म साहनी' ने 'मुआवजे' नाटक में समाज की इन सभी समस्याओं को प्रहसन रूप में दशार्या है। प्रहसन रूप में होने के कारण नाटक की विशेषता और बढ़ जाती है क्योंकि प्रहसन विधा के कारण नाटक में चित्रित सामाजिक कुरीतियाँऔर समस्याएँ पाठक के अंतर्मन पर सीधा प्रहार करती है। जिसकी वजह से पाठक के मन पर एक अदृश्य छाप पड़ जाती है और पाठक की बुद्धि समाज की उन सभी कुरीतियों पर विचार करने के लिए सक्रिय हो जाती हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'मुआवजे' नाटक के माध्यम से रचनाकार भीष्म साहनी ने हमारे समाज के यथार्थ को प्रस्तुत किया है।

संदर्भ :

1. गुप्त गणपतिचन्द्र ; भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांत ; लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज ; प्रथम संशोधित संस्करण : 2009, पुनर्मुद्रण : 2021, पृ 60, 2. वही से ; पृ 60, 3. साहनी भीष्म ; मुआवजे ; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली ; पहला संस्करण : 2008, पहली आवृत्ति : 2010 ; पृ 07 (भूमिका से), 4. सिंह बच्चन ; हिंदी नाटक ; साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद ; प्रथम संस्करण 1958 ; पृ 37, 5. साहनी भीष्म ; मुआवजे ; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली ; पहला संस्करण : 2008, पहली आवृत्ति : 2010 ; पृ 38, 6.वही से ; पृ 38, 7.वही से ; पृ 29, 8.वही से ; पृ 75, 9.वाणी गौतम ; हिंदी नाटक रंगानुशासन एवं प्रायोगिकनवोन्मेष (सन 1947-2010) ; के के पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली ; प्रथम संस्करण : 2021 ; पृ 207, 10.साहनी भीष्म ; मुआवजे ; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली ; पहला संस्करण : 2008, पहली आवृत्ति : 2010 ; पृ 51, 11.वही से ; पृ 51, 12.वही से ; पृ 34, 13. साहनी भीष्म ;

मुआवजे ; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली ; पहला संस्करण : 2008, पहली आवृत्ति : 2010 ; पृ 35, 14.वही से ; पृ 35, 15.वही से ; पृ 37, 16.भीष्म साहनी ; मुआवजे ; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली ; पहला संस्करण : 2008, पहली आवृत्ति : 2010 ; पृ 13, 17.वही से ; पृ 52& 53

पाटकर वर्दे महाविद्यालय,
मुंबई विश्वविद्यालय, मुंबई.

भक्ति की पृष्ठभूमि पर स्त्री की आत्माभिव्यक्ति

- डॉ . उमा मीणा

ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेमयुक्त भक्ति ने स्त्रियों में आत्म प्रतिष्ठा का भाव जागृत किया। ईश्वर के साथ अपने संबंधों के चित्रण के माध्यम से उसने अपने व्यक्तिगत जीवनानुभवों को व्यक्त किया। इन आत्म स्वीकृतियों में उनके निजी जीवन के अनेकों सूत्र हैं जो स्त्री विमर्श की सैद्धांतिकी की आधारभूमि तैयार करते हैं। परिवार और समाज की विघ्न बाधाओं को पार करके मीरा भक्ति क्षेत्र में आती है जहाँ उनका सामना उस पुरुष दृष्टि से होता है जिसकी नजर में स्त्री मात्र माया थी। वृंदावन में स्वामी जीव गोस्वामी मीरा से यह कहकर मिलने से इनकार कर देते हैं कि वे स्त्रियों से नहीं मिलते। पर मीरा का यह प्रत्युत्तर पाकर कि-'वृन्दावन में पुरुष तो सिर्फ कृष्ण हैं बाकी सब तो स्त्री रूप हैं। स्वामी जी जैसा भक्त अपने को पुरुष कैसे मानता है!'[1] स्वामी जी निरुत्तर हो जाते हैं।

मीरा के काव्य में सगुण और निर्गुण का कोई विवाद नहीं है। उनका विद्रोह वास्तव में अपने अस्तित्व की तलाश करती मध्यकालीन नारी का विद्रोह है ' राजघराने से संबंधित होने के कारण उनके बंधन अधिक जटिल हैं इसलिए अपनी अस्मिता और मुक्ति का उनका संघर्ष किसी आम स्त्री के संघर्ष से कहीं ज्यादा कठिन है। वे 'लोकलाज' और 'कुलकानी' के बंधनों को तोड़ती हैं। अपने आराध्य कृष्ण के प्रेम में संयोग-वियोग की तमाम स्थितियों को पार करते हुए उनकी रचना एक स्त्री के व्यक्तिगत और सामाजिक दुख तथा संघर्षों की अभिव्यक्ति करती है। यही अस्तित्व की पहचान का संघर्ष मीरा को आज भी प्रासंगिक बनाता है' अपने विरोधियों को चुनौती देते हुए वह कहती हैं -

सीसोद्यो रूठ्यो म्हांरो काई करलेसी
म्हेंतो गुण गोविंद का गास्यां , हो माई
राणा जी रूठयांबारो देश रखासी
हरि रूठयांकुम्लास्या, हो माई'[2]

स्वतंत्र व्यक्तित्व की पहचान और उसके लिए जीवन पर्यन्त संघर्ष उन्हें आधुनिक स्त्री चेतना से जोड़ता है। प्रोफेसर मैनेजर पांडे कहते हैं कि 'जो समूह सामाजिक-राजनीतिक सत्ताके साथ आत्म-निर्णय के अधिकार से भी वंचित कर दिया गया हो, जिसकी नियुक्ति पहले से ही तय कर दी गई हो, उसे पहचान-अस्मिता का संकट ज्यादा सालता है, लेकिन इसका बोध और उस बोध की अभिव्यक्ति महत्वपूर्ण है, जो पहले-पहल मीरा के काव्य में मिलता है।'[3]

जब मीरा अन्य पुरुष भक्तों के समान हक की बात करती है तो यह पितृसत्तात्मक व्यवस्था के विरुद्ध आत्मनिर्णय की भावना ही है। मीरा की यह संघर्ष शक्ति मौलिक औरस्वतः अर्जित है। 'निरभै निसाण घुरास्यां हो माई'[4] मीरा की ये पंक्तियाँ स्वच्छंद स्त्री के संघर्ष को अभिव्यक्त करती हैं। विश्वनाथ त्रिपाठी कहते हैं कि भक्ति काव्य भक्ति के धरातल पर समाज में हाशिये पर रखे गए लोगों का पक्षधर है उसी प्रकार मीरा की कविता हाशिये पर रखी गई स्त्री का पक्ष लेती है। बंधन और लांछन के बावजूद मीरा अपनी चेतना में निर्द्वंद्व भाव से कहती है -

राणाजी महाने या बदनामी लगे मीठी

कोई निन्दो कोई बिन्दो, मैं चाल चलूँगी अपूठी।[5]

मीरा ने अपनी कविता में स्त्री जीवन के हर क्षण की अनुभूति को समेटा है जो वास्तविक और निष्कपट है। मीरा के काव्य में जीवन और काव्य की परस्पर सम्बद्धता के सम्बन्ध में रामस्वरूप चतुवेर्दी कहते हैं कि मीरा का काव्य उन विरले उदाहरणों में है जहाँ रचनाकार का जीवन और काव्य एक दूसरे में घुलमिल गए हैं और परस्पर के संपर्क से वे एक दूसरे को समृद्ध करते हैं ' जीवन वृत से अलग किए जाने पर इस काव्य की सर्जनात्मक क्षमता घटजाती है।

जिस प्रकार स्त्री चेतना को एक सिद्धांत के रूप में विकसित करने में सीमोन द बउआ की भूमिका रही वैसी ही भूमिका मीरा के काव्य की भी है।डॉ.अलका प्रकाश मीराबाई को स्त्री के सामाजिक अधिकारों, खासकर स्त्री के तन मन पर स्त्री के स्वामित्व की वकालत करने वाली पहली भारतीय रचनाकार मानती हैं।[6] स्त्री को लोकनिंदा, पारिवारिक कटुता, और पुरुष वर्चस्व के दबाव के आगे समर्पण नहीं करना चाहिए यही मीराबाई की कविताओं की धुरी है। यह मीराबाई की विद्रोही चेतना ही थी कि उन्होंने सती होने से अस्वीकार कर दिया जबकि राजघरानों में पति के मरने के बाद सती होना पड़ता था। मीरा इसके विरुद्ध कहती है-

सती न होस्यां गिरधर गास्यां,
म्हारो मन मोही घण नामी'
जेठबहु को नातो राणाजी,
हूँ सेवक थे स्वामी''[7]

जिस प्रकार आधुनिक काल की कवयित्री महादेवी वर्मा के काव्य कामूल्यांकन करते हुए उनके काव्य और दृष्टि की व्यापकता को नहीं देखा गया ठीक उसी प्रकार मीरा के काव्य के साथ हुआ 'गोपेश्वर सिंह मानते हैं कि 'मीरा की कविता का सामाजिक दृष्टि से मूल्यांकन जरूरी है' ....अपने युग के समक्ष जिस तरह वे एक ललकारती चुनौती बनकर खड़ी दिखाई देती हैं, उस तरह न तुलसी दिखते हैं और न क्रांतिकारी कहे जाने वाले कबीर` मीरा को अपनी क्रांतिधर्मिता की कीमत सबसे अधिक चुकानी पड़ी-अपने किसी भी समकालीन से अधिक विष पीकर और जमाने की मार खाकर !'[8] मध्यकाल की नारी की नियति है पति में ही अपनी संपूर्ण इच्छा का समर्पण। पति उसके लिए परमेश्वर है। लेकिन सामंती परिवार की कुलवधु परमेश्वर को ही अपना पति मानने की घोषणा करती है।

मीरा की कविता में दिखने वाला नारी जीवन का यथार्थ बारहवीं सदी की कन्नड़ भक्त कवयित्री अक्कमहादेवी की कविता में भी दिखाई देता है-

'हे माँ, मैं लौ रहित अग्नि में जली,
मैंने रक्त रहित जख्मों की पीड़ा सही
हे माँ, मैं बिना किसी आनंद के उछाली गई
अपने प्रियतम के प्रति अनुरक्त
मैं अनचाहे संसार में भटकती रही'[9]

बौद्ध धर्म में दीक्षित विभिन्न वर्णों और वर्गों से आई थेरियों के पूर्व जीवन के

अनुभवों का चित्रण थेरी गाथाओं में मिलता है। अतः ये थेरी गाथाएँ किसी एक वर्ण या वर्ग से जुड़ी स्त्रियों के अनुभव नहीं हैं। यहाँ कौशल और मगध राजवंश की स्त्रियाँ, शाक्य और लिच्छवी सामंतों की कन्याएँ, वैश्य तथा दास वर्ग से आने वाली स्त्रियाँ और गणिकाएँ भी थीं। इन स्त्रियों ने बौद्ध धर्म का संरक्षण प्राप्त कर यह महसूस किया कि उनके जीवन के कष्टों का कारण उनके स्त्री होने की नियति से जुड़ा है। मुक्ता दरिद्र ब्राह्मण की कन्या थी' वह कहती है झ 'मैं सुमुक्त हो गयी , अच्छी विमुक्त हो गयी, तीन टेढ़ी चीजों से मैं भली विमुक्त हो गयी, ओखली से, मूसल से और अपने कुबड़े स्वामी से मैं अच्छी मुक्त हो गयी।[10] एक अन्य बौद्ध भिक्षुणी सुमंगल माता अपने वैवाहिक जीवन के कष्टों का वर्णन करते हुए कहती हैं-

अहो! मैं मुक्त नारी
मेरी मुक्ति कितनी धन्य है!
पहले मैं मूसल लेकर धान कूटा करती थी
आज उससे मुक्त हुई!'[11]

प्रसिद्ध गणिका अम्रपाली की कथा सर्वविदित है। अम्रपाली ने गौतम बुद्ध से प्रभावित होकर संघ में दीक्षा ली। संघ में दीक्षित होने और वृद्ध अवस्था को प्राप्त करने के पश्चात अम्रपाली कहती है-

'काले भौंरे के रंग के समान जिनके अग्रभाग
घुंघराले हैं, ऐसे किसी समय मेरे बाल थे
वही आज जरावस्था में सन की छाल जैसे हो गए हैं
सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते
पुष्पों से गुथा हुआ मेरा केशपाश कभी सुगंध की
पिटारी की भांति महकता था।[12]

अपने ईष्ट का गुणगान करते हुए इन स्त्री भक्तों ने बहुत कुछ ऐसा कह दिया जो आध्यात्मिक और व्यक्तिगत है और तत्कालीन समाज में स्त्री की स्थिति का प्रकाशन करता है'

एक अन्य संत कवयित्री आंडाल को बचपन में ही भगवान कृष्ण के प्रति प्रेम व्याप्त गया। वह कृष्ण को अपने से इतना अभिन्न मानती थीं कि प्रतिदिन कृष्ण को पहनाई जाने वाली माला स्वयं पहन लेती और अपने में ही कृष्ण के सौंदर्य एवं रूप को निहार कर मुग्ध होती। पिता अपनी पुत्री गोदा को कृष्ण को अनुशासित करने वाली, अपने प्रेमपाश में बांधने वाली शासिका 'आंडाल' कहने लगे। आंडाल को भक्ति मार्ग पर जाने के लिए उस तरह का संघर्ष नहीं करना पड़ा जैसा मीरा को करना पड़ा। आंडाल ने पति के रूप में कृष्ण के प्रति अपने निजी मनोभावों की निर्द्वंद्व अभिव्यक्ति की है।

कर्नाटक की शिव योगिनी संत अक्कमहादेवी मल्लिकार्जुन की अनन्य भक्त थीं जो आध्यात्मिक साधना को ही अपना संपूर्ण रूप, यौवन और जीवन समर्पित कर चुकी थीं। भक्ति, ज्ञान, धर्म, साधना की परिपक्वता प्राप्त कर वह अद्वैत चेतना की सर्वोच्च भूमि पर पहुँचती हैं। वह कहती हैं यह शरीर जब तुम्हारे ही रूप से बना हुआ है, तुम्हारा रूप हो गया है तो अब मैं किससे भेंट करूँ? मेरा मन जब तुम्हारा ही मन बन गया है तो

अब मैं किसे याद करूँ? जब मेरा प्राण तुम्हारा ही रूप हो गया है तो अब मैं किस की आराधना करूँ? जब ज्ञान तुम्हारा ही रूप बन गया है तो किस को जानने की कोशिश करूँ? हे चेन्नमल्लिकार्जुन तुम ही बताओ! इस प्रकार मैं तुम ही बनकर रह गई हूँ![13] शिव को पति मानकर अक्कमहादेवी ने जिस दुर्गम भक्ति मार्ग को चुना उसमें सफलता की मनोभूमि भक्ति ने प्रदान की। भक्ति की आधार भूमि पर ही अक्कमहादेवी ने मनचीत वर का चयन कर विवाह संस्था को चुनौती दी'

वारकरी संत कवियों की परंपरा में जनाबाई का नाम आदर से लिया जाता है। जनाबाई का ईश्वर उनके प्रतिदिन के कार्यों में मदद करता है। जनाबाई के लिए पांडुरंग घर में झाड़ू व कूड़ा उठाते थे। जनाबाई जंगल में ईंधन बटोरने के लिए जाती थी उस समय भगवान उसके पीछे-पीछे जाते थे-

रानागेली शेणी साठी।
मागे विठ्ठल पाठी।[14]

जनाबाई प्रेम में ईश्वर के लिए तमाम स्त्री मयार्दाओं को उतार फेंकने की बात करती है वह कहती है-

मेरे प्रियतम!
मैं दुश्चरिता होने का
अपमान सह लूँगी,
क्योंकि मुझे तुम्हारे घर
पहुँचना है।[15]

जनाबाई अपनी कविता में उन्मुक्त और विद्रोही नारियों के लिए उस सौंदर्य की हिमायत करती है जो सिर पर पल्लू रखने वाली स्त्रियों के सौंदर्य से भिन्न है-

सारी शर्म हया फेंककर
बाजार में अपने आप को बेचकर ही
अकेले हम प्रियतम से मिल सकते है[16]

स्त्री जीवन की सच्चाई का चित्रण केवल वे ही स्त्रियाँ कर सकती हैं, जो स्त्रियों पर थोपे गए सौंदर्य के प्रतिमानों से मुक्त हैं। आज तक अनेक भक्तों ने ईश्वर की सेवा की है लेकिन अपने आराध्य से सेवाभाव लेने वाली जनाबाई अकेली भक्त हैं।

डॉक्टर सावित्री सिन्हा ने अपने शोध ग्रंथ 'मध्यकालीन हिंदी कवयित्रियाँ' में मीराबाई के काफी पूर्व की लेखिकाओं का उल्लेख किया है। वे उमा एवं पार्वती नामक कवयित्रियों काविस्तार से वर्णन करती हैं। उमा की कविताओं में परिलक्षित होता है कि वे पुरुष कवियों से भिन्न ईश्वर के लिए सैंया और सद्गुरु का विशेषण प्रयुक्त करती हैं। अन्य भक्त कवियों ने राम और कृष्ण को अपनी भक्ति रचना का आधार बनाया है जबकि उमा ने राम और कृष्ण पर कम ही पद लिखे। अन्य देवी-देवताओं का भी उन्होंने वर्णन नहीं किया। ...बनी बनाई धारणा को तोड़ते हुए उन्होंने राम को निर्गुण ब्रह्म के रूप में चित्रित किया। उमा की भांति पार्वती की कविताओं में भी योग एवं गुरु महिमा पर ज्यादा बल दिया गया है। भौतिक सुखों, ऐश्वर्य,धन-दौलत आदि के प्रति अरुचि का भाव उनकी कविताओं की विशेषता है। सद्गुरु को अपना ईष्ट चुनना, उन्हीं का शरणागत

होना, जीवन के सुख-दुख उसी सदुरु के साथ बाँटना और सतगुरु के अस्तित्व से अपने अस्तित्व का एकाकार पार्वती की कविताओं की विशिष्टता है।'[17]

उमा और पार्वती दोनों इस धारणा का निषेध करती हैं कि ज्ञान प्राप्ति का अधिकार केवल पुरुष वर्ग को है। सत्संग में जाकर ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश सार्वजनिक जीवन से संपर्क का प्रयास है जो कि उस समय के सामान्य परिवेश में स्त्री के लिए बनाए गए सीमित दायरे से बाहर आने का उपक्रम है' उमा कहती हैं -

जहाँ राम झरोखे बैठे आय'
प्रेम पसारी प्यारी लगाय''
जहाँ सब जननको बन्योहै,
ज्ञान-गुलाल कियो हानि'
केसर गारो जाय ''[18]

पार्वती की रचनाओं में भाषागत रुढ़ियों को तोड़ने का भी प्रयास दिखाई देता है'

सुन्दर कुँवरी बाई कृष्ण की वंदना करती हैं किंतु राधा को प्रमुखता देती हैं' उनकी गोपियाँ कृष्ण के समान चंचल और मुखर हैं। राधा की इस चुनौती पर कि यदि 'तुममें कुछ गुण हों, तो उनसे रिझाकर दान ले लो' और कृष्ण नृत्य आरंभ कर देते हैं और अपनी कला से राधा आदि गोपियों को मुग्ध कर देते हैं। इस पर ग्वालबाल कहते हैं कि मदनमुरारी की जीत हो गई' तब ललिता कहती है कि जीत राधा की हुई है जिसने कृष्ण को नाच नचा लिया'

नाचन नचाय लीने, कैसे मन माने कीने
जीतहै हमारी वृषमान के कुमारि कै[19]

सुन्दर कुंवरी द्वारा राधा की विजय प्रकाशित करना वस्तुतः नारी हृदय की अपनी विजयानुभूति है। क्योंकि सुन्दर कुँवरी जी राधा की उपासिका हैं इसलिए उनके काव्य में स्वयं कृष्ण भी राधा का मुँह जोहते हैं -

जाके सब अधीन सु तौ आधीनोतेरे
जिहि मुख लखि ब्रज जियत, वहै तब मुख रुख हेरे।[20]

प्रेम ,धर्म और जाति के बंधन नहीं मानता। संत ताज बीबी ने भी तत्कालीन शासकों के वर्चस्वी मुस्लिम धर्म, समाज, मुगलानी धर्म की आन बान को कृष्ण पर कुर्बान कर के हिन्दुस्तानी बनना स्वीकार किया, वो कहती हैं -

साँवला सलोना सिरताज, सिर कुल्ले दिये।
तेरे नेह दाग में, निदाध 'दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार, कुर्बान तेरी सूरत पै।
हूँ तो मुगलानी, हिंदूआनी 'रहूँगी मैं।[21]

ताज बीबी के प्राणाधार और भक्ति के आधार मात्र नंदबाबा के पुत्र कृष्ण हैं। अपनी एकनिष्ठ अनन्य भक्ति को व्यक्त करती हुई ताज कहती हैं -

काहू के ईस विधि, संकर को नेम बड़ो।
मेरे तो अधार एक, नन्द के कुमार है।[22]

इस युग में सामाजिक तौर पर परतंत्र स्त्री को अपनी मुक्ति का मार्ग संतों की शरण में

नजर आया और जिस पुरुष की उन्हें तलाश थी वह कृष्ण के रूप में उन्हें मिला। कृष्ण को अपने आराध्य के रूप में मानने वाली भक्त कवयित्रियों के संबंध में सावित्री सिन्हा लिखती हैं-'कृष्ण काव्य परंपरा की इस पृष्ठभूमि में नारी को अपने हृदय का सामंजस्य, भगवान के प्रति दास्य भाव ने उनके जीवन के इस पक्ष से उत्पन्न हीन भावना को कम किया, सख्य भाव में उन्हें अपने घर में ही खेलते, उपद्रव मचाते बालक का चित्रण मिला, वात्सल्य द्वारा उनका मातृ हृदय स्पंदित हो उठा। इन भावों में लौकिक प्रतिबंध के अभाव के कारण मानसिक कुंठा का अभाव है, वात्सल्य के सुलभ सलोने चित्र उनके जीवन के ही चित्र थे। माधुर्य भक्ति की रागात्मकता तथा अपार्थिव और पार्थिव का आरोपण उनके लौकिक नैराश्य में आशा और उत्साह बनकर आया और व्याप्त हो गया।'[23]

भावनाओं पर कर्तव्य की प्रभुता देने वाले सीता-राम का जीवन तत्कालीन नारी का प्रेरणा स्रोत नहीं बन सका' पहले से अनेकों बंधनों में ग्रस्तनारी, एक नया बंधन स्वीकार करने को स्वयं प्रस्तुत नहीं हो सकती थी। रामकथा की प्रबंधात्मकता भी भवनोद्रेकमयी नारी के वश की बात नहीं थी इसलिए नारियों ने रामचरित्र पर बहुत कम लिखा और जो लिखा वह भी उत्कृष्ट नहीं बन पड़ा'

विषयासक्त तुलसीदास को रत्नावली ने राह दिखाई' नारी की अवनति का मूल हेतु रत्नावली ने समझा है। नारी पर किए गए व्यर्थ के आक्षेपों का जवाब देते हुए उसने कहा कि नारी के दोष या गुण तो उसके पुरुष के दोष या गुण के अनुसार, उन्हीं के कारण और उन्हीं के आधार पर उत्पन्न होते हैं।

सस्त्र सास्त्र बीना तुरग बचन लुगाई लोग
पुरुष विशेषहिं पाइ जे बनत सुजोग अजोग[24]

डॉक्टर भोलानाथ तिवारी के अनुसार यह 'पुरुषों द्वारा नारी पर लगाए गए सारे आरोपों का बड़ा ही स्त्रियोचित शिष्ट एवं विनम्र उत्तर है।[25]

सहजोबाई ने स्त्री की अवमानना के लिए ईश्वर को जिम्मेदार ठहराया है। वे कर्मफल के सिद्धांत का खंडन करती हैं और पुनर्जन्म का खंडन करते हुए जन्म से मिले रिश्तों के बजाय सामाजिक रिश्तों को अधिक महत्त्व देती हैं।

पश्चिम में भी धार्मिकता के आवरण में ही स्त्रियों में स्व चेतना का विकास हुआ। ग्यारहवीं शताब्दी में हिल्डेगार्ड सर्वप्रथम चर्च की सदस्यता स्वीकार कर चर्च की पहली महिला उपदेशक बनने का गौरव प्राप्त करती हैं। पंद्रहवीं शताब्दी में नार्वे की जूलियन ईश्वर और माँ में अभेद की कल्पना करती हैं।जूलियन की समकालीन मार्गे केंपे ने क्राइस्ट को पति के रूप में प्रस्तुत कर एक क्रांतिकारी कदम उठाया' ईश्वरीय भक्ति ही एक ऐसा सशक्त सम्बल था जिसकी पृष्ठभूमि पर स्त्री अपनी बात रख सकती थी और जिस आधार भूमि से उन्हें वंचित करना पुरुषों के लिए संभव नहीं था।

सन्दर्भ :

1. भक्ति आंदोलन और काव्य-गोपेश्वर सिंह, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2017 पृष्ठ 117
2. स्त्री चेतना और मीरा का काव्य -पूनम कुमारी, अनामिका पब्लिशर्स एंड

डिस्ट्रीब्यूटर्स लिमिटेड नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009 पृष्ठ 77
3. वही, पृष्ठ 78, 4. वही, पृष्ठ 78
5. स्त्री साहित्य का सौंदर्यशास्त्र-संपादक अनिरुद्ध कुमार और अनिल कुमार सिंह, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012 पृष्ठ 59
6. नारी चेतना के आयाम-डॉक्टर अलका प्रकाश, इंडियन प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2007, पृष्ठ 25
7. वही, पृष्ठ 40 -41
8. साहित्य से संवाद- गोपेश्वर सिंह, मेधा प्रकाशन दिल्ली प्रथम संस्करण 2005 पृष्ठ 67
9. भक्ति आंदोलन और काव्य-गोपेश्वर सिंह, , वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2017पृष्ठ 65
10. मध्यकालीन हिंदी काव्य का स्त्री पक्ष-पूनम कुमारी, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स लिमिटेड नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015पृष्ठ 23
11. वही, पृष्ठ 24, 12. वहीं, पृष्ठ 25
13. भारतीय नारी संत परंपरा-बलदेव वंशी , वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011,पृष्ठ 48
14. वही, पृष्ठ 86, 15. वही, पृष्ठ 34
16. भक्ति आंदोलन और काव्य-गोपेश्वर सिंह, , वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2017पृष्ठ 66
17. नारी चेतना के आयाम-डॉक्टर अलका प्रकाश, इंडियन प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2007, पृष्ठ 37
18. वही, पृष्ठ 37, 19. वही, पृष्ठ 349, 20. वही, पृष्ठ 349
21. भारतीय नारी संत परंपरा- बलदेव वंशी , वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011 पृष्ठ 90
22. वही, पृष्ठ 92
23. नारी चेतना के आयाम-डॉक्टर अलका प्रकाश, इंडियन प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2007, पृष्ठ 41
24. मध्यकालीन काव्य में नारी-डॉक्टर गजानंद शर्मा, रचना प्रकाशन इलाहाबाद पृष्ठ, 445
25. वही, पृष्ठ 445

हिंदी विभाग
एसोसिएट प्रोफेसर
मिरांडा हाउस कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

मीराबाई की भक्ति भावना का स्वरूप

- छविन्दर कुमार

साहित्य सदैव समाज के लिए दीपक के समतुल्य रहा है। अमूमन समाज में जो घटित होता है, वही साहित्य बन जाता है। साहित्यकार समाज का अनुकरण करता है और उसे उम्दा रास्ते पर चलने के लिए प्रेरित भी करता है। साहित्य का प्रयोजन 'सत्यम् शिवम् सुंदरम्' होना चाहिए, ऐसा हमारे ऋषि मुनियों ने कहा है। समाज में व्याप्त कुरीतियों, अव्यवस्था के खिलाफ आवाज उठाने की हिम्मत केवल साहित्य में होती है। तत्कालीन युग की महान महिला हस्ताक्षर और परम कृष्ण भक्ति की श्रेष्ठतम कवयित्री मीराबाई का संपूर्ण साहित्य समाज हेतु आईना है।

मीराबाई तत्कालीन समाज की ऐसी प्रथम महिला हैं, जिन्होंने उस समय के समाज में व्याप्त कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाई और समाज की परवाह किए बगैर निःस्वार्थ भाव से अपने आपको श्री कृष्ण के लिए समर्पित कर दिया था। हालांकि उनका यह सफर इतना आसान नहीं था, इसके लिए मीराबाई को पता नहीं कितनी यातनाएँ, दुःख सहन करने पड़े थे। जब राजा भोज का महाप्रयाण हुआ, तो उन्होंने सती होने से इंकार किया। ऐसे में परिवारजनों और सामाजिक विरोध के बावजूद मीराबाई इन सबकी परवाह किए बगैर कृष्ण भक्ति में लीन हो गई थीं, हालांकि यह सफर इतना सुगम नहीं था। यदि उस कालखंड में अन्य महिलाओं की तरह भयभीत होकर सती हो जाती, तो शायद आज उन्हें कोई नहीं जानता। उस समय भले ही उन्हें एक तरह की अग्नि परीक्षा से गुजरना पड़ा हो और यही कारण है कि मीराबाई आज भी प्रासंगिक है। मीराबाई भक्ति काव्य धारा की श्रेष्ठतम कवयित्री हैं। उनके अंतःकरण से निकली भक्तिपरक गेयता ने उन्हें इतना लोकप्रिय बना दिया कि आज भी हर कोई उनके पदों को सुनकर मंत्रमुग्ध हो जाता है। विभिन्न क्षेत्रों और वर्गों के तमाम सज्जनों, संतों, फकीरों तथा सृजनकारों ने अपनी कृतियों में मीराबाई की चर्चा किसी-न-किसी रूप में अवश्य की है। मीरा के विषय में यह बात निर्विवाद सत्य है कि पति की मृत्यु के पश्चात् उनका अप्रकट संघर्ष उनके अंतःकरण से प्रकट हुआ और जीवन का विशेष अंग बन गया। लोक लाज के भय बगैर स्वयं को अजर-अमर स्वामी श्री कृष्ण की चिरसुहागिनी मानने लगी।

'जग सुहाग मिथ्या री सजनी हांवा हो मिट जासी।
वरन करयां हरि अविनाशी म्हारो काल - व्याल न खासी।।'[1]

मीराबाई का यह आचरण मेवाड़ के राजघराने के लिए सर्वथा अप्रत्याशित था, लेकिन उन्होंने तो स्वयं को सर्वशक्तिमान आराध्य देव श्रीकृष्ण के लिए समर्पित कर दिया था। मीराबाई को अनेकों यातनाएं देने के पश्चात् भी कोई उनका बाल बांका न कर सका। सत्संग, कीर्तन में जाना, भजन गाना और नृत्य करना परिजनों को जरा भी पसंद नहीं आया। अनेक बार मारने की चेष्टा की गई, लेकिन हर बार बच निकली। कहते भी हैं 'जाको राखे साइयां मार सके न कोय।'

वृंदावन में श्री कृष्ण की भक्ति में लीन मीराबाई को गीत गाते-गाते न जाने कब और कैसे यह आभास हुआ कि उनके प्रियतम तो वृंदावन त्याग कर द्वारका प्रस्थान कर

चुके हैं। यह आभास होने पर वो भी तुरंत द्वारका चली गई और वहीं रणछोड़ जी के मंदिर में भगवान की मूर्ति के सम्मुख एकनिष्ठ व एकाग्र भाव से सत्संग और भजन में लीन रहने लगी। अपना संपूर्ण जीवन फिर वहीं पर व्यतीत किया। उन्होंने राजस्थान की रेतीली धरती पर प्रेम और भक्ति की धारा इस प्रकार से प्रवाहित की कि वो संपूर्ण नीरस और शुष्क धरा रस युक्त और भक्तिमय हो गई। विरहिणी मीराबाई का काव्य विरह के आँसुओं से सिंचित है। उनका काव्य प्रेम और भक्ति से परिपूर्ण है। यह उनके ह्रदय से निकले सहज प्रेमोच्छवास का जीवंत रूप है। उनकी संपूर्ण वृत्ति प्रेम माधुरी में रमी हुई है। अपने आराध्य देव श्रीकृष्ण के विलक्षण रूप छटा के प्रति उनकी अनन्य आसक्ति अनेकत्र शब्द गंगा बनकर प्रवाहित हुई है।

मीराबाई की विरह वेदना का कोई छोर नहीं है। उनका एक-एक पद उनके ह्रदय की इस आकुलता का परिचायक है।

'बिरहनी बावरी सी भई।
ऊँची चढ़ी अपने भवन में टेरत हाय दई
ले अंचरा मुख अंसुवन पोंछत उघरे गात सही।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर बिछुरत कछु न कही।।'[2]

मीरा के काव्य में गेयता के प्रवाह से लगता है कि सचमुच में वह संगीत की देवी रही होगी, यही कारण है कि गोस्वामी हित हरिवंश और हरिराय व्यास जैसे प्रसिद्ध वैष्णव भक्त भी मीरा के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते थे, परन्तु इस भौतिक काया से अंतर्ध्यान होने के पूर्व ही वो अमर हो चुकी थी। मीरा ने माधुर्य भाव की भक्ति को यथावत स्वीकार किया है। गिरिधर गोपाल श्री कृष्ण ही मीरा के लिए सब कुछ है, उनके अलावा सब कुछ तुच्छ वस्तुएँ हैं। वही उनके रक्षक, स्वामी, ईश्वर सब कुछ हैं। उन्होंने कहा भी है -

'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर-मुकुट मेरो पति सोई।
अंसुवन जल सींची - सींची प्रेम बेलि बोई।
अब तो बेलि फैल गई, आनंद फल होई।।'[3]

मीरा को लगता है कि जितनी दृष्टि हम संसार के व्यर्थ दर्शन में दौड़ाते हैं, उससे बेहतर है कि उस समय को व्यर्थ में नष्ट न कर श्रीकृष्ण को निहारते रहना,उनकी बाट जोहते रहना, उसी में ही हित है। संसार की हर गतिविधि को सूक्ष्मता से निहारते रहना मूर्खता है। मीरा ने जीवन के सत्य को गहनता से समझ लिया था, तभी स्वयं को अपने आराध्य के लिए समर्पित कर दिया था।

दूसरे मीरा प्रारंभ से ही संतों से प्रभावित रही हैं। सत्संग में जाना, ईश्वर के बारे में चर्चा करना व तर्क वितर्क करना उनके जीवन का प्रयोजन सा रहा है। उनके आराध्य देव श्रीकृष्ण है, किन्तु इनके पदों में सगुण भक्ति की छाप नहीं अपितु दादू, कबीर, नानक और नामदेव जैसे श्रेष्ठ निर्गुण कवियों का भी रंग चढ़ा हुआ है। उनके पदों में भावों की सुंदर अभिव्यक्ति दिखाई देती है।

मीरा ने अपने ईष्ट देव श्रीकृष्ण का अनेकों रूपों में वर्णन किया है। लड़कपन से ही कृष्ण भक्ति में लीन होना और बड़े होते होते कृष्ण भक्ति का रंग और भी गहरा होता

गया। उनकी प्रेम के प्रति गहनता से सम्बंधित कुछ पंक्तियां हैं-

'या तन को दियना करौ, मनसा करौ बाति हो।
तेल भराऊ स्नेह का बारौ सारी राषि हो।।'

मीरा का प्रेम वास्तव में दिव्य व अलौकिक है, चूंकि इस लोक में ऐसा अद्भुत प्रेम देखने को नहीं मिलता है। जिसके विरह में मीरा तड़प रही है, वह अपने आप में सर्वदाता है, सर्वव्यापक है। संभवतः मीरा के बारे में विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी जी ने कहा है कि मीरा ने अपने काव्य में अज्ञात प्रियतम कृष्ण का जो रूप उकेरा है, उसमें कहीं-न-कहीं उनके मूल पति का रूप भी कहीं न कहीं घुल मिल गया है।'

'ऐसी लगन लगाई कहां तु जासी
देख्या बिन कली न परति है तलफ -तलफ जिय जाती है।।'[4]

मीरा के हृदय में कृष्ण मिलन की जो तीव्र जिज्ञासा है, एक पीड़ा है व वेदनापूर्ण पुकार है, उसी भावना ने यहां गेयता का रूप ले लिया है। अपने प्रियतम से साक्षात्कार होने तक उन्हें तमाम बाधाओं को पार करना पड़ रहा है। अमूमन स्वयं के पति ने ही उन्हें अनेकों कष्ट दिये, किन्तु उन कष्टों को मानो हर्ष से स्वीकार कर अमृत समझकर उन्हें पी गई, क्योंकि उनके प्रभु हर क्षण उनके साथ थे।

'मीरा मग्न भी हरि के गुण गाय।
सांप पिटारा राणा भेज्या मीरा हाथ दियो जाय।
न्हाय धोय जब देखन लागि सालिगराम गई पाय।
मीरा के प्रभु सदा सहाई, राखे विघ्न हटाय।।'[5]

मीरा का भक्ति काव्य धारा में विशिष्ट स्थान है। उनके पद अपनी मार्मिकता एवं मधुरिमा के कारण इतने लोकप्रिय हुए कि हिन्दी भाषा - भाषियों के अलावा अन्य भाषियों ने भी उनके साथ आत्मसात किया है। गुजरात हो या बंगाल, दक्षिण का तमिलनाडु हो या महाराष्ट्र इन गीतों का प्रचलन जन - जन में है। मीरा एक नूतन विचारधारा को लेकर आगे बढ़ी। पुरुषों के वर्चस्व को नकारने वाली मीरा कृष्ण भक्ति में लीन रही। पुरूषों की मिथ्या प्रशंसा तथा धारणाओं का विद्रोह उनके काव्य में देखने को मिलता है।

मीरा के पदों में जो विरह वेदना है, वो दिल को छू लेने वाली हैं। किसी ने सही कहा है कि भक्ति मार्ग में जो बाधाएं आती है और उन बाधाओं को पार करना असम्भव होता है। उन बाधाओं को वही पार कर सकता है, जिसमें वो सामर्थ्य होता है। मन के विकारों को नष्ट करने के उपरांत ही साधक ईश्वर प्राप्ति कर सकता है। यही बात मीरा पर भी लागू होती है। मीरा की पदावली आज हर मंदिर में अवश्य गाई जाती है। मीरा के काव्य की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इनका संपूर्ण काव्य गेय बना है। अन्य भक्त कवियों की तरह मीरा के गेय पदों पर जयदेव के गीत गोविन्द का प्रभाव भी दिखाई देता है। यह प्रभाव पदरचना, शब्दानुप्रास और स्थितियों के चित्रण से संबंधित है। मीरा से पूर्व संत कबीर भी गेय पद लिख चुके थे और विद्यापति, सूरदास और तुलसीदास थोड़ा आगे पीछे लेकिन समकालीन ही थे। सबसे अधिक संत कबीर की भाषा में गद्यात्मक या सुविन्यस्त वाक्य गठन दिखाई देता है इसलिए कहा भी जाता है कि मीरा के पदों में जो सुविन्यस्त वाक्य गठन विराजमान है, वो विशेषता शैली रूप में उन्हें विरासत

में मिली थी। मीरा के जो पद कृष्ण, सखी या किसी और के लिए समर्पित है, उनमें संवादात्मकता के कारण जनबोली का तेवर दिखाई देता है। यह भी देखने को मिलता है कि इन पदों में प्रायः स्त्रियोचित तीखापन और सरापने की मुद्रा भी दिखलाई देती है। मीरा साधु - संगति और सत्संग में जाकर ज्ञान सुनती थी और दुर्जन लोगों को उनका इस प्रकार सत्संग में जाना उचित नहीं लगा मगर मीरा तो कहती थी 'सत्संगति मां ज्ञान सुणै छी दुरजन लोगां नै दीठी।

'मीरा रो प्रभु गिरधर नागर दुरजन जलो जा अंगीठी।
राणा तुम तो ऐसे हो जैसे वृछों में कैर लग जाती हैः।।'[6]

उनके ससुर को लोक लाज मर्यादा की बहुत चिंता थी। मीरा कहीं अपने पथ पर भटक न जाए, इसलिए उनकी बहुत निगरानी करने लगे। जब मीरा को यह सब मालूम हुआ, तो उन्होंने कहा कि राणा! बेहतर होगा पहले अपने घर की रखवाली करें। दूसरों को भला-बुरा कहने वाले अपना घर नहीं देखते। भगवान आपको सद्बुद्धि दे। जहाँ तक मेरी बात है, मेरे तो रक्षक भी और भक्षक भी गिरधर नागर है। मैं तो बावली हूँ। मेरी क्या सुध ले रहे हैं आप। मेरी सुध लेने वाले स्वयं परमात्मा है, श्री कृष्ण हैं।

मीरा कृष्ण भक्ति में इतनी डूब गई कि लोक लाज, मयार्दा का कोई डर नहीं। पैरों में घुँघरू बाँध कर नृत्य करना तत्कालीन समाज में लोगों की उनके प्रति क्या धारणा रही होगी? लोगों द्वारा उन्हें भला बुरा कहना, जान से मारने की धमकी देना, विष देना जैसे पता नहीं कितनी यातनाएं दी गईं होगी। जैसे कुछ पंक्तियां हैं-

'पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे।
मैं तो अपने नारायण की आपहि हो गई दासी रे।
लोग कहे मीरा भई बावरी, न्यात कहैं कुलनासी रे।।
विष रो प्याला राणा भेज्या / पीवां मीरा हांसी रे।
राजा रूठयॉ नागरी त्यागां / हरि रूठयॉ कठ जाणा
मीरा मग्न भइ हरि गुण गाय। / सांप पिटारा राणा भेज्या मीरा हाथ दियो लगाय।।'[7]

मीरा की लोकप्रियता का प्रथम कारण यह है कि ऊँचे राजकुल का त्याग करके साधुओं, सन्तों और भक्तों के बीच सामान्य जन के स्तर पर भक्ति भाव की अभिव्यक्ति की। उससे भी बड़ा कारण है अपने पदों का सामान्य बोली में सृजन करना। यही कारण है कि आज भी इन सन्त भक्तों जैसे कबीर, सूरदास, मीरा के पद जीवित है, जबकि सांप्रदायिक सिद्धांतों पर गढ़े जाने वाले पद लुप्त हो गये हैं, उन किताबों को कोई खोलता तक नहीं है। यह बात निर्विवाद सत्य है कि गुजरात से लेकर समस्त हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों में मीरा जैसी लोकप्रियता शायद ही किसी को मिली हो।

मीरा प्रेम बावरी है और स्वच्छंद भाव से नाच उठती है -

उनका प्रसिद्ध गेय पद है - 'पायो जी मैंने राम रतन धन पायो।

वस्तु अमोलक दी म्हारे सत्गुरु ने, करि किरपा अपनायो। जन्म जन्म की पूंजी पाई। जग में सबी खुमायो।।

'खर्च ना खूटे, चोर ना लूटे। / दिन दिन बढ़त सवायो।।
सत की नाव खेवटिया सतगुरु। / भवसागर तरि आयो।।

पायो जी मैंने राम रतन धन पायो। / मीरा के प्रभु गिरिधर नगर।
हर्ष हर्ष जस गायो।।'[8]

मीरा का गेय काव्य अपने आपमें हिंदी गेय काव्य की एक अनुपम निधि है। स्वयं को कवि रूप में स्थापित करना उनका प्रयोजन कदापि नहीं रहा है, चूँकि पहले काव्य प्रतिष्ठा के लिए नहीं लिखा जाता था बल्कि समाज को सही दिशा में अग्रसर करना, वर्ग विषमता को समाप्त करने के लिए लिखा जाता था या यूं कहें कि 'सत्यम् शिवम् सुंदरम्' ही काव्य का प्रयोजन होता था। आज का कवि हर हाल में स्वयं के लिए प्रतिष्ठा और प्रशंसा चाहता है और जिससे वो काव्यकार नहीं बन पा रहा है। स्वयं को कवि की संज्ञा देता है, लेकिन सच्चे अर्थों में वह सृजनकर्ता है ही नहीं। उसके सृजन से समाज का क्या हित हो रहा है, यह देखना अवश्य है। मीरा या जितने भी सन्त हुए, सभी ने कभी स्वयं को विद्वान नहीं माना। प्रशंसा या यश प्राप्त करने के लिए सृजन नहीं किया, बल्कि ये तो अपनी देशी भाषा या बोलियों के माध्यम से समाज को सही दिशा में अग्रसर करना चाहते थे। मीरा ने कभी नहीं सोचा होगा कि मुझे कभी जमाना इतना याद करेगा। व्यक्ति स्वयं के कर्मों से महान बनता है। भक्ति मार्ग में असंख्य बाधाएँ पार करके अपने कृष्ण की लीला का गुणगान करके आज भी मीरा प्रासंगिक है और जब तक यह जमाना रहेगा, तब तक उनके पद और सच्ची भक्ति अमर व समाज के लिए प्रेरणा स्रोत के रूप में रहेगी।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि मीरा के पदों में गेयता का जो जादू देखने को मिलता है वह अपने आप में एक असाधारण उपलब्धि है। हम वर्तमान में अत्यधिक शिक्षित बनकर भी मीरा जैसा नहीं लिख सकते हैं। मीरा की भक्ति ही इनके गीतों की शक्ति है। यही कारण है कि आज भी उनके गीत हिन्दुस्तान के कोने -कोने में लोगों के कंठों से सुनने को मिलते हैं। आज कोई ऐसा नहीं है, जो मीरा की भक्ति और काव्य को जानता नहीं होगा। निश्चय ही मीरा बाई भक्ति युग की महान् महिला भक्त थीं।

संदर्भ :

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, कमल प्रकाशन, पृ.सं. 133
2. वही, पृ.सं. 134
3. बच्चन सिंह, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नौवां संस्करण, पृ.सं.133
4. वही पृ.सं. 134
5. डॉ. नगेन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, 220
6. वही पृ.सं. 221
7. विश्वनाथ त्रिपाठी, मीरा की कविता, वाणी प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, पृ.सं. 84
8. डॉ. शिव कुमार, भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य, लोक भारती प्रकाशन

शोधार्थी विद्या वाचस्पति हिन्दी,
हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय धर्मशाला.

भारतेन्दु युगीन कवि : दत्त द्विजेन्द्र के काव्य में राष्ट्रीय चेतना

- डॉ. मिथिलेश शर्मा

भारतेन्दु युग में ही उनके मण्डल के अनेक लेखकों-रचनाकारों के समानांतर ही एक ऐसा व्यक्तित्व अवतरित हुआ, जिसके विषय में या तो किसी इतिहासकार को कोई जानकारी हासिल नहीं हुई या फिर उसे जानबूझकर दरकिनार कर दिया होगा। यह व्यक्तित्व है- पंडित देवीदत्त त्रिपाठी उर्फ 'दत्त द्विजेन्द्र' जिनका जन्म सन् १८७२ में बीसवाँ (सीतापुर जनपद) के झज्जर मुहल्ले में हुआ था। पंडित जी अपने पिता जानकी प्रसाद की इकलौती सन्तान थे और उनका परिवार एक साधारण जमींदार का परिवार था। 'काव्य-सुधाधर' पत्र के संपादक भी थे।

भारतेंदु एवं उनके परवर्ती साहित्यकारों की रचनाओं में 'राज्यभक्ति बनाम राष्ट्रभक्ति' का स्वर बहुत कुछ दूर तक जाकर मुखरित हुआ है। इस मुखरता को द्विजेंद्र केयहाँ भी अपवाद नहीं कहा जा सकता। 'महारानी शोक', 'आशीर्वाद और विनय', 'मंगलयात्रा' आदि रचनाओं पर यह प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। संभवतः इसका कारण यही माना जाना चाहिए कि उन्होंने बिना किन्हीं पूर्वाग्रहों के 'क्षीर-नीर' का सिद्धांत अपनाते हुए द्विजेंद्र यथातथ्यों, यथास्थितियों के प्रति ईमानदारी बरतते हैं। तत्कालीन 'भारतीय दासता की बेड़ियों में जकड़े होने के बावजूद गोरे प्रशंसकों की राजनीतिगत अच्छाइयों एवं बुराईयों को सम्यक रूप से निरूपित करना कवि के निष्पक्ष होने का संकेत देता है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है तत्कालीन भारत की महारानी विक्टोरिया के निधन के संदर्भ में 'महारानी शोक' रचना विक्टोरिया के राज्य के सकारात्मक पहलुओं को सामने लाती है और इसके ठीक विपरीत 'मंगल माला' के अंतर्गत एडवर्ड सप्तम के राज्याभिषेक के प्रकरण को लेकर एक ओर तो पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता के वैभव-विलास की चर्चा करते हुए, उसके रंग में रंगे हुए सामंतों-जमींदारों और राजा महाराजाओं की दुष्प्रवृत्तियों का पदार्फाश किया गया है। इन रचनाओं में पददलित भारतीयता के प्रति वेदना का स्वर तथा तेजी से देश में अपनी पैठ जमाती जा रही पश्चिमी आधुनिकता के प्रति व्यंग्य, ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। यहाँ पर निश्चित रूप से द्विजेंद्र का सृजन एकांकी आध्यात्मिकता से हटकर अपने युग की जीवन की धड़कनों को अपने में समेट लेता है और इस प्रकार उनकी रचनाओं का दायरा बृहत्तर होता हुआ अधिक व्यापकता की ओर बढ़ने लगता है। उनकी अधिकांशतः रचनाएँ तत्कालीन समाजगत कुरीतियों व रूढ़ियों पर प्रहार करती हैं। इसके अतिरिक्त अपने समय के समाज-सुधारकों के सिद्धांत का अनुमोदन करना भी रचना के केंद्र में रहा है।

दत्त द्विजेन्द्र जिस दौर से गुजर रहे थे, राष्ट्रीयता की दृष्टि से यह समय संक्रमण का समय माना जाता है। उनसे पहले ही सन् १८५७ की क्रांति हो चुकी थी और देशभक्ति तथा राष्ट्रीय अस्मिता की भावना प्रबल हो चुकी थी। उस समय के प्रायः हर रचनाकार का लक्ष्य यह भी था कि ऐसे साहित्य को जनमानस तक पहुँचाया जाए जो जनता में

राष्ट्रीय भावनाओं को भर सके। यही कारण है कि समाज और जीवन के हर क्षेत्र में जागरूकता पैदा करने कीवजह से इस काल को 'नवजागरणकाल' की संज्ञा भी दी गई है। तत्कालीन साहित्यकारों, लेखकों, बुद्धिजीवियों, रचनाकारों ने इस आवश्यकता को महसूस किया था और उनके सृजन की सार्थकता और प्रासंगिकता भी इसी में मानी जाती थी कि वह राष्ट्रीय हित में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकें। स्वयं भारतेन्दु ने तत्कालीन भारतीय दुर्दशा कोकई कोणों से रेखांकित करते हुए आम आदमी में जागरूकता पैदा करने का अभूतपूर्व प्रयास किया था। इसी चिंतन की धारा में दत्त द्विजेन्द्र का योगदान भी अनुकरणीय है। नवजागरण का स्वर उन्होंने भी फूँका था। एक स्थान पर उन्होंने सोए हुए भारतवासियों से 'उत्सिष्ठत जाग्रत' का बड़े पैमाने पर आ'ान किया है-

'विद्या जप तप खोय चुके बहु भाई जागो।।
ले अंगड़ाई उठो खोलि दृग आलस त्यागो।
सजग होहु उठि बेगि आपने मारग लागो।'[1]

कवि ने सुषुप्तावस्था के दौरान राष्ट्रीय भावना को पहुँची क्षति का चित्रण करते हुए बाहरी आक्रमणकारियों के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त किया है और भारतीय जनमानस की इसी सुषुप्तावस्था को उन्होंने राष्ट्रीयता के पतनोन्मुख होने का कारण भी माना है-

'सोवत ही में गए बदले तस्कर सारे।
सिन्धुपार अब हाय न ढूँढे मिलत तुम्हारे।।
सोबत ही यवनकृतघ्नी नीच निशाचर।
नष्ट भ्रष्ट करि धर्म ग्रन्थ मिट गए मिटाकर।।'[2]

उपरोक्त पंक्तियाँ भारत पर समय-समय पर हुए विदेशी आक्रमणों, मुस्लिम अत्याचारों का जिक्र करती हैं और भारत की राष्ट्रीय अस्मिता के प्रतीक मन्दिर और मूर्तियों के नष्ट-भ्रष्ट किए जाने, लूटे जाने के प्रति कवि की चिन्ता को उजागर करती हैं। वस्तुतः इसे राष्ट्रीय भावना के रूप में एक अच्छा नमूना माना जा सकता है। देश प्रेम के, इस तरह के कई छन्द द्विजेन्द्र साहित्य की विषय-वस्तु का आधार रहे हैं और उल्लेखनीय बात यह है कि राष्ट्रभक्ति- देशभक्ति मूलक छन्दों की मात्रा भी संतोषजनक है। जगह-जगह पर द्विजेन्द्र में कर्मवाद का समर्थन करते हुए भारतवासियों को भोग्यवाद के अंधेरे से निकालकर पुरुषार्थ के आलोक में लाने का प्रयत्न किया है-

'सोवत बीतो काल बिता दुःख रोवत बीतो।
सपनेहु सुख मिलो नहीं अपने मन चीतो।।
सोवत सुख की नींद नहीं यद्यपि तुम भैया।
तऊँ उचित अब है न सोइवो राम दुहैया।'[3]

दत्त द्विजेन्द्र जी की इस किस्म की पंक्तियाँ भारतेन्दु की भी याद दिलाती हैं, जहाँ वे आलस्य, रोग, अकाल आदि को भारत का दुर्देव मानते हैं। अन्तर केवल इतना है कि उन्होंने भारतवासियों की इन प्रवृत्तियों को प्रतीकात्मक शैली में पेश किया है जबकि द्विजेन्द्र जी इस बात को सहज और सरल रूप से कहते हैं। इसी सन्दर्भ को आगे बढ़ाते हुए द्विजेन्द्र जी ने इंगित किया है-

'भारत के वासी सुजन सुनहु सकल दे कान।

पुरुषारथ अब करहु कछु चुप न रहहु मतिमान।।
चुप न रहहु मतिमान वीर मानहु सिख मेरी।
जरमन, फांस, जापान, रूस दिश देखहु हेरी।।'[4]

स्वदेश और स्वदेशी वस्तुओं के प्रति तद्युगीन साहित्यकारों का लगाव रहा है। इस तथ्य को प्रायः प्रत्येक रचनाकार ने किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्ति दी है 'निजता' का आभास होना और हर व्यक्ति को उसका बोध कराना रचनाकारों का मानो दायित्व रहा है। यह तथ्य भी उनकी राष्ट्रीय भावना और देशभक्तिमूलक प्रवृत्तियों का परिचायक है। द्विजेन्द्र जी ने भी इस सन्दर्भ को अपने छन्दों में कई स्थानों पर समेटा है-

'देश हितेषिता है तबही जबही ते न बैन कहैं भ्रमि भूलो।
चूंकि विलायती वस्तुन पे तजि के तिन्हें सपनेहू मति हूलो।।'[5]

तथा

'विदेशिन की कलकंकट सों बनी त्यों सपने न चढ़े मन।
आपने देश ही को सब वस्तु सप्रस्तुत देखि के मोद मढ़े मन।।'[6]

कहा जा सकता है कि देशभक्ति और राष्ट्रीयता के मुद्दे पर द्विजेन्द्र जी का दृष्टिकोण साफ-सुथरा रहा है उन्होंने हमेशा अपनी रचनाओं में देश-प्रेम के उद्धरणों को स्थान दिया है। इससे उनका राष्ट्र प्रेम और अपनी मिट्टी के प्रति निष्ठा के दर्शन होते हैं। हालाँकि कुछ स्थानों पर इस विषय में मानवता के नाते 'वसुधैव कुटुम्बकम' को महत्त्व दिया गया है लेकिन इसके बावजूद 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' के महत्त्व को भी बराबर याद दिलाता गया है।

'जापान मिश्र इंगलैण्ड चहे सिधारो।
X X X
भैया विरोध तजि देश हितै विचारो।' [7]

अपनी भारतीय सभ्यता की तुलना में उन्होंने विदेशी खान-पान, रहन-सहन पहनावे इत्यादि को नकारात्मक दृष्टि से देखा है-

'बीए. एम.ए. के पास करि एले लडा बेरिस्टर एटलादि हवेक दिन केरिए।
हयूट-हपड धरि पैन्हि कोट पतलून डें सजावट के पाकट में चेन वाच गेरिए।।
केति लांग क्लोक व्यष्ट तनि व्यस्ट बूट धारि सोप लाय लाय फेस साफ निरबेरिए।
दत्त द्विजेन्द्र दीन दशाइण्डियाँ को देखि भारतन करो पूत भारत के हेरिए।।'[8]

राजनैतिक दृष्टि से हिन्दोस्तान की तत्कालीन स्थिति शोचनीय थी। समय-समय पर पराधीनता की हीन भावना या कुण्ठा भारतीय जन-मानस में उद्दीप्त होती रहती थी। जिसके परिणामस्वरूप, कभी छोटे या कभी बड़े पैमाने पर विद्रोह की अग्नि भड़कती रहती थी। जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि- साहित्यकारों का ध्यान राजभक्ति की ओट में राष्ट्रभक्ति करना था। समय-समय पर गोरी-सरकार द्वारा दी जाने वाली सुख-सुविधाओं के बावजूद भारतीय जनमानस में यह ग्रंथि बन चुकी थी कि जो भी हो परतन्त्रता हमारी अस्मिता के लिए किसी भी कीमत पर अच्छी चीज नहीं हो सकती। समय-समय पर उस समय के समाज सुधारक, साहित्यकार, देशभक्त और अन्य जागरूक लोग उन्हें दासता की बेड़ियों से मुक्त होने की दिशा में कार्य करने के लिए

प्रेरित करते रहते थे 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।' का सिद्धांत अब भारतीय मानसिकता को प्रेरित कर रहा था। ऐसे में बहुत कुछ स्वाभाविक था कि साहित्यकारों ने राजनैतिक क्षेत्र में, ऐसे विषयों को चुना जिनके माध्यम से एक ओर जहाँ ब्रिटिश सरकार और उसकी नीतियों का पदार्फाश होता था तो दूसरी ओर भारतीय जनता के मन में क्रान्तिधर्मी भावनाएँ जाग्रत होती थीं। उस समय के लेखकों ने पारस्परिक क्लेश और फूट को छोड़कर, एकजुट होकर, अंग्रेजों को खदेड़कर, जनता से स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़ने का आवाह्न किया था। स्वयं भारतेन्दु बाबू ने दासता को नकारते हुए लिखा है-

'जग में घर की फूट बुरी,
फूलों जयचंद बुलायो, जबरन भारत धाम ।
जाके फल अबलों भोगत सब आरज दोह गुलाम' ॥[9]

इसी के समानान्तर दत्त द्विजेन्द्र जी भी उक्त भावनाओं को आम आदमी के मन में भरने का प्रयास कर रहे थे और उनके कुछ छन्दों में इस बात का संकेत भी मिलता है कि आपसी फूट घर,परिवार और देश को खोखला बना देती है। इस दृष्टि से उनके इस छन्द को अनदेखा नहीं किया जा सकता -

'लखि जनु मन सकुचाय कछुक अवसर पुनि दीनो,
मेटि अराजकता अंगरेजन देशहि लीनो।।'[10]

दत्त द्विजेन्द्र ने तत्कालीन सामाजिक स्थितियों का चित्रण यद्यपि अपनी रचनाओं में अपेक्षाकृत कुछ कम ही किया है लेकिन उनके द्वारा छुट-पुट छन्द इस बात का संकेत देते हैं कि कहीं-न-कहीं उनके मन में सरकार की निष्ठुरता के प्रति आक्रोश की भावना अवश्य रही होगी। इस विषय में उपरोक्त तथ्य की पुष्टि इन पंक्तियों से होती है-

'मूढ़न बांधि अमूड़ बतायो यहि अंगरेज चलावें।
क्वारंटाइन नहिं रक्षन को भारत हेत बनावें'' ॥[11]

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि द्विजेन्द्र जी अपने लेख की विषय-वस्तु का एक आधार राजनैतिक परिप्रेक्ष्य को भी बनाकर चले थे और उन्होंने भी अन्य लेखकों की भांति ही ब्रिटिश सरकार के प्रति राजनैतिक मसलों को लेकर विरोधी दृष्टि को भी अपनाया था। दरअसल, यह युगीन आग्रहों का ही परिणाम था जबकि समूचा राष्ट्र संक्रमण के दौर से गुजरते हुए अपनी गरिमा खो बैठा था तथा गुलामी के अभिशाप का बोझा ढोते हुए भी उससे मुक्त होने का कोई रास्ता नहीं खोज पा रहा था। ऐसे में, इन कवियों-लेखकों द्वारा संघर्ष का आवाहन किया जाना भारतीय जनता के लिए पथ-आलोकित करना था। दत्त द्विजेन्द्र जी भी इसका अपवाद नहीं हैं और उन्होंने भी यथासम्भव अपने कथ्यों में राजनैतिकता का समावेश किया है। यह वस्तुतः सोये हुए भारत में जागरूकता और चेतना पैदा करने की दिशा में ही एक सार्थक और प्रासांगिक कदम था।

जहाँ तक द्विजेन्द्र साहित्य के अन्तर्गत आर्थिक सन्दर्भों को तलाश करने का प्रश्न है, इन्होंने एक परिधि में रहकर ही ऐसे प्रसंगों को अपने यहाँ स्थान दिया है। यह तो एक सर्वसम्मत तथ्य है कि उन्नीसवीं बीसवीं शताब्दी का सन्धिकाल आर्थिक दृष्टि से भारत के लिए कोई शुभ संकेत लेकर नहीं आया था। इसके कई कारण भी रहे जैसे - अकाल, महामारी, रोग-प्रकोप, दैवीय आपदाएँ, बाढ़, सूखा, अनावृष्टि आदि। लेकिन, इससे भी

कहीं अधिक गोरी सरकार की 'नीतियाँ' भारतीय अर्थव्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने के लिए जिम्मेदार रहीं। इनके अतिरिक्त अंग्रेजों द्वारा अपनाई जाने वाली पक्षपात नीति भी इसके लिए जिम्मेदार मानी जाती है। इतना ही नहीं, उनकी आयात-निर्यात नीति अधिक खतरनाक साबित हुई और हमारे यहाँ उत्पादित वस्तुओं का निर्यात करना तथा उसके स्थान पर पश्चिम से विलासी वस्तुओं का आयात करना उनकी कूटनीति मानी जाती है। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे देश की जनता को उन सुख-सुविधाओं से वंचित रहना पड़ा जो उनकी प्राथमिक जरूरत हो सकती थीं और जिनके अभाव में भारतीय जनता आर्थिक संकट के कगार पर आकर खड़ी हो चुकी थी। उनके द्वारा आयोजित विलासी सामग्री का लाभ केवल जमींदार, सामंत, पूंजीपतियों को ही मिल पाता था क्योंकि वे ही लोग इस किस्म की सामग्री का मूल्य अदा करने में समर्थ होते थे। इस क्रम में डॉ. पुष्पा थरेजा ने ठीक ही लिखा है कि '1900 ई. के भीषण अकाल में भी लाखों व्यक्ति भूख से पीड़ित होकर मृत्यु विवर में प्रवेश कर गए। उस समय एडवर्ड सप्तम के लिए बड़ी धूमधाम से दरबार मनाया जा रहा था जिसके ऊपर किए गए खर्चे का अनुमान सहज नहीं। परन्तु, निर्धनता तथा भूख का कारण देश में पदार्थों का अभाव तथा प्राकृतिक साधनों की कमी नहीं थी विदेशी सरकार की अनीति और शोषण ने ही भारतीय जनता को भूखों मरने पर विवश किया''।[12] तत्कालीन भारत की व्यावसायिक पद्धति भी सरकारी अनीतियों के कारण दोषपूर्ण रही और उसने भी देश की निर्धनता में इजाफा किया। इसका उल्लेख सुन्दरलाल ने इन शब्दों में किया है- 'हम इस बात की बड़ी-बड़ी शिकायतें सुनते हैं कि इस देश के लोग गरीब होते जा रहे हैं, देश का आंतरिक व्यापार नष्ट होता जा रहा है और देश की दस्तकारियाँ बजाय उन्नति के गिरती जा रही हैं। इसमें आश्चर्य ही क्या है? हमारी इस चुंगी की प्रणाली के कारण समस्त व्यापारियों को जिन अस' क्लेशों का सामना करना पड़ता है, क्या उनसे और किसी नतीजे की आशा की जा सकती थी''?[13] अन्य लेखकों के साथ दत्त द्विजेन्द्र को भी एक सीमा तक तत्कालीन आर्थिक विसंगतियों ने झकझोरा था उनका हृदय भी भारतीय जनता के लिए द्रवीभूत हुआ था इसीलिए उन्होंने टैक्स (लगान) इत्यादि को माफ कराने हेतु लिखा है-

'एडवर्ड सातवें का रौनक शौक तो शान जीत जम को।
सब रेयत खुश खुर्रम उनकी देती ही रहे दुआ दम को'' ॥[14]

भारत जैसे समृद्ध देश में इस तरह से बहुत थोड़े से अन्तराल में ही आर्थिक विषमता का व्याप्त हो जाना वास्तव में एक विडम्बना थी। उत्पादक ही अपने उत्पादन का लाभ नहीं ले पा रहे थे और उसे वित्तीय-दृष्टि से संकट से जूझना पड़ता था, ऊपर से तत्कालीन सरकार द्वारा समय-समय पर लादे जाने वाले करों ने आम आदमी को आर्थिक बोझ के पहाड़ तले दबा दिया था। इस चीज को भी दत्त द्विजेन्द्र ने निम्न छन्द में रेखांकित किया है-

'कहा करें ये हैं जिनके धन केवल फटो लंगोटा।
निश दिन पेट हेतु भरमत हा पावत अन्न ना मोटा' ॥[15]

जहाँ लन्दन में हजारों व्यक्तियों को भोजन दिया जा रहा है तथा धन को पानी की तरह पीया जा रहा है वहाँ पर भारतवासियों की यह स्थिति थी कि उन्हें पेट भरने

के लिए अन्न का दाना नहीं है, धन के स्थान पर सिर्फ तन पर पड़ा फटा कपड़ा है। जिन भारतवासियों के धन से तुम ऐशों-आराम कर रहे हो, उन्हीं भारतवासियों की यह स्थिति? जिसके पास दो समय का भोजन न हो और उससे सच्चे आनन्द की परिभाषा पूछी जाए तो वह क्या बतलाएगा? उसके मौन रहने में कितनी व्यथा छिपी है।

अन्त में, समूचे द्विजेन्द्र साहित्य पर दृष्टि डालते हुए यह कहा जा सकता है किउनका सृजन लगभग उन्हीं सब प्रवृत्तियों का या दृष्टियों का प्रतिनिधित्व करता है जो भारतेन्दुकाल के साहित्यकारों और साहित्य में विद्यमान रही है। सामाजिक विषय-वस्तुओं के आधार पर दत्त द्विजेन्द्र के यहाँ सामाजिक कुप्रथाओं के विरोध का स्वर उभरता है और वे वैवाहिक पद्धतियों के दोषों का विरोध करते हुए भी बाहरी आडम्बरों- पाखण्डों और छुआछूत जैसे कुप्रवृत्तियों से असंतुष्ट होकर बड़े ही तीखेपन के साथ अपने साहित्य में इसका पदार्फाश करते हैं। नीतिपरक, उपदेशपरक विषय-वस्तु ने भी उनके साहित्य में स्थान ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त जनकल्याण का भाव भी उनके यहाँ परिलक्षित होता है। कहने का आशय यह है कि सामाजिक विसंगतियों, विघटन आदि को जहाँ एक ओर ये विभिन्न कोणों से रेखांकित करते हैं, वहीं दूसरी ओर उनके प्रति वे कहीं-न-कहीं चिन्तित भी दिखाई देते हैं। जहाँ तक उनकी देशभक्ति व राष्ट्रभक्तिपरक रचनाओं का सवाल है, यह प्रवृत्तियाँ उनके यहाँ भारतेन्दु युगीन काव्य से साम्य रखती और इस सन्दर्भ में वे राजभक्ति बनाम राष्ट्रभक्ति के हिमायती के रूप में उभरकर सामने आती हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने ब्रिटिश सरकार के भी सकारात्मक पहलुओं को नजरान्दाज नहीं किया है। इसी प्रकार कथ्य के स्तर पर राजनैतिक और आर्थिक सन्दर्भ भी उनके यहाँ अवतरित होते हैं, इस क्षेत्र में भी उन्होंने चेतना धर्मिता का भी परिचय दिया है। अपने समय की राजनीति व अर्थनीति के प्रति उनकी चिन्ता इस बात का स्पष्ट संकेत देती है कि वे कहीं न कहीं, किसी-न-किसी प्रकार की परिवर्तनशीलता का पक्ष ले रहे थे। राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक सन्दर्भों के अतिरिक्त उनकी विषय-वस्तुगत ऐतिहासिकता को भी नजरान्दाज नहीं किया जाना चाहिए। उन्हें अतीत के प्रति झुका हुआ देखा जा सकता है। लेकिन, जहाँ पर उल्लेखनीय है कि वे अतीत के अंधेरे सन्दर्भों के हिमायती नहीं रहे, बल्कि भविष्य के प्रकाशवान सन्दर्भों की ओर अपनी दृष्टि गढ़ाए हुए हैं। उन्होंने ऐतिहासिक सन्दर्भों का आधार रीतिकालीन राजा महाराजाओं को ही चुना है लेकिन आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उन्हें देखने की कोशिश की है। इसी प्रकार जैसा कि पहले संकेत दिया जा चुका है कि पौराणिकता, धार्मिकता, एवं आध्यात्मिकता ने भी द्विजेन्द्र के साहित्य के वस्तु पक्ष को स्पर्श किया। धार्मिक रचनाओं के अन्तर्गत उनकी आस्था, श्रद्धा और विश्वास आदि को देखा जा सकता है। पौराणिक रचनाओं के माध्यम से उनकी परम्परावादी दृष्टि सामने आती है और भक्तिपरक रचनाएँ उनकी व्यक्तिगत आध्यात्मिकता चेतना का परिणाम हैं।

संदर्भ :

1. सं. पं. देवीदत्त त्रिपाठी, काव्य सुधाधर (त्रैमा.), षष्ट वर्ष, प्रथम प्रका., १९०१ ई. पृ. २९, रसिक यंत्रालय, कानपुर
2. सं. पं. देवीदत्त त्रिपाठी, काव्य सुधाधर (त्रैमा.), षष्ट वर्ष, प्रथम प्रका., १९०१ ई.

पृ. ३०, रसिक यंत्रालय, कानपुर
3. सं. पं. देवीदत्त त्रिपाठी, काव्य सुधाधर (त्रैमा.), षष्ट वर्ष, प्रथम प्रका., १९०१ ई. पृ. २९-३०, रसिक यंत्रालय, कानपुर
4. सं. पं. देवीदत्त त्रिपाठी, काव्य सुधाधर (त्रैमा.), द्वितीय वर्ष, दूसरा प्रका., १८९९ ई. पृ.३५, रसिक यंत्रालय, कानपुर
5. सं. पं. देवीदत्त त्रिपाठी, काव्य सुधाधर (मा.), पंचम वर्ष, तृतीय प्रका., १९०२ ई. पृ. ४५, रसिक यंत्रालय, कानपुर
6. सं. पं. देवीदत्त त्रिपाठी, काव्य सुधाधर (त्रैमा.), पंचम वर्ष, १०-११-१२ प्रका., १९०२ ई. पृ. ४५, रसिक यंत्रालय, कानपुर
7. सं. पं. देवीदत्त त्रिपाठी, काव्य सुधाधर (त्रैमा.), द्वितीय वर्ष, प्रथम प्रका., १८९८ ई. पृ. २४, रसिक यंत्रालय, कानपुर
8. सं. पं. देवीदत्त त्रिपाठी, काव्य सुधाधर (त्रैमा.), द्वितीय वर्ष, दूसरा प्रका., १८८८ ई. पृ. ७५, रसिक यंत्रालय, कानपुर
9. सं. ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रंथावली झ्र १, सं. २००६ वि. पृ. २३६, नागरी प्रचारिणी सभा काशी
10. डॉ. दयाशंकर शुक्ल, हिन्दी साहित्य को दत्त दविजेन्द्र की देन, १९७८ ई. पृ. १६६, राज्यश्री प्रकाशन, मथुरा
11. डॉ. दयाशंकर शुक्ल, हिन्दी साहित्य को दत्त दविजेन्द्र की देन, १९७८ ई. पृ. १६६, राज्यश्री प्रकाशन, मथुरा
12. डॉ. पुष्पा थरेजा, भारतेन्दुयुगीन साहित्य में राष्ट्रीय भावना, १९७८ ई. पृ. ५१, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
13. सुंदरलाल, भारत में अंग्रेजी राज, भाग झ्र २, १९६१ ई. पृ. ५७६, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा
14. सं. पं. देवीदत्त त्रिपाठी, काव्य सुधाधर (मा.), पंचम वर्ष, १२वाँ प्रका., १९०२ ई. पृ. १४-१५, रसिक यंत्रालय, कानपुर
15. सं. पं. देवीदत्त त्रिपाठी, काव्य सुधाधर (मा.), पंचम वर्ष, १२वाँ प्रका., १९०२ ई. पृ. १९ -२०, रसिक यंत्रालय, कानपुर

असोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
रामनिरंजन झुनझुनवाला कॉलेज,
घाटकोपर (प) - ४०००८६

समय से साक्षात्कार की कविताएँ

- प्रोमिला

बीसवीं सदी की हिन्दी कविता के उपसंहार और इक्कीसवीं सदी की कविता की भूमिका रूप में निबद्ध कात्यायनी की काव्य-यात्रा केवल वैचारिक दृष्टि, केवल विचारधारा नहीं वरन् एक वैचारिक उर्जा से भी रची-बसी हैं। बेशक मार्क्सवादी चिंतन से अर्जित जीवन दृष्टि और पत्रकारिता जगत के अनुभव उनके सौंदर्यबोध, आत्मिक संसार और सामाजिक, व्यक्तिगत जीवन को निर्देशित करते हैं, किंतु रेखांकित किया जाना चाहिए कि किसी संकीर्णता में बंधकर नहीं, बल्कि देखने, सुनने और जानने की गहन प्रक्रिया में दूरगामी तथा सूक्ष्म होकर। मनुष्य विरोधी किसी भी क्रिया से तर्क करते हुए कात्यायनी प्रत्यक्ष के पार देखती हैं। उसे कविता में पुकार का मिजाज बनाती हैं। व्यापक अर्थवत्ता के साथ मानव के शाश्वत मूल्यों की व्याख्या को लक्षित करती हैं और वैश्विक घटनाओं को ध्यान में रखकर प्रतिक्रिया देनेवाली ऐसी कवयित्री ठहरती हैं, जिनके काव्य संग्रहों- चेहरों पर आँच, सात भाइयों के बीच चम्पा (1994), इस पौरुषपूर्ण समय में (1999), जादू नहीं कविता (2002), 'राख-अंधेरे की बारिश में (2004), 'फुटपाथ पर कुर्सी' (2006),'एक कुहरा पारभासी' (2016) की कविताओं का सरोकार सघन, गहन और दृढ़ होता जाता है। करुणा और क्रोध की उदात्त लहरें, आधुनिक और उत्तर आधुनिक दुनिया का द्वंद्व, कालातीत परंपरा और स्वर्णिम भविष्य की जिद, कविताओं द्वारा जीने, लड़ने और पाने की ललक का नाम कात्यायनी के रूप में प्रत्यक्ष होता है। वह अपने विश्वासों, स्मृतियों और प्रतिरोधों, प्रतिमानों को अनुकूल भाषा और शैली का चुनाव करके वहाँ ले जाती हैं, जहाँ उनका नया मानस सृजन की गहन प्रक्रिया में है। कवि विष्णु खरे को यह रोचक प्रतीत होता है कि 'इस पौरुषपूर्ण समय में' की चौंतीस कविताओं के शीर्षक 'कविता' शब्द के साथ पूर्ण होते हैं। यहाँ जोड़ देना आवश्यक है कि इनमें पच्चीस से अधिक कविताएँमनुष्य को केंद्र बनाती हैं। कात्यायनी स्पष्ट लिखती हैं, 'राजनीतिक कर्म सामाजिक जीवन में संरचनात्मक बदलाव का अग्रणी कर्म है। इस रूप में उसके साथ कविता की आत्मा हमेशा विद्यमान रहनी चाहिए।' (कवि ने कहाःकात्यायनी, पृ. 6) परंतु साथ ही उनके मन में, कविता राजनीति को साधने के प्रयासों में सदैव सफल क्यों नहीं हो पाती? का सवाल भी बना रहता है। कभी-कभी तो तनाव इतना अधिक हो जाता है कि या तो सब कुछ बेसुरा-बेताल हो जाता है या फिर तार ही टूट जाते हैं और ऐसे में वह सहज रूप से लिखते जाने को ही केवल सुगम मानती हैं-

'दुनिया के तमाम देशों के तमाम आम लोगों तक
पहुँचेगी कविता
अलग अलग रास्तों से होकर
अलग अलग भेस में
और बताएगी उस सबसे सुंदर दुनिया के बारे में
जो अभी भी हमने देखी नहीं है।'

(कविता-यह वापसी महज बताने के लिए नहीं, इस पौरुषपूर्ण समय में, पृ.130)

आज के बहुतेरे कवि जहाँ प्रेम के बहाने देह-राग गाने, बिंब गढ़ने या भाषिक चमत्कार के लिए कविता रचने में लगे हैं। अधिकांश कवयित्रियाँ वैचारिक गहनता से परे स्त्री-जीवन की पीड़ा और त्रासदियों के घिसे-पिटे बयानों के मात्रात्मक विस्तार में रत हैं, कात्यायनी अपने लेख, 'नए खुशहाल मध्यवर्ग का विश्वासघात' में घोषित करती हैं, 'वाष्पीय, लोकोत्तर, धवल-निर्मल, सुगढ़ तराश और बारीक कतान की कविताओं की दुनिया मेरी नहीं। मैं ठोस खनिजों जैसी, जिंदगी की 'अकाव्यात्मक' परेशानियों जैसी, धमन भट्ठी के सामने खड़े मजदूर के चेहरे पर चमकती आंच जैसी कविताएं लिखना चाहती हूं।'[1] लेखन को जीने का एक ढंग, संघर्ष का एक रूप मानते हुए कात्यायनी आशाओं को भ्रमहीन, जगत को मिथ्याहीन, कविता को जादूहीन बता केवल 'पोएट' नहीं 'कमिटेड पोएट' होने का जोखिम उठाती हैं। कविता को मुक्तिबोध द्वारा दी 'आवेग त्वरित काल-यात्री' की संज्ञा से सहमति रखते हुए उसे बुरे समय के बारे में गाने की बात कहने वाले ब्रेख्त, कवि को जीवन में संलग्न, जीवन को संघटित करते एक नागरिक के रूप में स्वीकारने वाले नाजिम हिकमत, पर्चों, पोस्टरों यहां तक कि मिठाई के डिब्बों पर कविता की उपस्थिति चाहने वाले माइकोवस्की, कविता को इमोशनल जर्नी बताने वाले लोर्का और अपनी कविता में सदैव लोगों के हाथ देखने को अभिलाषित नेरुदा की परंपरा से जोड़कर जनता के संघर्ष का सहयात्री मानती हैं। दोनों की सहसंबद्धता को स्पष्ट करती हैं-

'जितनी जरूरत है
लोगों को जीवन की,
जीवन को मुक्ति की,
मुक्ति को युद्ध की,
युद्ध को कविता की,
उतनी ही जरूरत है कविता को
लोगों की, जीवन की, मुक्ति और युद्ध की।'
(कविता-जरूरत के बारे में बातें, जादू नहीं कविता, पृ. 72)

निःसंदेह समय, समाज से संबंध में कविता की अंतरंग अपरिहार्यता है जो उसे स्वभाव तथा आकार देती है परंतु यह कविता अस्तित्व की अनिवार्य शर्त है, वास्तविक मानव-जीवन-मूल्यवत्ता का एकमात्र आधार नहीं। कात्यायनी जानती हैं कि जीवन-संघर्षों से परे मात्र कविता में डूबे रहना खतरनाक होता है। 'हमेशा कविताओं के साथ रहना कभी-कभी/वास्तविक दुनिया से अलग भी कर देता है/ xxx सावधान रहना चाहिए कि/कविता लिखना कहीं/जीने और लड़ने का विकल्प न बन जाये।/हर त्रासदी पर कविता लिखना/अपने बुनियादी कर्तव्यों से मुंह चुराने की/एक कायरता भी हो सकती है।' (कविता-एकफैसला, फौरी तौर पर कविता के खिलाफ, कवि ने कहाः कात्यायनी, पृ.59) और कविता के भविष्य के प्रति आश्वस्त होने, उसे अधिक उन्नत बनाने हेतु कुछ समय के लिए कविताएं लिखना छोड़कर लोगों को राजनीतिक परिस्थितियों, सांस्कृतिक अभियानों, महंगाई-बेरोजगारी के बारे में चेताने, आंदोलन करने, सामाजिक यथार्थ के विषय में सीधे-सीधे बताने की यह सजगता कात्यायनी को आठवें दशक के

उन कवियों, जिनकी कविताएं पास-पड़ोस के जीवनानुभवों से पाठकों को एक तरह से विश्वास में लेकर वैचारिक प्रतिबद्धता की कुची के हल्के रंगों में अपनी बात कहती हैं, कि कतार में खड़ा करके भी एक अलग मंच देती है। नीलेश रघुवंशी के शब्दों में वे 'कविता की एक भरोसेमंद ललकार' बन जाती हैं।

विचारधारा की भांति इतिहास के अंत की भी घोषणाएं हुईं। इतिहास जो किसी के लिए अतीत-यात्रा का प्रस्थान बिंदु होता है तो किसी के लिए मुक्ति-पथ बनता है। सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों को इतिहास स्वर्णिम स्थल प्रतीत होता है। शोषित को इतिहास-बोध विवेक देता है कि वह दूसरों के अतिरंजित अतीत को अपना भविष्य मानने से इंकार कर दें। एक सजग कवि के लिए इतिहास बोध में वर्तमान, अतीत और भविष्य तीनों की परिकल्पना निहित होती है। कात्यायनी का विश्वास है कि 'इतिहास में दफ़्न हो रहा है/'इतिहास के अंत' का नारा।' (कविता इतिहास का अंत, जादू नहीं कविता, पृ.48) वह जानती हैं कि 'समय का इतिहास/सिर्फ रात की गाथा नहीं,' और फासीवादी ताकतें तर्क, विज्ञान या इतिहास-बोध के बारे में सोचने से डरती हैं क्योंकि इसके बिना ही उनका अस्तित्व है -

इतिहास-बोध का वजूद नहीं मिटा,
विज्ञान जला नहीं ब्रूनो के साथ,
झुका नहीं गैलीलियो के माफीनामे के साथ,
(कविता-वे नहीं सोचते, कवि ने कहाःकात्यायनी, पृ.55)

रामचंद्र शुक्ल ने घोषित किया था कि 'ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नये-नये आवरण चढ़ते जाएंगे, त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जाएगी, दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जाएगा।'[2] कविता की आवश्यकता और कवि कर्म की क्लिष्टता का आभास कात्यायनी में प्रत्यक्ष है। लीलाधर मंडलोई लिखते हैं, 'कविता शायद दो तरह से कागज पर आती हैं। एक, कविता खुद को लगातार दबाव में लिखवा लेती है, और उसमें लिखने का (सायास) भाव नहीं दिखता। दूसरे, तरह की कविता वह होती है जिसे पूरी तैयारी के साथ लिखा जाता है।' और कात्यायनी की कविता को इसी दूसरी श्रेणी में रखते हुए आगे कहते हैं, 'वे इतिहास के अंत, नव फास्-ीवाद, उत्तर आधुनिकता, स्त्री की त्रासदी, न्याय कुव्यवस्था, बाजारू उपनिवेशवाद और सांप्रदायिकता की कुछ सच्चाई से वाकिफ हैं। कवि के सामने उनके अन्य सक्रिय रूप इतने अधिक प्रभावी हैं कि एक कविता को जैसे संचालित करने लगते हैं।'[3] कात्यायनी की राजनीतिक प्रतिबद्धता रहस्यात्मकता के रंग नहीं वस्तुगतबोध और यथार्थवादी मुह-ावरे के जनतंत्र में उत्पीड़ितों के अधिकारों, सामाजिक न्याय की अवधारणा, विकल्प के स्रोतों की तलाश, धर्म-क्षेत्र, भाषा, नस्ल आदि पर आधारित सांप्रदायिक कट्टरता, मनुष्य विरोधी नृशंसता, सांस्कृतिक-साम्राज्यवाद और बाजारवाद का छल-छद्म, नवउदारवाद और भूमडंलीकरण के पाखंडी तिलिस्म तथा दुनिया के भविष्य का वास्तविक चेहरा गढ़ती है। 'सच के बारे में' 'एक सीधी-सादी छोटी-सी कविता' रचने की क्षमता वाली कला को मांजने की बात करती है।साम्राज्यवादी ताकतों के अमानवीय चरित्र पर उनकी कविता सवाल उठाती है। इन ताकतों की सामाजिक विधानों से नाभिनालबद्धता और

उसमें जी रहे आमजन की विवशता तथा बुद्धिजीवियों की भूमिका पर कटाक्ष करती है, 'और देवताओं जैसे संतुष्ट आलोचकों/और शब्दों की उत्तर-आधुनिक दुर्दशा/और खुश्चेवी समाजवाद की नियति/और पूंजीवाद के भूमंडलीकरण/और उसकी सांस्कृतिक परिणतियों/और टी.वी. और इंटरनेट/और युद्धों और शांतिवार्ताओं/और नई-नई व्यापार-संधियों आदि-आदि के बारे में/बहुत कुछ बताया नाज़िम को।' (कविता-यह वापसी महज भुगतने के लिए नहीं, कवि ने कहाःकात्यायनी, पृ. 63)

कात्यायनी की कविता में कहीं गहन, विक्षोभ तो कहीं व्यंग्य के रूप में नैतिक विकल्पता विद्यमान है और वह भी विवेक को सक्रीय करने वाली प्रश्नाकुलता की व्यंजना के साथ। यहां तक कि जिन बुद्धिजीवियों का कार्य सामाजिक हितों को विचारों में रूपांतरित करते हुए व्यवहारिक ज्ञान प्रक्रिया का द्वार खोलना होना चाहिए। जिन्हें सही मूल्य-मार्ग दशार्ना चाहिए वे किस प्रकार समझौतापरक हैं। मानसिक स्तर पर सचेत किंतु कर्म स्तर पर संकुचित हैं। जनता से जुड़ाव के अभाव में आत्मपरक बुद्धिजीवी होकर सर्व सत्तावादी व्यवस्था से गठजोड़ में हैं, कात्यायनी उनके दायित्वों और स्वार्थसंचित भूमिका को सहज भाषा में बिना लागलपेट के अभिव्यक्ति देती हैं,'बीस रुपये रोज के नीचे जीने वाली 70 प्रतिशत आबादी/और लाखों किसानों की आत्महत्याओं और करोड़ों/कुपोषित बच्चों के बारे में सोचने-बोलने-लिखने वाले/अर्थशास्त्री-समाजशास्त्री ऊंचे संस्थानों और एनजीओ में/बिराजे हुए धनी मध्यवर्गीय अभिजन बन चुके हैं।' (कविता-भय, शंकाओं और आत्मलोचना भरी एक प्रतिकविता, एक कुहरा पारभासी, पृ.57) वर्तमान ही नहीं भविष्य पर भी आधिपत्यवादी ताकतों का पहरा है। शिशु जो दायित्वबोध और क्रांति की आशा और प्रतीक होते हैं, ये शक्तियां उस भविष्यगत क्रांति-बीज को भी निशाना बनाने से नहीं चूकती हैं, 'जीवन के प्रति अविश्वास,/ और आत्मविश्वासहीनता से/बूंद-बूंद भरते हुए बच्चे/झुकना सीख रहे हैं।/बच्चों को कातर न बनाया जाए/तो चुनौती बन जाते हैं/बच्चों को कातर बनाया जा रहा है। (कविता-प्रार्थना, जादू नहीं कविता, पृ.105) वर्चस्ववादी तंत्र दमन के लिए हर हथकंडा अपनाता रहा है। फासीवाद और उसका भारतीय संस्करण सांप्रदायिकता जो कि एक राजनीतिक योजना है, धार्मिक समुदायों को विवेकहीन, संवेदनशून्य बना, देश के किसी समुदाय विशेष को क्षुद्र स्वार्थों के परवश लोगों की चेतना में स्थायी शत्रु का दर्जा दे देती है। बहस और संवाद के सारे रास्ते बंद हो जाते हैं। विश्वास, भावना तथा परंपरा के नाम पर समाज के आलोचनात्मक विवेक को अवरुद्ध कर कट्टरता को इस स्तर तक भड़काती है कि सांप्रदायिक उन्मादी गर्भवती स्त्रियों के पेट चीरकर भ्रूण तक को मिटाने, सबसे निरीह, सबसे बेबस, सबसे मासूम और सबसे आम लोगों पर हमला बोलने हेतु व्यग्र रहते हैं। मंगलेश डबराल जिसे 'गुजरात के मृतक का बयान', नीलेश रघुवंशी 'देखते हैं अब' में बेर्पदा करते हैं, 'गुजरात-2000' में बर्बर सत्ता द्वारा प्रायोजित उसी नरसंहार को मात्र घटना नहीं भारत में फासीवाद की ऐतिहासिक यात्रा में एक मील का पत्थर मानते हुए कात्यायनी कवि-मन की दुर्निवार नैतिक विकलतावश कविता रचती हैं, 'यहीं पैदा हुए हैं ये आक्रांता।/इनके कुछ सरगना जब संसदीय मुखौटे लगाकर तलवे चाटते हैं/वाशिंगटन-लंदन-टोक्यो-बर्लिन-पेरिस के अधिपतियों के/तो इन्हीं में से कुछ

सजाकर 'स्वदेशी राग' गाने लगते हैं/और तभी, इनके शस्त्र संचित गिरोह को राष्ट्रीय गौरव की स्थापना के लिए/सबसे निरीह, सबसे बेबस, सबसे मासूम और सबसे आम लोगों पर हमला बोल देते हैं/और नये-नये ऑशवित्ज रचते हैं।' (कविता- गुजरात 2002 (एक), कवि ने कहाःकात्यायनी, पृ.112)

यद्यपि सुमन राजे इनकी अधिकांश कविताओं को बयानबाजी पर आधारित करार देती हैं[4] और कात्यायनी भी कुछ कविताओं को 'कवितानुमा वक्तव्य या चर्चा' मान लेने की बात स्वीकारती हैं पर वह जीवन की संश्लिष्ट गद्यात्मकता को संजोने की शक्ति रखती हैं, कविता को समाजशास्त्र बनाना जानती हैं। सीधी, सहज भाषा में यहां एक खास ढंग का आवेग, भावुकता और तनाव है, जो भाषा को अलौकिक या अंतमुर्खी नहीं बनाता, बल्कि 'यथार्थ के काव्यात्मक अवबोध की शक्ति' तथा मानव के 'मुक्ति-स्वप्नों को पंख' देता है। एकार्थी सपाट गत्यात्मक विवरण शैली में सीधे-सीधे व्यवस्थाओं, घटनाओं की पड़ताल करते हुए कविता संवाद करती है। अभिधा से व्यंजना की काव्यात्मक शक्ति और अर्थ समृद्धि की कविता बनती है। 'एक बगावती प्रार्थना', 'नये रामराज्य का फरमान', 'आस्था का प्रश्न, जैसी कविताएं धर्म और निष्ठा के खोखलेपन को उजाकर करती हैं। 'नयी ईश-वंदना' का तीव्र कटाक्ष लक्ष्यभूत पाठक को झिंझोंड़ देता है।

मुक्तिबोध ने मार्क्सवादी विचारधारा को साहित्यिक शब्दावली में 'संवेदनात्मक ज्ञान' नाम देकर 'बरगद' के प्रतीक में ढाला था। हालांकि कात्यायनी की कविताओं में वैसा कोई निश्चित प्रतीक नहीं उभरता पर इस समझ के साथ एक द्वंद्वात्मकता का स्वरूप अवश्य लक्षित होता है कि 'द्वंद्वमुक्त सोच होगी द्वंद्वयुक्त जीवन में/या सोच का द्वंद्व मुक्त होगा/जीवन के द्वंद्व से।' (कविता-सुसंकृत, भद्र और जिम्मेदार नागरिक होने के बारे में कुछ उद्दण्ड गैरज़िम्मेदाराना विचार, कवि ने कहाःकात्यायनी, पृ.68) और इसकी बानगी आकार में छोटी 'जादू नहीं कविता' संग्रह की 'दस और शीर्षकविहीन कविताएं' में उभरती है। बाजारवाद, पूंजीवाद की नवीन व्यवस्था में छीजते सादा-सरल संबंधों की संवेदनाओं के बरकस स्वार्थों, समीकरणों, समझौतों पर रचे जाते रिश्तों के सच का बयान 'दो मित्र थे' में आता है। तकनीकी विकास और प्रकृति के द्वंद्व युद्ध को अनदेखा, अनचिन्हा करने की चर्चा 'दो योद्धा थे' में होती है। 'स्त्री विमर्श' में बुर्जुआ स्त्रियों और सर्वहारा स्त्रियों की जीवनगत दृष्टि-भिन्नताएं 'दो स्त्रियों थीं' में आकार पाती हैं। समाज में पसरी उच्च संस्कृति (हाई ट्रेडीशन) और निम्न संस्कृति (लो ट्रेडीशन) के मध्य की संवादहीनता 'दो भाषाएं थी' की विषय वस्तु बनती है। प्रभावशाली वर्ग, उसके शोषण के विभिन्नमानसिक, शारीरिक,धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक उपकरणों के दबावों में वास्तविक सच के आमजनों के मनों में दबे रहने और सत्ता के निजी स्वाथार्नुसार गढ़े सच के प्रचारित, प्रसारित होने की विडंबना 'दो सच थे' में प्रकट होती है। इसी क्रम में बीते कल और आने वाले कल के बीच फैली रात में सर्वहारा वर्ग द्वारा जीवन व्यतीत करने की विसंगति का आईना 'दो दिन थे' कविता बनती है-

'दो दिन थे ।
उनके बीच एक रात थी

ठीक वैसी ही
जिसमें हम जी रहे हैं।'
(कविता-दो दिन थे, जादू नहीं कविता, पृ. 59)

साहित्यिक जगत का द्वंद्व अंततः अंतिम दो कवियों के भी सत्ता द्वारा पुरस्कृत होने पर कविता में आमजन की विश्वास समाप्ति के कटु सत्य को अंकित करती 'दो कवि थे' में अंतर्भूत होता है और सभी चिंतनों, विमर्शों से सर्वथा असंपृक्त राजनीतिक आलोचकों के बनिस्पत सच्चे आलोचक का स्वरूप 'दो आलोचक थे' में व्याख्या पाता है। इन कविताओं से स्पष्ट है, कात्यायनी द्वंद्व को सीधी सरल कार्यवाही नहीं मानती हैं। द्वंद्वात्मकता को तर्क में बदल वह अपनी काव्य-कला को निखारती हैं।

इसी प्रकार 'स्त्री-कविता' के प्रश्न पर हालांकि कात्यायनी कहती हैं कि 'मेरी ऐसी कविताओं की संख्या बहुत कम हैं, जो मुख्यतः स्त्री पर केंद्रित हैं।'[5] पर उनकी कवि-प्रतिबद्धता का यह छोर स्त्री-संसार की अंतर्ध्वनियों, अनुगूंजों से पूरित है। स्त्री यहां जेंडर आइडेंटिटी के आगे सर्वहारा वर्ग से जुड़कर वृहत्तर नागरिक एवं मानव-अस्मिता, अस्तित्व को चिन्हित करती है। पूंजीवाद के प्रत्यक्ष, परोक्ष चक्रव्यूहों के विरुद्ध लड़ी जा रही लड़ाई में वर्गचेतना के साथ अपनी स्वतंत्रता को तलाशती है। पुरुष का विरोध ना करके पुरुषस्वामित्ववादी समस्त सामाजिक-सांस्कृतिक वर्चस्ववाद के प्रतिपक्ष में खड़ी होती है। स्त्री-अंतर्जगत और बहिर्जगत की विद्रूपताओं, विडंबनाओं, त्रासदियों, अंधेरों-उजालों, प्रेम-घृणा, शोषण-उत्पीड़न आदि को इन कविताओं में बिना विभ्रमों के अंकन मिलता है। मंगलेश डबराल का कथन, 'कात्यायनी नारीवाद और मार्क्सवाद के बीच एक जटिल रचनात्मक रिश्ता कायम करती हैं,' यहां सार्थकता पाता है। 'स्त्री का सोचना एकांत में', 'अपराजिता,' 'नहीं हो सकता तेरा भला', 'सिटकनी', 'दाहक जीवन दाह', 'वह रचती है जीवन', 'चैन की एक सांस', 'भाषा में छिप जाना स्त्री का' आदि कविताओं में स्त्री-जीवन की चौहदियों से कात्यायनी लगातार टकराती हैं। यहां तक कि उनके काव्य-लेखन का आरंभ ही 'गार्गी' की निषेध और निर्देश-शैली में मनुष्य का जीवन मिलने पर भी मनुष्य-सा जीवन न मिलने की स्त्री-व्यथा से होता है तो 'स्त्री का दुख', में उसके 'सिंकने,/सीझने, पकने के बीच/झेलने का हुनर।/ सहस्त्राब्दियों का इतिहास।' (कविता-स्त्री का दुःख, फुटपाथ पर कुर्सी, पृ.86) रूप में बताया जाता है। 'सात भाइयों के बीच चम्पा' मृत्यु की प्रतिछाया में स्त्री की अपराजेय, उत्कट सर्वव्यापी जिजीविषा को व्यंजना देती है। ऐतिहासिक प्रवचनों के मध्य देह की राजनीति के बरक्स स्वत्व के निर्माण की चिंता के क्रम में नगरवधू प्रार्थना करती है, 'अब मैं जीवित होना चाहती हूं दुर्गपति,/मुझे जाने दो/ मैं अपनी पहचान तक जाना चाहती हूं।' (कविता-एक भूतपूर्व नगरवधू की दुर्गपति से प्रार्थना, इस पौरुषपूर्ण समय में, पृ.64) बंधनों में जीती स्त्री की स्वतंत्रता के अनुभव संवेदनों का एक अन्य पाठ 'हॉकी खेलती लड़कियां' रचती हैं। पारिवारिक मूल्यों के मध्य, 'औरत क्या एक घर के बिना भी हो सकती है/या फिर क्या कोई और भी चौहद्दी हो सकती है/सुखपूर्वक रहने-खाने-जीने के लिए/घर के अलावा/जिसमें रहते हुए औरत-औरत बनी रहे और घर-घर भी बना रहे' (कविता-औरत और घर, इस पौरुषपूर्ण समय में, पृ.69) का सवाल स्त्री

और घर की फांक का द्योतक तथा परंपरागत संस्थाओं के बदलाव की आवश्यकता का संकेतक बनता है। स्त्री-देह से जुड़ी वैश्विक वर्जनाओं का प्रतिकार 'देह न होना' नामक छोटी-सी कविता में नये मूल्य-बोध के साथ आता है। 'इस स्त्री से डरो' में उसकी नयी परिवेशगत सचेतना का खुलासा होता है। समाज-विधान की जकड़नों के बीच स्त्री 'वह रचती है जीवन और..' में मन्थन करती है कि 'वह कौन-सी चीज है/जिसके बिना सब कुछ अधूरा है/प्यार भी, सौन्दर्य भी/मातृत्व भी../सोचती है वह/और पूछती है चीख-चीखकर।/प्रतिध्वनि गूंजती है/घाटियों में, मैदानों में/पहाड़ों से, समुद्र की ऊंची लहरों से टकराकर/आजादी! आजादी!! आजादी!!!।' (कविता-वह रचती है जीन और.., सात भाइयों के बीच चम्पा, पृ.32) कहना होगा कि स्त्री का एकांत में सोचना या सब कुछ जानना या भाषा में छिप जाना कात्यायनी के यहां बदलाव का सूचक बनता है। स्त्री-संसार की संगुफित संवेदनाओं तथा छोटे-छोटे कार्यव्यापारों में कविता देख और खोज पाने में वह सफल रहती हैं। कल की विकलता और आज के बेचैन आवेग से जन्मी मुठभेड़ आनेवाले बेहतर कल की पदचाप को स्वर देती है।

कात्यायनी कुछ कविताएं व्यक्तियों पर भी लिखती हैं, किंतु वह राजनीतिक पात्रों या पात्रों की आड़ में घटनाओं मात्र की नहीं, पाब्लो नेरुदा या मुक्तिबोध की तरह राजनीतिक मूल्यों की कवि हैं। अतएव 'भगतसिंह के लिए एक गद्यात्मक सम्बोध-गीति', 'मुक्तिबोध के लिए', 'गोयबल्स 1994', 'कुर्स्क' के कैप्टन की अन्तिम चिट्ठी पत्नी के नाम' जैसी कविताएं केवल संस्मरणात्मक दायरे में सीमित न होकर व्यापक यथार्थ-बोध के पटल पर अंकित होती हैं। अंतर्विरोधों, प्रतितर्कों, अनिश्चितताओं और संदेशों को मिटाने या हटाने का प्रयास कात्यायनी नहीं करती, न ही उनकी कविताएं इनसे किनारा करती हैं, बल्कि वे इनके भीतर से राह तलाशती हैं। पोलिश कवि जेसला मिलोस ने कहा था, 'एक कमरे में जहां लोग चुप्पी की साजिश बनाए रखते हैं, सच्चाई का एक शब्द पिस्तौल की गोली की तरह लगता है।'[6] उम्मीद और नाउम्मीद के बीच कात्यायनी की कविता जीवट और जुझारूपन दर्ज करती है। महत्वाकांक्षी, अवसरवादी, आत्ममुग्ध और सुविधा के नियमों से परिचालित समय, समाज में अपनी वास्तविक अस्मिता, संघर्षशील और समझौताविहीन भूमिका के साथ भविष्य के लिये आश्वस्त करती है। पहले 'ऐसा किया जाये कि..' कविता में 'चुप्पी की दुनिया को', 'बारूदी सुरंगें बिछाकर' उड़ा देने की बात कहती है। फिर एक कदम आगे बढ़कर, 'मनुष्यता की रक्षा के लिए/कहना नहीं, सहना तुरंत बंद कर देना होगा' (कविता-सहना, इस पौरुषपूर्ण समय में, पृ.84) का आ'ान करते हुए घोषित करती है, 'कल भी रक्त बहेगा सड़कों पर/लेकिन पिघले हुए लावे की तरह।/कल भी घर जलेंगे/लेकिन विद्रोह की तरह।' (फुटपाथ पर कुर्सी, पृ.52) वस्तुतः जैसे-जैसे शक्तियों की निरंकुशता का दबाव बढ़ता है कात्यायनी की आश्वस्तता गहन होती जाती है-

'लोग जिनसे शब्दों के अर्थ छीने जा रहे हैं
लोग जिनकी कल्पनाओं को गिरफ्तार किया जा रहा है,
वे पूरी दुनिया में एक-दूसरे के
करीब आएंगे जरूर

क्योंकि उनकी तकलीफों की साझेदारी
अब ज्यादा से ज्यादा साफ होती जा रही है'

(कविता-यह वापसी महज भुगतने के लिए नहीं,नकवि ने कहाःकात्यायनी, पृ.64)

यही गहनता कात्यायनी की कविता में एकालाप नहीं, सार्थक संवाद का रूप निर्मित करती है। और संवाद सार्थक वहीं होता है, जहां सीधे साक्षात्कार हो, कोई संशय न हो। कात्यायनी की काव्य-दृष्टि में कोई दुविधा, कोई असमंजस नहीं है और इसीलिए कविता की संवादधर्मिता में न शब्दों का इकहरापन है, न हकलाहट। कात्यायनी विचार से सरलता का सौन्दर्यशास्त्र रचती हैं तथा सरलता को उस सरलीकृत बयानबाजी से भी बचाती हैं, जिससे कविता का अर्थ-गौरव विनष्ट होता है।

संदर्भ-

1. कात्यायनी, 'नए खुशहाल मध्यवर्ग का विश्वासघात नवभारत टाइम्स, 4 मार्च, 2014
2. रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि, पहला भाग, इंडियन प्रेस पब्लिकेशन, 1957, पृ.138
3. लीलाधर मंडलोई, कविता का तिर्यक,मेधा बुक्स, प्र.सं.2003 पृ.112, 113
4. सुमन राजे, आधा इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, दू.सं. 2006, पृ.279
5. रेखा सेठी, स्त्री कविता : पहचान और द्वंद्व-भाग दो, राजकमल प्रकाशन, 2020, पृ.47
6. नोबेल विज्डमःद 1000 वाइजस्ट थिंग्स ऐवर सेड, डेविड प्रैट, 2008, पृ. 81

एसोसिएट प्रोफेसर,
हिन्दी विभाग,
अंग्रेजी एवं विदेशी भाषा विश्वविद्यालय,
हैदराबाद-500007

संत रविदास : आस्था और विश्वास के कवि

प्रो. चंद्रकांत सिंह

भक्तिकाल संक्रमण का काल है, इस काल में शास्त्र और लोक, वेद और जन में द्वंद्व दिखता है। इस दौर में सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि से भारत पतन की ओर अग्रसर हो रहा था। मुस्लिम आक्रमण के साथ इस दौर में जो दुर्व्यवस्था दिखाई देती है, उसमें आम आदमी के लिए कहीं कोई जगह नहीं है। सत्ता के दमन और अत्याचार से आम आदमी इस तरह परेशान था कि उसकी स्थिति दयनीय जान पड़ रही थी,संत रविदास ऐसे सामंतीय समय में हुए। उन्होंने अपने व्यक्तित्व से समाज में रोशनी पैदा करने का काम किया। उनकी कविताओं में जहाँ एक ओर तत्कालीन शासनकी प्रतिछाया दिखती है, वहीं उनकी कविताओं में सामान्य आदमी के लिए चिंता और तड़प भी दिखती है। अपनी कविताओं के माध्यम से उन्होंने जन-जागृति पैदा करने की कोशिश की। उनकी कविताओं को व्यापक जनजागरण की कविता कहा जा सकता है, किन्तु इस जागृति में रविदास सर्वप्रथम स्वयं को जागृत करते हैं और अपूर्वविश्वास के साथ खुद का निर्माण भी करते हैं। उनकी कविता के संबंध में ब्रह्मजीत गौतम का कथन अत्यंत महत्वपूर्ण है। संत रविदास जी के युगप्रवर्तक व्यक्तित्व पर बात करते हुए वह कहते हैं कि- 'कवि और साहित्यकार कालजयी होते हैं। वे युग प्रवर्तक भी कहे जाते हैं। कवि केवल अपने युग के लिए नहीं लिखता, भविष्य के लिए भी प्रेरणा देने का कार्य करता है। यदि किसी कवि में अपने युग- जीवन के लिए ईमानदार संवेदनशीलता है, यदि वह सच्चे अर्थों में मानव -जीवन का कवि है, तो वह युग-युग तक मानव जाति के लिए प्रेरक और प्रासंगिक बन जाता है। संत रैदास ऐसे ही युग कवि थे, जो काल की सीमाओं को लांघ कर आज भी समाज और देश के लिए प्रासंगिक बने हुए हैं।'[1]

एक ऐसे समय में जब हिन्दू समाज मुस्लिमों के विरोध का सामना कर रहा था, वहीं इस समाज में बहुत सारे ऐसे लोग भी थे, जो हिन्दू होकर भी हिन्दुओं में नफरत के बीज बो रहे थे। रैदास इन विभाजक शक्तियों के प्रति सचेष्ट थे, यही कारण है कि उनकी कविताओं में सामाजिक वर्चस्व को पाटने का अविरल प्रयास दिखाई देता है। एक संत के रूप में रविदास जी ने सदैव विनम्रता का परिचय दिया। उनकी कविता को सदाशयी कविता कहा जा सकता है, जिसमें सभी के लिए जगह है। वह भाई-भाई में राग का संचार कर उन्हें एकजुट करना चाहते हैं। सभी विचारों से परे उनकी कविता को कर्मशील हृदय की कविता कहा जा सकता है, जहाँ मात्र एक ही अनुगूँज है और वह है दायित्वों के निर्वहन की। आचार्य पृथ्वी सिंह आजाद ने रैदास जी के व्यक्तित्व पर बात करते हुए सही कहा है कि- 'सतगुरु रविदास की वाणी में कटुता नहीं, अपितु मधुरता और विनम्रता है। उन्होंने न तो किसी पर कठोर आक्षेप किए और न व्यंग्य। वे कबीर के समसामयिक तो थे, परंतु उन्होंने कबीर की भाषा का प्रयोग नहीं किया।वे मधुर स्वभाव के सच्चे, वैष्णव, अहिंसक, निराभिमानी परम संत थे, जिन्होंने अनेक कठिनाइयों को सहकर भी भगवत- भक्ति का रास्ता नहीं छोड़ा और परिश्रम से अपनी रोजी-रोटी कमाई, साधु-संतों की सेवा की औरऐसे समाज की स्थापना के लिए जीवन भर संघर्ष करते रहे,

जहाँ सबको समानता, आत्मिक शांति और सुख मिल सके।'[2]

संत रविदास जी का जन्म चर्मकार परिवार में हुआ था। मरे हुए जानवरों की खाल से आजीविका चलाना उनका पेशा था, किन्तु कभी उन्होंने इस कार्य को हेय नहीं समझा। चमड़ा सिलते हुए वह कभी भी हीन-भावना के शिकार न हुए, बल्कि अपने काम को लेकर उनमें एक अलग ही तरह के गर्व का बोध था। आज के समय में जब आदमी आलस्य,प्रमाद के वशीभूत हो अपने दायित्वों से किनारा कर रहा है। रविदास जी का जीवन और कर्म उसे समुचित दिशा दे सकने में सक्षम है। संत रविदास जी के समय जाति-पांति की भावना बहुत गहरे समाज को प्रभावित कर रही थी। समाज का हर आदमी जाति के दलदल में गहरे धँसा जा रहा था। जाति के व्यामोह में उलझे हुए भारतीय समाज को संत रविदास जी ने न केवल प्रेरणा देने का काम किया, बल्कि यह भी बताने का काम किया कि व्यक्ति की पहचान उसके काम से होती है। शेष सभी चीजें पीछे छूट जाती हैं केवल व्यक्ति का कर्म ही समादृत होता है। जब जातिवादी शिविरों का तीखा आघात पूरे भारतीय समाज को प्रभावित कर रहा था, संत रविदास जी ने निम्न जातियों के मन में दुःख और अवसाद की बजाय एक गहरा विश्वास पैदा करने किया। उनका मानना था कि सभी मनुष्य राम की संतानें हैं फिर कोई छोटा और कोई बड़ा कैसे हो सकता है? प्रभु की निगाह में तो सभी बराबर हैं, फिर चिंता और ग्लानि का कोई अर्थ भी नहीं है। संत रविदास जी ने सभी जीवों में विद्यमान परमात्मा का हवाला देते हुए सभी प्राणियों को प्रेम करना सिखाया। यह प्रेम और सौहार्द्र का भाव ही उनकी कविता का मूल पक्ष है। उनकी कविता पर बात करते हुए धर्मपाल मैनी जी कहते हैं कि- 'रैदास के जीवन की सबसे बड़ी गरिमा यह थी कि उन्होंने तथाकथित चमार- जाति में जन्म लिया था और जीवन -भर आंतरिक नैतिक बल और स्वाभिमान से अपने चमारत्व को उद्घोषितकरते रहे। उदात्त मानवीय संवेदना से अनुप्राणित होने के कारण उन्होंने अपनी जाति की हीनता- ग्रंथि को उखाड़ फेंकने के लिए जिस शक्ति, सौंदर्य और अदम्य साहस का परिचय दिया है वह अभिनंदनीय है। सारे समाज से उपेक्षित होकर भी वे उपेक्षित न रहे। इसका मूल कारण यही था कि उनके पास आस्था और विश्वास का बल था, जिसके सामने आडंबरवादी थोथा ब्राह्मण समाज टिक न सका।'[3]

संत रविदास जी किसी भी तरह की पराधीनता के पक्ष में न थे। हर प्रकार के विभेद का प्रतिकार करते हुए संत रविदास जी एक ऐसी व्यवस्था चाहते थे, जहाँ सभी का यथोचित सम्मान हो, जहाँ कोई भी प्राणी भूखा न रहे, बल्कि सभी को खाने के लिए अन्न और पहनने के लिए वस्त्र मिले।

अपनी कविताओं में सभी के प्रति एक-सा भाव रखने वाले रविदास जी लिखते हैं कि-

'पराधीनता पाप है, जान लेहु रे मीत।
'रविदास' दास पराधीन सों, कौन करै है पीत।।
पराधीन को दीन क्या, पराधीन बेदीन।
'रविदास' दास पराधीन कौ, सबही समझै हीन।।
ऐसा चाहौं राज में,जहाँ मिले सबन कौ अन्न।

छोटे-बड़ो सभ सम बसैं,'रविदास' रहै प्रसन्न।।'[4]

संत रविदास जी इस सांसारिक व्यामोह से निकलने का उचित मार्ग प्रभु भक्ति को मानते हैं। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि जब शिष्य का मिलन गुरु से होता है, तब गुरु के द्वारा शिष्य को जो ज्ञान दिया जाता है, उससे ब्रह्म की प्राप्ति होती है। संत रविदास जी ने एकमात्र प्रभु से प्रेम किया, यही कारण है कि सांसारिक भव-बाधा आदि का उन्हें रंचमात्र का भी भय नहीं रहा। वह अपनी कविताओं में बारम्बार यह कहते हुए जान पड़ते हैं कि इस संसार में ब्रहम की ही वास्तविक सत्ता है, ब्रहम के बिना सब असार है। वह अपनी कविता में लिखते हैं कि जिसका मन सांसारिक वासनाओं आदि में लगा हुआ है, उसका मानुष जन्म अकारथ है, यही कारण है कि वे स्वयं और जीव मात्र से आग्रह से करते हैं कि राम के नाम की ओट लें, जिनकी ओट मात्र से सभी पाप नष्ट हो जाते हैं -

'ताकौ जनम अकारथ कहिए।
विसयन रतु संसा भ्रमु अटक्यो, भंवर कंद मंहु रहिए।
जग मंह रहहु कंवल जल जइसे, गुरु चरनां चित रहिए।
आसनु छांड़ि द्रिदु आसन, बैइठि राम नांव लिव लइए।'[5]

मनुष्य की बड़ी विशेषता है कि वह स्वयं को बहुत तार्किक और ज्ञानी समझता है, उसे लगता है कि सांसारिक भोग से वह सब कुछ अर्जित कर सकता है। संत रविदास जी सांसारिक प्रगति को मिथ्या समझते हैं, उनका मानना है कि विषय भोग से मनुष्य छूटता नहीं है, बल्कि सांसारिक माया-जाल में और अधिक बंधता चला जाता है। हर प्रकार के बंधन और पकड़ का हाल प्रभु का नाम है, यही कारण है कि रविदास जी कई जगह मुखर होकर कहते हैं कि राम के बिना सांसारिक स्वाधीनता प्राप्त करने का जो भी जतन किया जाएगा वह बेमानी होगा। उनकी स्पष्ट धारणा है कि राम के आश्रय से सभी प्रकार की व्याधियों से मुक्ति मिलती है। वह कहते हैं-

'राम बिनु संसय गाँठि न छूटै।
काम किरोध लोभ मद माया,इन पंचनि मिलि लूटै।।
हम बढ़ कबि कुलीन हम पंडित, हम जोगी सन्यासी।
ज्ञानी गुनी सूर हम दाता, याहु कहे मति नासी।।
पढ़े गुने कछूसमुझि न परई, जौं लौं भाव न दरसै।
लोहा हिरन होइ धौं कैसे, जौ पारस नहिंपरसै।।'[6]

संसार में रहते हुए प्रायः व्यक्ति मूर्छा में जीते हैं और इस मूर्छा को बनाये रखने हेतु मदिरा का सेवन भी करते हैं। संत रविदास जी का मानना है कि सांसारिक मदिरा क्षणिक होती है, जो व्यक्ति को मदहोशी तो देती है, किन्तु व्यक्ति की स्वायत्तता छीन लेती है। संत रविदास जी का मानना है कि एक ऐसी मदिरा का सेवन करना चाहिए जिसके पीने के बाद कुछ और पीने की चाह न रहे। सभी चाह को निस्सार कर जो अचाह के जगत की ओर ले जाए वह कर्म आवश्यक है। एक तरह से कहें, तो संत रविदास जी प्रभु के अनिमिष भजन, स्मरण को ही महत्वपूर्ण मानते हैं। इस संदर्भ में उनकी स्पष्ट मान्यता है कि-

'रविदास' मदुरा का पीजियै, जो चढ़ै-चढ़ै उतराय।
नांवमहारस पीजियै, जो चढ़ै नांहि उतराय।।
एक बूंद सौंबुझिगई, जनम जनमकी प्यास।
जनममरनबंधन टूटई, भये 'रविदास' खलास।।'[7]

संत रविदास जी निर्गुण ब्रहम पर अथाह विश्वास रखते हैं। उनका मानना है कि प्रभु सारी विपत्तियों को दूर करने वाले हैं। उनके निर्गुण प्रेम के संदर्भ में रामसजन पाण्डेय कहते हैं कि- 'संत रैदास का भी परमतत्व निर्गुण ही है, लेकिन वह भी प्रेम-निरपेक्ष न होकर, प्रेम -सापेक्ष है। वह चिंतामणि है तथा भक्ति से भीज, पसीज तथा रीझ उठता है। वह परमतत्व गरीब निवाज है, ऐसा कवि का निष्कंप मत है।'[8]

एक ऐसे समय में जब धर्म की आड़ लेकर आडम्बर फैलाया जा रहा था। पंडित-मौलवी आदि के द्वारा अध्यात्म की नित नई व्याख्याएँ हो रही थीं। संत रविदास जी की कविता राम पर अविचल भरोसा पैदा करती है। उनकी कविता में एक अपूर्व सादगी है, जो विरली ही कहीं देखने को मिलती है। उन्होंने किसी भी स्थिति में प्रभु स्मरण को नहीं छोड़ा। यही कारण है कि उनकी कविताओं में आस्था और विश्वास का स्वर है। उन्हें किसी से भी प्रीति नहीं है, उनकी एकमात्र प्रीति प्रभु से है। प्रभु से मिलन को लेकर जहाँ वे उदग्र हो उठते हैं, वहीं उनकी याद में जार-जार रोना उन्हें एक अपूर्व सुख भी देता है। अत्यंत भाव में डूबे हुए वह प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि किसी भी विषम स्थिति में प्रभु उन्हें विस्मृत न करें। समाज की निंदा या स्तुति से उन्हें कोई लेना-देना नहीं है। उनकी भक्ति उच्चकोटि की है, जहाँ एक मात्र यदि किसी से उम्मीद है तो वह प्रभु हैं, जिनकी याद मेंसंत रविदास अहर्निश लगे रहते हैं। तभी तो प्रभु प्रेम में उन्मत्त होकर वह कहते हैं कि-

'रामा हो जगजीवन मोरा।
तूँ न बिसरि राम मैं जन तोरा।।
संकट सोच पोच दिन राती।
करमकठिन मोरी जाति कुजाती।।
हरहु बिपति भावै करहु सो भाव।
चरन न छाड़ौ जाव सो जाव।।
कह रैदास कछु देहु अलंबन।
बेगि मिलौ जानि करौ बिलंबन।।'[9]

संत रविदास जी की कविताओं को पढ़ते हुए यह कहा जा सकता है कि उनकी कविताओं में ईश्वरीय प्रेम के साथ मानवीय आस्था के स्वर हैं। गाहे-ब-गाहे अपने आचरण की पवित्रता एवं कर्म की श्रेष्ठता के द्वारा वह यह बताना चाहते हैं कि मनुष्यत्व की प्राप्ति ही सबसे बड़ी पूंजी है। और यह मनुष्यता किसी जाति विशेष में पैदा होने से नहीं मिलती। मनुष्य तब तक अज्ञानी और मिथ्याचारी रहता है, जब तक उसके जीवन में गुरु और परमात्मा का आना नहीं होता। यही वजह है कि संत रविदास जी गुरु और परमात्मा दोनों की प्राप्ति को मनुष्य का ध्येय मानते हैं। इनके आने से हर तरह की जड़ता छँटती है और मनुष्य निराभिमानी बनता है।

संत कवि के रूप में उनकी कविता का उद्देश्य अपनी बात को भावकों तक पहुँचाना और वाहवाही लूटना बिलकुल नहीं है। बल्कि उनकी कविता को शोषणचक्र में पिसते हुए मनुष्यों को बाहर निकालने का प्रयास कहा जा सकता है। संत रविदास जी यह प्रयास पूरी तन्मयता से करते हैं। वे 'बेगमशहर' नामक शहर की परिकल्पना करते हैं, जहाँ हर व्यक्ति बराबर है किसी को भी किसी भी प्रकार का दुःख एवं भय नहीं है। इस तरह हम देख सकते हैं कि वे एक आदर्श राज्य की कल्पना करते हैं जहाँ सुख-दुःख, हर्ष-विषाद की छायाएँ न हों बल्कि प्राणी मात्र के लिए खुशी और सम्मान की भावना हो।

संत रविदास जी सामाजिक समरसता एवं एकता को स्थापित करने वाले कवि के रूप में दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने अपने जीवन के द्वारा एक ऐसे आदर्श की स्थापना करनी चाही, जो मनुष्य को स्वतंत्र उड़ान प्रदान करे। उनकी कविता लोक की कविता है, वह लोक से बतियाती भी है और लोक का विस्तार भी करती है। सामाजिक जड़ताओं से लोहा लेने के लिए संत रविदास जी ने लोक मानस में बसे हुए राम का अनुगमन किया और उनके आश्रय के द्वारा समाज से चिंता एवं अवसाद को दूर करने का प्रयास किया। इस संदर्भ में डॉ. राम कुमार अहीरवार का वक्तव्य देखने योग्य है। वह लिखते हैं कि- 'उन्होंने अपने समय में ज्ञान की एक ऐसी अमर ज्योति जलाई, जिससे अंधकार तो दूर हुआ ही, लोक चेतना और मानवीय एकता का प्रचार भी हुआ। उनका जन्म भले ही निम्न कुल में हुआ हो, पर उनकी वाणी द्वारा देश और समाज का जो कल्याण हुआ वह कभी भुलाया नहीं जा सकता।बिना किसी प्रचार और विज्ञापन के उनके पदों का प्रचार देश के एक कोने से दूसरे कोने तक हुआ। उन्होंने अंधकारयुगीनसमय में जन्म लेकर समाज का पथ-प्रदर्शन किया।देश की एकता की लड़ी को मजबूत तो बनाया ही, राष्ट्रीयता और मानवता को भी बल प्रदान किया।'[10]

इस तरह संत रविदास जी की कविता अपने समय से जद्दोजहद करने वाली महत्वपूर्ण कविता है, जिसमें समय को निरुपित करने की चेष्टा के साथ समय को बदलने की मुहिम भी है। हर तरह के विभाजन को समाप्त करते हुए अपनी कविता के द्वारा वे पाठकों को एक ऐसी जगह ले जाते हैं, जहाँ गैर बराबरी एवं असमानता के लिए कोई जगह नहीं है। समानता, स्वतंत्रता एवं बंधुत्व की भावना लिए हुए उनकी कविता सामाजिक उत्थान की कविता है, जिसमें व्यक्ति जागरण का भाव प्रबल है। रविदास जी को पता है कि जब तक व्यक्ति रूपांतरित नहीं होगा समाज परिवर्तित नहीं होगा। परंपरागत समाज से जातिवाद की खाई को तभी मिटाया जा सकेगा जब व्यक्ति अपने कर्म में सन्नद्ध होगा, और उसके जीवन का उद्देश्य भोग को बढ़ाना नहीं प्रत्युत संयम का जीवन जीते हुए दायित्वों का सम्यक निर्वहन होगा।

कुल मिलाजुलाकर यही कहा जा सकता है कि संत रविदास एक युग पुरुष हैं, जिन्होंने अपनी कविताओं के द्वारा मानवीय आस्था,सौंदर्य और प्रेम का प्रस्फुटन किया। उनके जीवन के द्वारा एक ऐसी दृष्टि का विकास दिखता है, जो मानव-मानव में समानता का पोषक भी है और सर्जक भी, जिसे रविदास जी समय-समय पर रचते चलते हैं।

संदर्भ :

1. डॉ. चंद्रप्रकाश शुक्ल (संपादन) मध्यकालीन भक्ति काव्य : पुनरावलोकन, पृष्ठ सं. 115
2. आचार्य पृथ्वी सिंह आजाद, 'गुरु रविदास, पृ. सं. 08
3. धर्मपाल मैनी, 'भारतीय साहित्य के निर्माता रैदास' रैदास, पृ. सं. 38
4. आचार्य पृथ्वी सिंह आजाद, गुरु रविदास, पृ. सं. 55
5. 'शुकदेव सिंह (संपादक) 'रैदास बानी', पृ. सं. 123
6. सुधाकर पांडेय (संपादक), 'हिंदी काव्य गंगा' प्रथम भाग, पृ. सं. 40
7. आचार्य पृथ्वी सिंह आजाद, गुरु रविदास, पृ. सं. 52
8. डॉ. राम सजन पाण्डेय, निर्गुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ. सं. 154
9. सुधाकर पांडेय (संपादक), 'हिंदी काव्य गंगा' प्रथम भाग, पृ. सं. 41
10. डॉ. रामकुमार अहीरवार, 'संत रविदास : जीवन और दर्शन, पृ. सं. 15

आचार्य (हिंदी विभाग)
हिमाचल प्रदेश केंद्रीय विश्वविद्यालय,
धौलाधार परिसर-एक,
धर्मशाला, जिला-कांगड़ा, हि.प्र.-176215

प्रकृति, पारिस्थितिकी और समकालीन हिंदी कविता

- ध्रुव कुमार

आधुनिक हिंदी कविता के इतिहास में समकालीन कविता विषय की नवीनता की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है. इस काल की हिंदी कविता में आम आदमी की अंतरानुभूतियों का चित्रण, स्वाधीनता संबंधी नई अभिव्यक्ति, अंतरराष्ट्रीय स्तर पर उठे आंदोलनों का प्रभाव, स्त्री, दलित तथा आदिवासी समुदाय के प्रति नए दृष्टिकोण का चित्रण हुआ है. इन्हीं विषयों में पारिस्थितिकीय संवेदना भी एक प्रमुख विषय बनकर हमारे सामने आया। समकालीन रचनाकार साहित्य की पारंपरिक परिधि में न रहकर साहित्येतर अनुभूतियों को भी अपने लेखन का विषय बनाना शुरू करते हैं। यह सच भी है कि साहित्य की कोई निश्चित सीमा नहीं है। वह सर्वत्र है। इस संबंध में प्रसिद्ध आलोचक और चिंतक डॉ. रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं, 'साहित्य चूँकि समय और समाज के साथ चलते हुए उन्नत भविष्य के सृजन का दूसरा नाम है। अतः जीवन और जगत की कोई भी समस्या/विडंबना उसकी विषय परिधि से बाहर नहीं। दरअसल ब्रह्मांड में जो कुछ भी अस्तित्ववान है, वह मनुष्य की संवेदना, चिंता और चिंतन का विषय है और प्रकारांतर से साहित्य का भी।'[1] इस प्रकार पर्यावरणीय विकृतियों से आहत कवि मन ने पारंपरिक प्रकृति चित्रण से भिन्न प्रकृति के विनाश पर अपनी चिंता जाहिर करते हुए कविताएँ करनी शुरू की। कविता में पारिस्थितिकी चिंतन की धारा में आठवें और नवें दशक आरंभिक चरण में रखे जा सकते हैं। वैसे तो हमारी पूरी ज्ञान परंपरा, साहित्य और संस्कृति प्रकृति के सानिध्य में ही उद्भूत हुई है तथापि प्रकृति के विनाश की चिंता आधुनिक युग में उत्पन्न होने के कारण समकालीन साहित्य में चेतावनी के रुप में उपस्थित है।

मानव ही नहीं अपितु सृष्टि के समस्त जीव जंतुओं का समग्र परिवेश पारिस्थितिकी से ही विकसित तथा प्रभावित होता रहा है। इतिहास हमें बताता है कि प्रत्येक मानवीय सभ्यता प्रकृति की गोद में ही जन्मी, फली-फूली है और अंततः उसी में समा गई है। सिंधु घाटी की सभ्यता हो अथवा मिस्त्र और मेसोपोटामिया की सभ्यता, सभी नदियों से प्रारंभ होकर नदियों में विलीन हुईं। इस प्रकार यह निर्विवाद सत्य है कि सृष्टि के समस्त प्राणियों एवं उनके क्रियाकलापों का नियामक प्रकृति ही रही है। पारिस्थितिकी तथा समाजशास्त्र मानवशास्त्र का अध्ययन करने पर एक निष्कर्ष सामने आता है कि मानव के पारस्परिक, पारिवारिक तथा सामाजिक संबंधों का आधार पर्यावरण ही है अर्थात इन संबंधों को निर्धारित करने में पर्यावरण की केंद्रीय भूमिका होती है। जैव-विविधता, मानव की उत्पत्ति, सभ्यता की निर्मिति, धर्म, जाति, साहित्य, संगीत, कला और संस्कृति, युद्ध और शांति आदि प्रत्येक क्रियाकलापों का कारण प्रकृति ही रही है।

वर्तमान युग विज्ञान एवं सूचना प्रौद्योगिकी का युग है। इसके जरिये मनुष्य असंभव को भी संभव बनाने का दंभ भर रहा है। नई-नई तकनीकों से जहाँ एक ओर वह सृजन की अपार क्षमता का स्वामित्व ग्रहण कर रहा है, वहीं तरह-तरह के विनाशकारी अस्त्रों-शस्त्रों के निर्माण से उसने समूची मानव जाति को विनाश के मुहाने पर लाकर खड़ा कर दिया है। पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है। विकास के रोज नए-नए बनते लक्ष्यों तक पहुँचने की जद ने मनुष्य और प्रकृति को भी आमने-सामने लाकर खड़ा कर दिया

है। जिसकी उपलब्धियों पर वह अब तक इतराता रहा है, वही प्रकृति मानों अब मनुष्य से अपना हिसाब माँग रही हो।

साहित्य का दायरा बहुत व्यापक है। अतः समाज और जीवन की कोई भी विडंबना उसके दायरे के बाहर नहीं है। प्रत्येक प्रकार की समस्याओं और विद्रूपताओं पर अपनी दृष्टि पहुँचाना साहित्य का मूल लक्षण रहा है और उसका मूल कर्तव्य भी। नतीजतन साहित्य से इतर माने जाने वाले विषय भी उसका केंद्र बने। इसके लिए साहित्यकार को अपना ज्ञान भी व्यापक करना पड़ा और अनुभव परिधि भी। इस प्रकार साहित्येतर ज्ञान-विज्ञान के विषयों के समावेश से साहित्य व्यापक भी हुआ है और समृद्ध भी।

आधुनिक युग में औद्योगिकरण और लगातार बढ़ती जनसंख्या की आवश्यकता को पूरा करने के फलस्वरूप मनुष्य प्रकृति के दोहन की तरफ उद्यत हुआ। बढ़ते शहरीकरण, विकास के बदलते पैमाने और आधुनिक विज्ञान की नई-नई खोजों के कारण प्रकृति बड़े पैमाने पर दुष्प्रभावित हुई है। प्रकृति और मनुष्य की इच्छाओं के बीच संतुलन आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है। महात्मा गांधी का कहना था कि भोग की बढ़ती प्रवृत्ति ही प्रकृति का दोहन करवाती है। इसलिए हमें इससे बचना चाहिए और जल, जमीन और भोजन जैसी अनिवार्य सुविधाओं के लिए हमें प्रकृति का दोहन नहीं बल्कि उसका उपयोग करना चाहिए। ऐसा करने पर ही यह धरती युगों-युगों तक हमारी आवश्यकताओं को पूरा करती हुई जीवन के विविध रूपों के साथ मुस्कुराती रहेगी। धरती प्रत्येक मनुष्य की जरूरतों को पूरा कर सकती है पर मनुष्य के लालच को पूरा करने के लिए ऐसी हजार धरती भी कम पड़ेगी। समकालीन युग के कवियों ने अपनी-अपनी कविताओं और चिंतन के माध्यम से मानव जाति को चेताने का पूरा प्रयत्न किया है। अपनी लालसा के वशीभूत होकर लगातार प्रकृति से छेड़छाड़ कर रहे मनुष्य को चेतावनी देते हुए कवि गिरिजाकुमार माथुर लिखते हैं,

है महासत्य यह, स्वर्ण, दैत्य,
हमने खोजी हैं, परम सिद्धियाँ जीवन की।
जो हैं आधार सृष्टि तक की,
उनका यह मनमाना प्रयोग,
हैं छेड़छाड़ कर रहा
प्रकृति की नीति, नियम, मयार्दा से
यदि क्षुब्ध, क्रुद्ध हो गई प्रकृति,
वह भस्मीभूत करेगी सारी दुनिया को।[2]

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान अमेरिका द्वारा जापान पर गिराए गए अणु बमों की विभीषिका से आज कौन अनजान है? इस तरह की वैज्ञानिक खोजों पर आज का कवि सवाल उठाता है जो पूरी मानव जाति के अस्तित्व को ही खतरे में डाल दे। कवि 'अज्ञेय' ने 'हम जरूर जीतेंगे' कविता में अणु अस्त्रों की भयावहता का चित्रण किया है। उनकी चिंता है कि इन बमों के प्रयोग से एक दिन संपूर्ण पृथ्वी विनष्ट हो जाएगी। कवि लिखता है,

कहाँ-कहाँ

नहीं जमा हैं वे बम,
जिनसे एक क्षण में
मिट जा सकते हैं हम।[3]

वर्तमान में प्रत्येक राष्ट्रों के मध्य बढ़ती दूरियों को देखने पर कवि की इस चिंता को सहज ही समझा जा सकता है।

आज पूरे विश्व के पर्यावरणविद् पर्यावरण की सुरक्षा और संरक्षण को लेकर बेहद चिंतित हैं। चिंता स्वाभाविक है। निरंतर असंतुलित होते जा रहे पर्यावरण के परिणाम प्रत्यक्ष रूप से घटित होने लगे हैं। ऐसे में तरह तरह के उपाय विश्व की बौद्धिक बिरादरी के द्वारा किए जा रहे हैं। भौतिकता के अतिरेक ने मानव को अंतमुर्खी बने रहने पर विवश कर दिया है। प्राकृतिक परिवेश से दूर हो कर वह भौतिकता को ही समग्र मान कर बैठा है। के. वनजा के अनुसार, 'आधुनिकता औद्योगिक संस्कृति का सौंदर्यशास्त्र है। वह प्रकृति से मनुष्य का अलगाव है। आधुनिकता में विश्व की सहज अन्विति को मिथ्या कहने का अहंकार है।... आधुनिकता ने साहित्य से जिंदगी की समग्रता को अलग कर दिया। जिंदगी और प्रकृति से साहित्य को अलग करने की इस प्रक्रिया को डिसिंचांटमेंट (Disefchftmeft) कहते हैं।'[4] परिणामस्वरुप वैचारिक रूप से मानव और मानव के कारण प्रकृति प्रदूषित होती गई है। भवानी प्रसाद मिश्र 'वातावरण में रण' नामक कविता में लिखते हैं,

न पानी साफ है,
न कहीं प्रकाश है स्वच्छ
जब सब कुछ मैला है
आसमान, गंदगी बरसाने वाला
अछोर एक थैला है।
कहीं चले जाओ मिलती नहीं है
वायु प्राणपद।[5]

इसी कविता में आगे वह ध्वनि प्रदूषण के कारण प्रकृति पर पड़ रहे दुष्प्रभाव का चित्रण करते हैं। प्रदूषण के कारण व ऋतु और जलवायु में भी परिवर्तन होने लगे हैं। भवानी प्रसाद मिश्र व्यंग्य करते हुए लिखते हैं कि,

ऋतुएँ अगर आती भी यहाँ
तो वे शोर में
अपने गीत
क्या खाकर गातीं
इसलिए अच्छा ही है
कि प्रकृति यहाँ नहीं बची।[6]

अपने भौतिक सुख के लालच में प्रकृति को नष्ट कर रहे मनुष्य से प्रकृति के संग सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता को समझाते हुए कवि लिखता है,

नहीं ऐसा मत करो
प्रकृति का चेहरा बिगाड़ो मत

न उसकी गत करो
नहीं ऐसा मत करो
ये हरे मैदान रहने दो।[7]

कवि नरेश मेहता ने प्रकृति का मानवीकरण करते हुए उसके संघर्षों से मनुष्य के संघर्ष को जोड़ा है। मनुष्य के संघर्ष में जिजीविषा शक्ति की लगातार कामना करते हुए वह लिखते हैं कि,

नदियों की चिंता कौन करता है / पहाड़ों को भी ठंड लगती होगी।
परंतु क्या किसी ने उन्हें कंबल ओढाया?
इस पृथ्वी को तो बहुत पहले ही धैर्य खो देना चाहिए था।
पर क्या किसी दिन भी / किसी तत्व ने अपना धर्म छोड़ा?[8]

साहित्य कभी भी समाज पर सीधा असर नहीं दिखाता है। वह पाठक अथवा श्रोता के मन-मस्तिष्क में गहरे पैठकर मानव के मलिन मन का परिष्कार करता है। संपूर्ण मानवीय सृष्टि के संचालन में मनुष्य तथा उसकी चेतना ही कार्य करती है। पर यह अस्वाभाविक नहीं कि भौतिक सत्ता का असर भी उसकी चेतना पर पड़े। भौतिकता के प्रभाव में कभी यह चेतना सुसंस्कृत तो कभी दूषित भी हो जाती है। ऐसे में कविता और अन्य साहित्य चेतन और अवचेतन के परिष्करण में सहायक होता है। 'कविता क्या है' निबंध में 'आचार्य शुक्ल' लिखते हैं कि, 'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है। जहाँ जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है, इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किए रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकार का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है।'[9] शुक्ल जी ने यहाँ जिन अनुभूतियों के संचार की बात की है दरअसल वे अनुभूतियाँ हमारे चेतन मन से होते हुए अवचेतन मन की ओर प्रवाहित होती हैं। मानसशास्त्र की मान्यता है कि हमारे प्रत्यक्ष कार्यकलाप भी इस अवचेतन मन से बहुत हद तक प्रभावित होते हैं। इस तरह कला एवं साहित्य द्वारा प्राप्त अनुभूतियाँ अवचेतन मन के सहारे मनुष्य का मार्गदर्शन करती हैं। डॉ. के. वनजा इस संबंध में लिखती हैं, 'चेतन के समान अचेतन भी मनुष्य की जिंदगी की गति-विगति को नियंत्रित करता है। दर्शनों एवं आशयों के समान या उससे ज्यादा सहज वासनाएँ एवं आदिरूप मनुष्य के मन में असर डालते हैं। कला मनुष्य के अचेतन पर प्रभाव डालती है। यह अचेतन चेतन को प्रज्वलित करता है।'[10] कवि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने इसी प्रकार अपनी कविताओं से पाठकों के अवचेतन मन को लक्ष्य करते हुए लिखा है,

जंगल की याद / अब उन कुल्हाड़ियों की याद रह गई है, / जो मुझ पर चली थीं।
उन आरों की जिन्होंने / मेरे टुकड़े-टुकड़े किए थे / मेरी संपूर्णता मुझसे छीन ली थी।[11]

अपनी आवाज में कवि ने जिस प्रकार जंगल की वेदना को व्यक्त किया है वह

सहृदय पाठक के मन में न जा बसे, ऐसा संभव ही नहीं है।

बीसवीं सदी में बढ़ते वैज्ञानिक आविष्कारों, औद्योगीकरण और बढ़ते यातायात के साधनों के कारण अनेक प्रकार के प्रदूषण की समस्याएँ बढ़ने लगीं। सदी के उत्तरार्द्ध तक आते-आते इन समस्याओं ने विकराल रूप धारण कर लिया। मनुष्य इन समस्याओं पर सोचने के लिए विवश हो गया। घर-बाहर हर जगह प्रदूषण। अपने सामान्य जीवन से उदाहरण लेकर कवयित्री स्नेहमयी चौधरी तहखानों में काम करने वाले मजदूरों के प्रति अपनी संवेदना व्यक्त करते हुए लिखती हैं–

बहुत देर तहखाने में रहने पर /
फेफड़ों पर दबाव पड़ता है,
और दम घुटने लगता है। /
कैसे कोई हर वक़्त तहखाने के अंदर रह सकता है?[12]

प्रगतिशील कविता के महत्त्वपूर्ण कवि केदारनाथ अग्रवाल ने पर्यावरण के प्रति भी अपने कवि-कर्म का जिम्मेदारी से निर्वाह किया है। बदलते मानव स्वभाव के कारण मनुष्य और पर्यावरण दोनों के अस्तित्व का संकट गहराता जा रहा है। पर्यावरणीय ह्रास के कारण कवि को वृक्ष भी निर्धन, दरिद्र, असमर्थ और बेजान लग रहे हैं। वह लिखते हैं–

हे मेरी तुम/ ठठरियाएँ खड़े हैं बिना पत्तियों के/ परार्थी पेड़
निर्धन, दरिद्र/ असमर्थ और बेजान/
हम आदमियों के आदिम वनस्पतीय अग्रज।[13]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि पारिस्थितिकी तंत्र का क्षरण हिंदी साहित्य में बड़ी प्रमुखता से चित्रित हुआ है। मनुष्य के असीमित लोभ के कारण धरती की जो दुर्दशा हो रही है उसके चित्रण के साथ-साथ उसके प्रतिरोध में भी कवियों ने अपनी लेखनी चलाई है। समकालीन कवि को न केवल आशा है अपितु पूर्ण विश्वास भी है कि उसकी जन्मदात्री पृथ्वी बची रहेगी। कवि केदारनाथ सिंह की 'पृथ्वी रहेगी' की ये पंक्तियाँ द्दष्टव्य हैं-

मुझे विश्वास है / यह पृथ्वी / यदि और कहीं नहीं तो मेरी हड्डियों में / यह रहेगी जैसे पेड़ के तने में रहते हैं दीमक / जैसे दाने में रह लेता है घुन यह रहेगी प्रलय के बाद भी मेरे अंदर / यदि और कहीं नहीं तो मेरी जबान और मेरी नश्वरता में यह रहेगी / और एक सुबह में उठूँगा, मैं उठूँगा पृथ्वी समेत / जल और कच्छप समेत मैं उठूँगा, मैं उठूँगा और चल दूँगा उससे मिलने / जिससे वादा है कि मिलूंगा।[14]

संदर्भ :

1. प्रतिमान, समकालीन हिंदी उपन्यास और पारिस्थितिकीय संकट, रोहिणी अग्रवाल, वाणी प्रकाशन, जन-जून 2013, पृ० 205, 2 कल्पांतर, गिरिजा कुमार माथुर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1983, पृ० 61, 3 ऐसा कोई घर आपने देखा है, अज्ञेय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1986, पृ० 29, 4 साहित्य का पारिस्थितिक दर्शन, के. वनजा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ० 11 5 नीली रेखा तक, भवानी प्रसाद मिश्र, पीताम्बर पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1984, पृ० 28,

6 वही, पृ० 99, 7 वही, पृ० 139, 8 अरण्या, नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1985, पृ० 22, 9 चिंतामणि-1, रामचन्द्र शुक्ल, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2007, पृ० 107, 10 साहित्य का पारिस्थितिक दर्शन, के. वनजा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ० 11, 11 क्या कहकर पुकारूँ, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1984, पृ० 102, 12 चौतरफा लड़ाई, स्नेहमयी चौधरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986, पृ० 10, 13 हे मेरी तुम, केदारनाथ अग्रवाल, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 1981, पृ०60, 14 यहाँ से देखो, केदारनाथ सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995, पृ० 25

असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, श्री वेंकटेश्वर महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

मराठी संतों का हिंदी काव्य

- डॉ. रूपा चारी

दक्षिण की भक्ति भागीरथी उत्तर में प्रवाहित करने का श्रेय स्वामी रामानन्द, संत नामदेव और संत कबीर को जाता है। महाराष्ट्र के संतों में ज्ञानदेव,रामदास स्वामी, संत तुकाराम, संत एकनाथ, संत नामदेव के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। तेरहवीं और चौदहवीं शती के मध्य में महाराष्ट्र में संतों का आविर्भाव हुआ। संत नामदेव मराठी संतपरंपरा के संत चरित्रकार हैं। कबीरदास के काव्य पर नामदेव का प्रभाव है। डॉ. विनयमोहन शर्मा के अनुसार 'नामदेव में उत्तरी भारत की संतमत की सारी विशेषताएं विद्यमान हैं। इसलिए हम उन्हें उत्तर भारत में निर्गुण भक्ति मत का प्रथम प्रचारक और प्रवर्तक तथा कबीर आदि संतों का पाठ प्रदर्शक मानते हैं। संत नामदेव के मराठी और हिंदी काव्य में गुरु महिमा, हरिजनसंगती, जातिवाद का खंडन, लोकजीवन का चित्रण , सगुण-निगुर्णातीत भक्ति, रामभक्ति और नामभक्ति ये सभी विशेषताएं काव्य में दृष्टिगोचर होती हैं। नामदेव के पदों में समाजाभिमुख विचार हैं। 'गुरुग्रंथसाहब' में नामदेव के हिंदी पदों को 'मुखबानी' कहा गया है। नामदेव के पदों में से रहस्यमय भाव भी व्यक्त हो रहा है। गगनमंडल, शून्य, इड़ा , पिंगला, सुषुम्ना आदि शब्द प्रयोग यथावत हुआ है। संत नामदेव का मुख्य भाव सत्याचरण था। ढोंग-दंभ का विरोध करते हुए हिंदू, मुसलमान और सिख अथवा अन्य धर्मपंथ के अनुयायी सर्वधर्मभाव की दृष्टि अपनाकर जीवन बिताए, इस मंत्र में उनका विश्वास था।

भारतीय भक्ति साहित्य में नारायणीय, वैष्णव अथवा भागवतधर्मीय परंपरा का उदात्त धरोहर से दक्षिण के तमिल प्रदेश में आलवार और नायनमार भक्तपरंपरा खड़ी रही। तीसरी शती से नवीं शती तक इस भक्त मंडली ने भागवत प्रणाली को अपनाया। तत्पश्चात् आद्य शंकराचार्य ने ब्रह्म की अद्वैतता, मिथ्या, मायावाद और ज्ञानमार्ग का महत्व प्रतिपादित किया। इसके बाद भक्ति साहित्य में वैष्णवाचार्य का योगदान बहुमूल्य है। विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैत शुद्धाद्वैत आदि संप्रदाय प्रचलित हुए। दक्षिण की भक्ति भागीरथी उत्तर में प्रवाहित करने का श्रेय स्वामी रामानन्द, संत नामदेव और संत कबीर को जाता है।

संत नामदेव (1270 से 1350) का काल खण्ड माना जाता है। महाराष्ट्र के संतों में ज्ञानदेव,रामदास स्वामी, संत तुकाराम, संत एकनाथ, संत नामदेव के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। महाराष्ट्र वीरता और शूरता के लिए प्रसिद्ध तो हैं ही, लेकिन ज्ञान और भक्ति के भंडार से भी ओतप्रोत है। तेरहवीं और चौदहवीं शती के मध्य मेंमहाराष्ट्र में की संतों का आविर्भाव हुआ। इन संतों की पावन वाणी से सिर्फ महाराष्ट्र नहीं, बल्कि पूरा देश पावन हुआ। महाराष्ट्र की संत परंपरा से संतकवि नामदेव का हिंदी काव्य रचना के क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है। संत नामदेव मराठी संतपरंपरा के संत चरित्रकार है। कबीरदास के काव्य पर नामदेव का प्रभाव है। कबीर के काव्य में नामदेव का नाम का उल्लेख मिलता है। कबीर के उपरांत रैदास, दादू, रज्जब, मलूकदास आदि संत कवियों ने नामदेव-कबीर का उल्लेख किया है। नामदेव पदावली के प्रकाशन के बाद (1964) आचार्य विनयमोहन शर्मा, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त आदि संशोधक- इतिहासकारों ने नामदेव की हिंदी रचना का समर्थन किया है। कबीर के पद

में नामदेव का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है।

'दक्खनम्याने नामा दरजी उनोंका बंदा विठ्ठल है।
और सेवा कद्धू नहीं जाने अंदर भीतर केशव है।।
उत्तरम्याने भयो कबीरा रामचरन का बंदा है।
उनोंका पूत कहै कमाल दोनोंका बोलबाला है।।'[1]

संत नामदेव बहुभाषिक थे। लोकभाषा में परमार्थ व्यक्त करने की रीति नाथ पंथों में अपनायी। इसलिए उत्तर हिन्दुस्थान में विठ्ठल के साथ साथ रामनाम और कृष्णनाम का भी जयघोष किया। 'घुमान' नामक प्रदेश में वारकरी पंथ के साथ प्रचार किया। 'जप हीन तप हीन कुल हीन क्रम हीन नामे के सुआमी तेऊ तरे' जो जप नहीं कर सकता है, तप नहीं कर सकता है, जिसका जन्म हीन कुल मेंहुआ है, इस जनता को स्वामी श्रीराम -श्रीकृष्ण ही तारक कर्ता है। नामदेव व्यक्तित्व और वाङमय विशेष अभ्यासक प्राचार्य नि. ना. रेळेकर कहते हैं, 'संत नामदेवांनी निर्माण केलेला हा 'निर्गुण संप्रदाय' उत्तर भारतातील सर्व प्रदेशांत 'संतमत' या नावाने ओळखला जातो. संत नामदेवोत्तर हिंदी भाषिक संतकवींनी या 'संतमता'चेच अनुसरण केले आहे.'[2]अर्थात् संत नामदेव निर्मित 'निर्गुण संप्रदाय' उत्तर भारत के सभी प्रदेशों में 'संतमत' से परिचित है। संत नामदेवोत्तर हिंदी भाषिक संत कवियों ने 'संतमत' को अपनाया है। डॉ. विनय मोहन शर्मा के अनुसार 'नामदेव में उत्तरी भारत की संतमत की सारी विशेषताएं विद्यमान है। इसलिए हम उन्हें उत्तर भारत में निर्गुण भक्ति मत का प्रथम प्रचारक और प्रवर्तक तथा कबीर आदि संतों का पाठ प्रदर्शक मानते हैं। यह सत्य है कि कबीर के पूर्व सिद्धों और नाथों ने इसी दिशा में कार्य किया है। पर नामदेव और सिद्धों और नाथों के निर्गुण मत प्रचार में यह अंतर है कि सिद्धों और नाथों में जहां शुष्क 'ज्ञान' और 'योग' है वहां नामदेव में ज्ञान और योग के साथ भक्ति का सारस मेल भी है।[3]

श्री विठ्ठल नामदेवजी का कुलदेवता और इष्टदेवता थे। बचपन में नामदेव ने सगुणोपासना की। गुरूकृपा के कारण निर्गुण परब्रह्म का बोध होने के बाद भी उनकी भक्ति में बाधा नहीं आई। पंढरपुर में यात्रा करने के बाद विठ्ठल की कृपा का प्रसाद प्राप्त होता है, यही उनकी श्रद्धा थी। संत नामदेव भगवान विठ्ठल के साथ बात करते है और विठ्ठल भी उनके साथ बात करते है। संत नामदेव के लिए तीर्थक्षेत्र, माता पिता, देवपूजा विठठल ही है। यहां परमानुभूति एक सुमधुर हिंदी पद के सामर्थ्य से प्रकट हुई है।

'तुम बिन घरि येक रहुं नहिं न्यारा।
सुन यह केशव नियम हमारा।।
जहां तुम गिरिवर ताहां मैं मोरा।
जहां तुम चंदा ताहां मैं चकोरा।।
जहां तुम तरुवर ताहां मैं पंछी।
जहां तुम सरोवर ताहां मैं मच्छी।।
जहां तुम दिवा ताहां मैं बत्ती।'

'हे केशवा, आपके बगैर मैं एक क्षणभर के लिए अलग नहीं रह सकता। तुम यहां पर्वत बने हो, वहां मैं मोर बनकर नाच लूंगा। तुम चंद्र होंगे तब मैं चकोर बनकर प्रीति

से बेभान हो जाऊंगा। तुम यदि वृक्ष हो तो मैं पंछी। तुम तालाब हो तो मैं मीन। तुम दीप बनोगे तो मैं बाती बन जाऊंगा।'[4]

'जागे सुक, उधव अंकूर। हणवंत जागे लै लंगूर।
संकर जागे चरन सेव। कलि जागे नामा जैदेव'[5]

संत नामदेव के मराठी और हिंदी काव्य में गुरु महिमा, हरिजनसंगती, जातिवाद का खंडन, लोकजीवन का चित्रण , सगुण-निगुर्णातीत भक्ति, रामभक्ति और नामभक्ति ये सभी विशेषताएं काव्य में दृष्टिगोचर होती है। नामदेव के पदों में समाजाभिमुख विचार है। 'गुरुग्रंथसाहेब' में नामदेव के हिंदी पदों को 'मुखबानी' कहा गया है। इसलिए गुरुनानक (1469-1543)के 'गुरुग्रंथसाहिब' में नामदेव की वाणी का उल्लेख 'मुखबानी' से मिलता है।

कबीर के अनुसार आध्यात्मिक अनुभव में कोई भी ज्ञानेंद्रिय का काम कर सकता है। इसलिए कान से देखना और आंखों से सुना जाता है। क्योंकि आत्मा अतिन्द्रिय है, इसलिए किसी भी प्रकार का ज्ञान इंद्रिय के बिना संभव है। 'चले सों परिकम्मा। बोलै असो भजन। साधो सहज समाधि भली'[6] इन शब्दों में कबीरदास ने सहजस्थिति को अभिव्यक्त किया है। संत नामदेव कहते है-

'चरण बिन चलत है,
श्रवण बिन सुनत है,
सूत बिन बुणत है,
गज बिन गिणत है,
नैन बिन कई अलोक पेखदा है।
'मुख बिन बोलै,
हस्त बिन तोलै,
कहे बिन सूझै ,
अन दिन सूझै,
परमतत्त अलेखदा है। कहै नामा खेल सब वाहदा है।'[7]

संत नामदेव को औढया नागनाथ के मंदिर में योगीराज विसोबा खेचर से दीक्षा प्राप्त हुई थी। ईश्वरीय साक्षात्कार का ब्योरा नामदेव गाथा में मिलता है। 'खेचर भूचर तुलसीमाला। गुरु परसादी पाईआ।'[8] समें खेचरी योगमुद्रा और वारकरी भक्तिपूजनीय तुलसीमाला का उल्लेख मिलता है। कबीर दास को काशी के गंगाघाटपर स्वामी रामानंद से 'राममंत्र' की दीक्षा मिल गई। जिस तरह कबीर कहते हैं-

'गुरु गोविंद दोऊ खड़े काके लागौ पाय।
बलिहारी गुरु आपणे गोविंद दियौ बताय।।'[8]

संत नामदेव अपने हिंदी पदों सद्गुरु के प्रति आदरभाव व्यक्त करते हैं।

'सफल जनमु मोकउ गुरु कीना। दुख बिसारि सुख अंतरि लीना।
गिआन अंजनु मोकउ गुरु दीना। रामनाम बिनु जीवन मन हीना।।'[9]

सद्गुरु की कृपा से मेरा जन्म सार्थक हुआ। मेरा दुख दैन्य चला गया। मुझे आंतरिक सुख मिल गया। क्योंकि गुरु के कृपा परसाद से मुझे ज्ञान की प्राप्ति हो गई। 'गुरु को

सबद बैकुंठ निसरनी' अर्थात् गुरु माउली का शब्द ही ईश्वरीय राज्य में पहुंचने की सीढ़ी है।

'सतिसति सति सति सति गुरुदेव। झूठू झूठू झूठू झूठू आन सअब देव।
जऊ गुरुदेव त मिलै मुरारी। जऊ गुरुदेव त उतरे पारी।।
बिन गुरुदेव अवर नहीं जाई। नामदेऊ गुरु की शरणाई।'[10]

सद्गुरु के अलावा दूसरा कोईसत्य नहीं है। बाकी सब मिथ्या है। गुरुकृपा प्रसाद से ही ईश्वर की ओर मोक्ष मिल सकता है। रहस्यवादी स्वर नामदेव के पदों से व्यक्त हो चुका है।

'मैं बऊरी मेरा रामु भतारू। रचि रचि ताकऊ करऊ सिंगारू।
भले निंदऊ भले निंदऊ। भले निंदऊलोगू।
तनु मनु राम पिआरे जोगू।।'[11]

मतलब मैं प्रभु राम के मिलन के लिए उत्सुक हूं, लोकनिंदा की मुझे परवाह नहीं है।

'लागी जनम जनम की प्रीति, चित नहीं बीसरे रै।'[12]

राम के साथ पतिव्रता का नाता स्पष्ट है। नामदेव अपनी ईश्वर निष्ठा प्रकट कर रहे है।

'अनेक सिंगार करै बहु कामिनी। पीय के मीन नहीं भावै भामिनी।
पतिव्रता पति ही कौ जानै। नामदेव कहै हरि ताकी मानै।'[13]

नामदेव के पदों में से रहस्यमय भाव भी व्यक्त हो रहा है। गगनमंडल, शून्य, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि शब्द प्रयोग यथावत् हुआ है।

'बीहौ बीहौ तेरी सबल माया।
आगै इनि अनेक भरमाया।।
माया के अंतर ब्रह्म न दीसै।
ब्रह्म के अंतर माया नहीं दीसै।।'[14]

मनुष्य की अंतर्यात्रा के माध्यम से अध्यात्म के लक्ष्य को इस प्रकार पाने का प्रयास किया गया है -

'इड़ा पिंगला सुषमनि नारी। पवनां मंझी रहाऊंगा।
चंद्र सूर दोऊ सभि करि राषू। ब्रह्म ज्योति मिलि जाऊंगा।।'[15]

जहां चले वहां ईश्वर दिखाई देता है। चित्रविचित्र माया मोह के कारण भावुक साधक कभी कभी उसे समझ नहीं सका। लेकिन जो ईश्वर को जानता है, वही उसे पहचानता है। गोविंद के बिना और कुछ नहीं है।

'तुझं बिन क्यूं जीऊं रे। तुझं बिन क्यूं जीऊं।
तू मंझा प्रान अधार। तुझं बिन क्यूं जीऊं।'[16]

संतों ने काया साधना की अपेक्षा मनोनिग्रह पर अधिक जोर दिया है। संत नामदेव का इस विषय में पद है -

'कांई रे मन विषिया बन जाहि।
देषत ही ठग मूली बांहि।

काम क्रोध त्रिसना अति जरै।
साध संगति कबहूं न करैं।।'[17]

विषय आसक्त मन से कहते हैं कि तुम वन वन क्यों भटक रहा है? उधर स्वास्थ्य मिलने वाला नहीं है। काम, क्रोध, तृष्णा का सामना करने के लिए तुमको साधु-संगति पर ध्यान देना।

इसी तरह रामनाम के बारे में संत नामदेव कहते हैं - रामनाम ही मेरी धनसंपदा है। मेरा मन इसी के कारण समर्थ है। इस साधना मार्ग में ईश्वर का स्मरण करना सर्वस्व है। हरि के नाम से ही भवसागर पार करना संभव हो गया है।

'रामनाम मेरे पूंजी धनां।
तां पूंजी मेरौ लागौ मना।।'[18]
'सार तुम्हारा नांव है, झूठा सब संसार।
मनसा वाचा कर्मणा कलि केवल नाव अधार।।'[19]

रामनाम यही मेरी सच्ची धनदौलत है। नामस्मरण यही साधना का सार है। इंसान को बाह्याचार के जंगल में फंसना नहीं चाहिए। नामस्मरण की अजस्र धारा मेंप्रवाहित रहने से देह कंचन में परिवर्तित हो जाता है।

नामदेव ने बाडंबर और कर्मकांड का निषेध किया। जाति व्यवस्था माननेवालों को ठुकरा दिया। नामदेव कहते हैं -

'ऐसे मन राम नामै बेधिला।
जैसे कनक तुला चित्त राषिला।।'[20]

मेरा मन रामनाम में रंग चुका है। जिस तरह से सुवर्णकार (सोनार) अपने काम में मगन रहता है।

संत नामदेव का मुख्य स्वर सत्याचरण पर था। ढोंग-दंभ के विरूद्ध था। हिंदू, मुसलमान और सिख अथवा अन्य धर्मपंथ के अनुयायी सर्वधर्मभाव की दृष्टि अपनाकर जीवन बिताए ऐसा उनका मानना था।

'हिन्दू अन्हा तुरकू काणा,
दोहातें गिआनी सिआणा।
हिंदू पुजै देहुरा, मुसलमाणु मसीत,
नामें सोई सेविआ जहं देहुरा न मसीत।'[21]

नामदेव ने भक्तिक्षेत्र में बाह्य आडंबर/ बाह्याडंबर अथवा कर्मकांड का सही शब्दों में निषेध किया है। निर्जीव के सम्मुख सजीव की हत्या करना अज्ञान का प्रतीक है।

'पाहन आगै देव काटिला। वाको प्राण नाहीं वाकी पूजा रचीला।
निरजीव आगै सरजीव मारै। देखत जणम आपनौ हारै।।
न्हावै धोवै करै असनान। हिरदै आंखें न माथै कान।
गलि पहि रै तुलसी की माला। अंतरगति कोइला सा काला।।'[22]

स्नान करने से अथवा कान छिदवाने से कोई फायदा नहीं है। हृदय में संवेदना होनी चाहिए। गले में तुलसीमाला डालने से कुछ फायदा नहीं है।

नामदेव की हिंदी रचनाओं का वैशिष्ट्य यह है कि नामदेव पहले मराठी कवि हैं,

जिन्होंने हिंदी संतकाव्य लिखा। विट्ठल की भक्ति में रममाण होकर उत्तर दिशा में अग्रसर होकर निर्गुण मत का प्रवर्तन किया। निर्गुण भक्ति के आधार पर नामदेव ने जातिभेद, पंथभेद की व्यर्थता बताई। धार्मिक जीवन के साथ साथ सामाजिक और स्व-जीवन प्रणाली शुद्ध और निष्कलंक हो ऐसा बताया। भगवान कृष्ण और गोपियों के बीच प्रेम भाव स्थापित किया। इस तरह उत्तर हिन्दुस्तान में शृंगार के प्रति मुड़नेवाली मधुर भक्ति को नामदेव ने सात्विक स्वरूप दिया। नामदेव की हिंदी रचनाओं में मराठी शब्द और शैली का साक्षात्कारहोता है। नामदेव की हिंदी रचनाओं का लालित्य और भावनिवेदन में मृदुता है। पदबंध में एक विशिष्ट प्रकार का सौन्दर्य और सौष्ठव है। 'नाचू कीर्तनाचे रंगी' इस मंत्र का पालन करनेवाले नामदेव राग- ताल के नियमों के ज्ञानी थे।राग- ताल के नियमों से बद्ध नामदेव की रचनाएं हैं। इस संबंध में डॉ श्रीरंग संगोराम का 'हिंदी संतमत आणि वारकरी संप्रदाय व नामदेव' विशाखा, दिवाळी २०००, पृ १५४ में कथन पाया जाता है - 'मराठी में एक ही अभंग पर रागनाम नहीं मिलता है। लेकिन नामदेव हिंदी पदावली में परवर्ती रागों का उल्लेख मिलता है।'

संदर्भ :

1. डॉ.कामत अशोक, संतसाहित्य : काही अनुबंध, पृ. क्र. ८७
2. प्रा. रेळेकर नि. ना., विश्वदीप संत नामदेव महराज -संत नामदेवांची अभंगगाथा, पृ ५४
3. डॉ.कामत अशोक, संतसाहित्य : काही अनुबंध, पृ. क्र. 139
4. डॉ.कामत अशोक, संतसाहित्य : काही अनुबंध, पृ. क्र. ८१
5. डॉ.कामत अशोक, संतसाहित्य : काही अनुबंध, पृ. क्र. ८७
6. डॉ.कामत अशोक, संतसाहित्य : काही अनुबंध, पृ. क्र. ९२
7. प्रा. रेळेकर नि. ना., विश्वदीप संत नामदेव महराज -संत नामदेवांची अभंगगाथा पृ. १५२
8. डॉ.कामत अशोक, संतसाहित्य : काही अनुबंध, पृ. क्र. ९४
9. सं.डॉ. मिश्र भगीरथ, रा. ना. मौर्य, संत नामदेव की हिन्दी पदावली, पृ. २०४
10. डॉ.कामत अशोक, संतसाहित्य : काही अनुबंध, पृ. क्र. 95
11. सं.डॉ. मिश्र भगीरथ, रा. ना. मौर्य, संत नामदेव की हिन्दी पदावली,पृ. २१४
12. सं.डॉ. मिश्र भगीरथ, रा. ना. मौर्य, संत नामदेव की हिन्दी पदावली, पृ. १३६
13. डॉ.कामत अशोक, संतसाहित्य : काही अनुबंध, पृ. क्र. ९६
14. सं.डॉ. मिश्र भगीरथ, रा. ना. मौर्य, संत नामदेव की हिन्दी पदावली, पृ.३९
15. सं.डॉ. मिश्र भगीरथ, रा. ना. मौर्य, संत नामदेव की हिन्दी पदावली, पृ. ९९
16. डॉ.कामत अशोक, संतसाहित्य : काही अनुबंध, पृ. क्र. ९७
17. डॉ.कामत अशोक, संतसाहित्य : काही अनुबंध, पृ. क्र.९८
18. सं.डॉ. मिश्र भगीरथ, रा. ना. मौर्य, संत नामदेव की हिन्दी पदावली,.१२७
19. सं.डॉ. मिश्र भगीरथ, रा. ना. मौर्य, संत नामदेव की हिन्दी पदावली,पृ.५१
20. सं.डॉ. मिश्र भगीरथ, रा. ना. मौर्य, संत नामदेव की हिन्दी पदावली, पृ. २०
21. सं.डॉ. मिश्र भगीरथ, रा. ना. मौर्य, संत नामदेव की हिन्दी पदावली, पृ. २०७

22. डॉ.कामत अशोक, संतसाहित्य : काही अनुबंध, पृ. क्र. १०१

आधार ग्रंथ

1. डॉ.कामत अशोक, संतसाहित्य : काही अनुबंध,पद्मगंधा प्रकाशन, पुणे
2. प्रा. रेळेकर नि. ना., विश्वदीप संत नामदेव महराज -संत नामदेवांची अभंगगाथा
3. सं. डॉ. मिश्र भगीरथ, रा. ना. मौर्य, संत नामदेव की हिन्दी पदावली, पुणे विद्यापीठ प्रकाशन
4. डॉ श्रीरंग संगोराम का 'हिंदी संतमत आणि वारकरी संप्रदाय व नामदेव' विशाखा, दिवाळी २०००
5. शर्मा.पं गंगाधर, भारतीय संतों की महिमा, शिवानी बुक एजेंसी,दिल्ली २०१६
6. शिवकुमार, संत नामदेव, विज्ञान भारती, गाजियाबाद (उ.प्र.) २०१४
7. सं. हरी श्रीधर शेणोलीकर, नामदेव गाथा, साहित्य अकादमी, २००३
8. साळगांवकर, ज्योतिरभास्कर जयंत, देवाचिये द्वारी, जयराज साळगांवकर, भाग २,३,४,५, दादर, मुंबई

असोसिएट प्राध्यापक

श्री मल्लिकार्जुन एवं श्री चेतन मंजु देसाई महाविद्यालय

काणकोण-गोवा

विचलन प्रतिमान के निकष पर ज्ञानेंद्रपति की कविताएँ

रेवनसिद्ध काशिनाथ चव्हाण, शोध - छात्र
प्रो . सदानंद भोसले, शोध-निर्देशक

किसी भी साहित्य विधा का अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोणों से, विभिन्न अध्ययन पद्धतियों के माध्यम से किया जाता है। उनमें से ही एक शैलीवैज्ञानिक दृष्टिकोण भी महत्वपूर्ण है। शैलीविज्ञान किसी भी साहित्यकृति का वस्तुनिष्ठता से, वैज्ञानिकता से कृति को स्वनिष्ठ एवं पूर्ण इकाई मानते हुए अध्ययन करता है। कृति को केंद्र में रखकर शैलीविज्ञान अध्ययन करता है। किसी भी साहित्यिक विधा का शैलीविज्ञान वस्तुनिष्ठता से अध्ययन करनेवाली अद्यतन अध्ययन पद्धति है। अपने प्रतिमानों के माध्यम से रचना का विश्लेषण कर उसमें निहित भावसौंदर्य और रचनाकार के रचनाकौशल का उद्घाटन करता है। शैलीवैज्ञानिक अध्ययन प्रणाली केवल रचना का विश्लेषण ही नहीं करती बल्कि साहित्यिक भाषा का अध्ययन करते हुए भाषा में छिपे भावों की तह तक पहुँचती है। शैलीविज्ञान की इसी विशेषता को ध्यान में रखकर रवींद्रनाथ श्रीवास्तव ने इसे 'शैलीविज्ञान आलोचना की नयी भूमिका' के रूप में स्वीकारा है। किसी भी कृति का भाषाकेंद्रित अध्ययन शैलीविज्ञान का साध्य है। अपने साध्य की ओर उन्मुख होने के लिए साधन के रूप में शैलीविज्ञान भाषावादी दृष्टिकोण अपनाता है। शैलीविज्ञान अपनी इन्हीं विशेषतओं के कारण साहित्य के अध्यतेओं को अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है। तथा साहित्य के अध्ययनार्थ शैलीवैज्ञानिक अध्ययन पद्धति को उपयोग में लाया जा रहा है इसे कोई नकार नहीं सकता। समकालीन कविता में अपनी अलग पहचान बनानेवाले कवि ज्ञानेंद्रपति की कविताएँ विविधवर्णी हैं। वे समकालीन कविता के विशिष्ट हस्ताक्षर हैं। कवि की संवेदना जनधर्मी और जनदर्दी है। उनकी कविताओं में जीवन एवं जगत के विविध स्वर सुनाई देते हैं। मनुष्य जीवन ही नहीं समूची दुनिया के व्यापक फलक का अर्थ-विस्तार ज्ञानेंद्रपति की कविताओं में प्राप्त होता है। जनकल्याण की उदात्त भावना, पीड़ितों, वंचितों के प्रति सहानुभूति, लोकचित्त की अचूक पहचान और जनपक्षधरता की प्रधानता के संग प्रकृति-पर्यावरण के प्रति आत्मीयता आदि का चित्रांकन ज्ञानेंद्रपति की कविताओं में प्रभावी ढंग से हुआ है। उनकी कविताओं में वस्तुनिष्ठता के साथ अपने समय के अनुभवों की सशक्त अभिव्यक्ति सशक्त रूप में हुई है। उनकी कविताओं का विश्लेषण शैलीविज्ञान के प्रतिमान विचलन के आधार पर प्रस्तुत आलेख में करने का प्रयास हुआ है।

समकालीन कविता के एक सशक्त हस्ताक्षर के रूप में ज्ञानेंद्रपति पहचाने जाते हैं। वे काव्य में निराला, नागार्जुन, मुक्तिबोध की परंपरा के वाहक है। उनकी कविताओं में जीवनानुभवों का सारांश बोलता है। ज्ञानेंद्रपति की कविताओं में मनुष्य जीवन के विविधरंगी दृश्य दिखाई देते हैं। इसलिए तो ज्ञानेंद्रपति की कविताओं का क्षितिज फैलकर विश्वाकार हुआ है। उन्होंने स्थानिकता से लेकर वैश्विकता तक के जीवन और जगत

को प्रभावित करने वाले विषयों को अपनी कविताओं का विषय बनाया है। उनके इसी काव्य वैशिष्टय परआलोक डालते हुए डॉ. ओम निश्चल ने लिखा हैं-'ज्ञानेंद्रपति की कविताएँ जनपदीय आभा से विरचित हैं। उनमें स्थानीयता का गौरव है। आँचलिकता की उजास है तथा जीवन और जगत को मथने-भेदने वाले समकालीन मुद्दों की अनिवार्य अनुगूँज है।'[1] कवि की कविताओं को पढने के पश्चात डॉ. निश्चल जी ने कवि तथा कवि के काव्यकर्म के संदर्भ में जो भी कहा है पाठक उससे सहमति ही दशार्येंगे। गाँव की माटी की सोंधी गंध, पूँजीपतियों, ठेकेदारों का उन्मुक्त अतिक्रमण, प्रकृति का दोहन, लोकजीवन की धड़कन, वैश्वीकरण एवं बाजारीकरण की मार से आहत प्राकृतिक एवं मानवीय जीवन, लोकसंस्कृति का क्षय, लुप्त होती पशु-पक्षियों, वृक्षों की विविध प्रजातियाँ आदि का सजीव चित्रण करते हुए कवि ने भाषिक प्रयोग, शैलपिक सजगता का अनूठा परिचय दिया है। कवि द्वारा अपनी कविताओं में काव्य सौंदर्य की वृद्धि के लिए जो भाषिक कौशल का प्रयोग हुआ है, उसी का विश्लेषण शैलीविज्ञान के एक महत्वपूर्ण प्रतिमान विचलन के माध्यम से प्रस्तुत है। शैलीविज्ञान किसी भी रचनाकार द्वारा उसकी रचना में उपयोजित भाषिक इकाइयों - ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्यादि का विश्लेषण वैज्ञानिकता से करता है। शैलीविज्ञान की उपादेयता को अधोरेखित करते हुए प्रसिद्ध शैलीवैज्ञानिक डॉ. आर. एन. श्रीवास्तव लिखते हैं -'शैलीविज्ञान भी साहित्य को समझने-समझाने की एक दृष्टि है जो शैली के साक्ष्य पर एक ओर साहित्यिक कृति की संरचना और गठन पर प्रकाश डालती है और दूसरी ओर कृति का विश्लेषण करते हुए उसमें अन्तर्निहित साहित्यिकता का उदघाटन करती है।'[2] अपने चयन, विचलन, और समानांतरता आदि प्रतिमानों से शैलीविज्ञान साहित्यिक भाषा का विश्लेषण करता है। विचलन शैलीविज्ञान का एक महत्वपूर्ण प्रतिमान है। सामान्यतः विचलन का अर्थ है भाषिक नियमों का अतिक्रमण। अर्थात भाषा की नियमबद्ध व्यवस्था होती है। नियमबद्ध व्यवस्था के अनुरूप साहित्यकार भी भाषा का प्रयोग करते हैं। परंतु कभी-कभी साहित्यकार की अनूभूतियाँ सामान्य न होकर विशिष्ट होती है तब भाषा की यह नियमबद्धता साहित्यकार के लिए अनुपयुक्त लगती है। ऐसे समय में वह नियमों में बंधी भाषा को नया रंग-रूप देकर नियमोल्लंघन करता है। इसे ही विचलन कहा जाता है। अर्थात रचनाकार द्वारा भाषा के व्याकरणिक व्यवस्था का अतिक्रमण होता है।रचनाकार द्वारा सर्जनात्मकता के लिए किया गया यह विचलन सहेतुक होता है। केवल चमत्कार प्रदर्शन के लिए विचलन नहीं होता है। विचलन क्या है इसे स्पष्ट करते हुए भोलानाथ तिवारी ने विचलन को परिभाषित करते हुए कुछ उदाहरणों के माध्यम सेविचलन को समझाया है। तिवारी के अनुसार- 'सामान्य भाषा के नियम, बन्धन, चलन अथवा, पथ को छोड़कर नए का अनुसरण करना, नए पथ पर चलना ही विचलन (Divition) विपथन है।'[3] अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए तथा काव्य-सौंदर्य की निर्मिती के लिए रचयिता स्वछंदता को वरियता देता है, यही विचलन का उद्देश्य रहता है। विचलन भाषा के विभिन्न आयामों जैसे - मुद्रण, ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य, अर्थ आदि के स्तर पर होता है। ज्ञानेंद्रपति की कविताओं में विचलन विविध स्तरों पर घटित हुआ है, उसका विश्लेषण निम्नप्रकार से -

ध्वन्यात्मक विचलन से लयात्मकता, तुकसाम्य, छंद-निर्वाह आदि के साथ-साथ लेखकीय मंतव्य को पाठकों तक पहुँचाने हेतु ध्वनि विचलन की पूर्तता की जाती है। ध्वनि सेसंबंधित नियम, बन्धन आदि का उल्लंघन कर नये मार्ग पर चलना ध्वनि विचलन है। यथा- 'मुझे असीसतीं तुम्हारी आँखें/तुरत पसीजती तुम्हारी आँखें/चितवनों से कर्षित कर मेरा चित्त/ प्रेम बीजतीं तुम्हारी आँखें।'[4] कथ्य पर बल प्रदान करने के लिए प्रस्तुत उदाहरण में 'आ' ध्वनि का लोप कर ध्वनि विचलन किया है। 'गंगातट, आटे की लोई/नान्ह-नान्ह गोली पोई/पूँग रहे हैं जलचर-नभचर/गंगा की मच्छी औ' गौरैया-कबूतर।'[5] इस उदाहरण में भी 'और' के स्थान पर 'औ' को रखकर ध्वनि का विचलन हुआ है। 'मालिक यानी मुखियाजी अक्सर उसे झिड़कते/स्साले तू/पंच का पुत्तर होके भी इत्ता बोदा काहे है और अट्टाहास करते/बघवा का बाप दुसाध टोली का मुखिया था।'[6] प्रस्तुत उदाहरण में 'स्साले' विचलनयुक्त ध्वनि है। एक 'स' के बदले दो 'स'का प्रयोग हुआ है। आक्रोश से मुख से 'साले' न निकलकर 'स्साले' (अधिक आक्रोश) निकलता है, उसी (बहुत आक्रोश) की मौन व्यंजना प्रित्यर्थ एक के जगह दो 'स' को रखा है। तथा अन्य दूसरे शब्दों में 'पुत्र' में ध्वनि आगम 'त्त'से भी ध्वनि विचलन हुआ है। यहाँ पर ध्वनि विचलन की सटीक योजना हुई है। 'नीम अँधेरे में मौलसिरी की छाँह-रँगे साँवले उजेले में/कमर की ऊँचाई पर/चमकते हुए दो चीनी मिट्टी के मूत्रपात्र, लंबी नलिकावाले।'[7] प्रस्तुत पंक्तियों में ध्वनि परिवर्तन से ध्वनि विचलन हुआ है। 'उजाले' के स्थान पर 'उजेले' का प्रयोग हुआ है जिसमें 'आ' के जगह 'ए' को रखा है।

कभी - कभी सर्जक भाषा प्रयोग करते हुए रूढ़ एवं मान्यताप्राप्त शब्दों के स्थान पर नये या परिवर्तित शब्दों को अपनाता है, इससे ही शब्द विचलन हो जाता है। शब्द विचलन मानवीकरण, नवनिर्मित शब्दों से होता है। यथा- 'मैलासुर के लिए कराल कार्तिकेय स्वरूप/ सांगीतिक से अधिक सांघातिक एक धमाके के साथ/स्क्रीनागमन का अभ्यस्त।'[8] 'स्क्रीनागमन' इस नए शब्द निर्माण द्वारा प्रस्तुत उदाहरण में शब्द विचलन हुआ है।

शब्द विचलन संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण, क्रिया-विशेषण आदि में भी घटित होता है। यथा - 'देखा था विधान-सभा की छत पर खडे. उस अदृश्य देव को-वही पुराना/निर्लिंग देव सारी बलियाँ जिसके खुले मुँह के इक्क/उजले दाँतों तक पहुँचती हैं।'[9] युगीन राजनीतिक घटनाक्रम पर प्रहार करने के लिए कवि ने संज्ञा विचलन किया है। प्रस्तुत उदाहरण में 'देव' किसी अन्य संज्ञा के विकल्प में प्रयुक्त है। 'कर्फ्यू ने कस रखी थीं। डाक-व्यवस्था की मुश्कें-/अमावस-पुते जंगली डाकू-सा सीने पर चढ़कर/ दंगादिल कर्फ्यू ने।'[10] कोई सजीव ही किसी सजीव की मुश्कें कस सकता है, कर्फ्यू नहीं। इस उदाहरण में कर्फ्यू पर मानवीय क्रियाव्यापारों का आरोपण कर संज्ञा विचलन हुआ है। अभिप्राय यह है कि दंगों की भयावहता अधिकता से स्पष्ट हो।

रचयिता जब प्रचलित सर्वनामों से हटकर, अथवा सर्वनाम का लोप कर उसे गुप्त रखता है तो वहाँ सर्वनाम विचलन प्रतिफलित होता है। अपनी रचना में सुंदरता की अभिव्यंजना के लिए रचनाकार सर्वनाम विचलन करते हैं। एक उदाहरण द्दष्टव्य है-

'तीरे नीमकश/उतर आओ भीतर/अंतस के अंत तक।'[11] इन पंक्तियों में 'तुम' सर्वनाम को गुप्त रखकर सर्वनाम विचलन की सर्जना कवि द्वारा हुई है। अगर सर्वनाम का प्रयोग हो जाता तो'तुम उतर आओ भीतर' इस प्रकार से पंक्ति हो जाती

विचलन जब क्रियाओं में घटित हो जाए तो वह क्रिया विचलन की संज्ञा पाता है। क्रिया विचलन के माध्यम से रचयिता पाठकों का ध्यान रचनात्मक कथ्य की ओर आकृष्ट करता है। ज्ञानेंद्रपति की कविताओं में क्रिया विचलन के उदाहरण बहुलता से मिलते हैं। कुछ उदाहरण द्दष्टव्य हैं - 'उपलाता बहता/खोलबन्द शिशु-शव वह/अबके दो कौवों को बुलाता है/अपने ऊपर।'[12] शव पर सजीवता का आरोपन कर कौवों को बुलाना क्रिया-विचलन की सटीक योजना हुई है। 'मेरे जागने से पहले/मेरे लिए इस दिन की चुनौतियाँ जग जाती हैं/मेरा इंतिजार करती हैं किसी नुक्कड़ पर।'[13] चुनौतियों का जगना, इंतजार करना आदि क्रिया के द्वारा दिन का मानवीकरण किया गया है। क्रिया-विचलन का सफल प्रयोग इस उदाहरण में हुआ है।

संज्ञा या सर्वनाम की विशेषता की ओर संकेत करने वाले शब्द विशेषण होते हैं। विशेषण में जब विचलन हो तो वह विशेषण विचलन हो जाता है। यथा- 'दुबली ठिठकी गंगा में मौजें भले न बची हों।'[14]वैसे देखा जाए तो दुबली, ठिठकी विशेषण मनुष्य, पशुओं के लिए के लिए उपयुक्त है। यहाँ पर कवि ने गंगा के लिए इन विशेषणों का प्रयोग कर विशेषण विचलन की सृष्टि की है। विशेषण विचलन से आज गंगामैया की जो सोचनीय स्थिति बनी है, उसी ओर पाठकों का ध्यान सहजता से जाता है। विशेषण विचलन से गंगा के साथ मानवीय संवेदना का योग बड़ा आकर्षक लग रहा है।

भाषा संबंधी मानक नियमों का उल्लंघन विचलन कहलाता है। अपनी बात कहने के लिए भाषा के मानक शब्दों की अपर्याप्तता जब महसूस हो तो रचयिता अमानक शब्दों, ग्राम्य शब्दावली, या प्राचीन साहित्य से शब्दों को अपनाता है तो वह मानक विचलन हो जाता है। ज्ञानेंद्रपति की कविताओं में मानक विचलन के कतिपय उदाहरण मिलते हैं। जैसे'पतंगों को छाँककर निकालते रहेंगे हौले हाथों/मल्लाह बच्चे/.../चप्पुओं को सन्नद्ध किए/अगोरते रहेंगे आकाश।'[15]इस उदाहरण में कवि ने अमानक लोकशब्द 'अगोरना' का प्रयोग कर मानक विचलन की सर्जना की है। 'कर्फ्यू में कैद/घर में बंद/कलाई पर घडी.गोदती रहेगी अबीत समय/राखी का फाहा जो बहन रखती है नेह से।'[16] प्रस्तुत उदाहरण में 'नेह' शब्द का प्रयोजन कर कवि ने अमानक विचलन किया है। भावों की कोमलता बनी रहे इसलिए कवि ने सहेतुक प्राचीन साहित्य में से 'नेह' शब्द अपनाकर मानक विचलन किया है। 'ईमत सोचिये कि आप कविता की/हरमुनिया बजायेंगे/त हम आगे बैठ कर हँडिया-सा माथा हिलाते/चले जायेंगे।'[17] 'यह' के जगह पर 'ई' का प्रयोग कवि ने भदेसपन को द्योतित करने के लिए किया है। 'तो' के स्थान पर 'त' का प्रयोग भी भदेसपन को द्योतित करता है। इस वाक्य का वाचक गँवई और भदेस मानसिकता वाला है, यह इस विचलन से प्रतित होता है।

वाक्य में जब विचलन हो जाए तो वह वाक्य विचलन कहलाता है। वाक्य विचलन मुख्यतः क्रम विचलन, अध्याहारपरक विचलन, अपूर्ण वाक्यगत विचलन में पाया जाता है।

भाषा कोई भी क्यों न हो उसमें ध्वनि, शब्द, वाक्यरचना आदि का एक निश्चित क्रम होता है। जब रचनाकार इसी क्रमबतद्धता का उल्लंघन करता है तो वह क्रम विचलन कहलाता है। ज्ञानेंद्रपति ने भी अपनी कविताओं में भाषा की क्रमबद्ध व्यवस्था का कहीं-कहीं उल्लंघन कर रचनात्मक भावों की सुंदरता प्रित्यर्थ क्रम विचलन की सृष्टि की है। क्रम विचलन के कुछ उदाहरण प्रस्तुत है - 'मैं दूर तक गया धकेला था।'[18] हिंदी भाषा की वाक्यरचना का कर्ता+कर्म+क्रिया का सार्थक क्रम होता है, उसी क्रम का प्रस्तुत वाक्यांश में अतिक्रमण होकर क्रम विचलन हुआ है। वाक्य इस प्रकार से होना चाहिए था कि- ' मैं दूर तक धकेला गया था। अब कम ही पड़ती है दिखायी वहाँ।'[19] इस वाक्य संरचना का भी संगतक्रम अनुचित है। क्रियापद को वाक्य के अंत में होना चाहिए था। क्रमगत वाक्य इस प्रकार से होना चाहिए था 'अब कम ही दिखायी पडती हैं वहाँ।'

अध्याहारपरक विचलन में वाक्य के अन्तर्गत अपेक्षित उपवाक्य या अंश का अध्याहार, लोप कर दिया जाता है। ज्ञानेंद्रपति की कविताओं में अध्याहारपरक वाक्य विचलन के उदाहरण भी बहुतायत से मिलते हैं। यथा - 'आवाज दे, भोला को बुलाएँगे पास।'[21] प्रस्तुत वाक्य में वाक्यपूर्ति के लिए आवश्यक वाक्यांश का अध्याहार हुआ है। वाक्य इस प्रकार होना चाहिए था - 'आवाज देकर, भोला को बुलाएँगे पास।' यहाँ अध्याहारपरक विचलन से वाक्यस्तर पर विचलन हुआ है।'गलियों से गुजर/निकलता हूँ जब सड़क पर/न चरिंदे, न परिंदे/दुकाने हैं बंद।'[22] इन्हीं पंक्तियों में क्रमशः कर, है आदि वाक्यांशों का अध्याहार हुआ है, जो वाक्य विचलन का परिचायक है।

निष्कर्षतः विचलन प्रतिमान के माध्यम से ज्ञानेंद्रपति की कविताओं का विचलन प्रतिमान द्वारा विश्लेषण करने के पश्चात निष्कर्ष रूप मे यह स्पष्ट है कि सर्जक को अपनी अनुभूतियों की तीव्रता को भाषा के व्याकरणिक नियमों में बाँधकर अभिव्यक्ति करने की असुविधा महसूस होती है। उसके लिए अभिव्यक्ति की आवश्यकता होती है और अभिव्यक्ति का माध्यम भी भाषा होती है ऐसे समय वह नियमों का अतिक्रमण करता है, वही विचलन माना जाता है। ज्ञानेंद्रपति की कविताओं में ध्वनि विचलन - ध्वनि परिवर्तन, ध्वनि लोप, ध्वनि आगम से हुआ है। कवि ने संदर्भ विशेषानुरूप नए शब्दों, रूपों, का सार्थक प्रयोग किया है, ऐसे कई उदाहरण ज्ञानेंद्रपति की कविताओं में मिलते हैं। मानक विचलन द्वारा अपनी भाषा में ताजगी, नयापन लाने की सार्थक पहल कवि ने की है। शैलीवैज्ञानिक अध्ययन पद्धति किसी भी रचना का अध्ययन वस्तुनिष्ठता से करती है। भाषा के सर्वस्वीकृत नियमों का अतिक्रमण कर अपनी अनुभूतिजन्य संवेग को पाठक तक पहुँचाने हेतु कवि ने भाषिक संरचना को नये कलेवर में प्रस्तुत कर विचलन की सर्जना की है। कवि द्वारा विचलन युक्त भाषिक इकाइयों के प्रयोग से काव्य सौंदर्य में निखार आया है। कवि की कविताओं में भाषा के व्याकरणिक व्यवस्था का अतिक्रमण निरूद्देश्य नहीं बल्कि सोद्देश्य हुआ है।

संदर्भ-संकेत सूची-

1. डॉ.निश्चल ओम, शब्दों से गपशप, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2015, पृष्ठ 137, 2.श्रीवास्तव आर.एन., संरचनागत शैलीविज्ञान,आलेख प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1979, पृष्ठ 16, 3. तिवारी भोलानाथ, शैलीविज्ञान, किताबघर

प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2018, पृष्ठ 49, 4. ज्ञानेंद्रपति, मनु को बनाती मनई, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2013, पृष्ठ 112, 5.ज्ञानेंद्रपति, गंगातट, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2000, पृष्ठ 19, 6. ज्ञानेंद्रपति, भिनसार, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006, पृष्ठ 69, 7. ज्ञानेंद्रपति, गंगातट, पृष्ठ 139, 8. ज्ञानेंद्रपति, गंगातट, पृष्ठ 21, 9.ज्ञानेंद्रपति, भिनसार, पृष्ठ 107, 10.ज्ञानेंद्रपति, गंगातट,पृष्ठ 74/75, 11.ज्ञानेंद्रपति, मनु को बनाती मनई,पृष्ठ 113, 12.ज्ञानेंद्रपति, गंगाबीती, पृष्ठ 32, 3. ज्ञानेंद्रपति, कविता भविता, पृष्ठ 56, 14. ज्ञानेंद्रपति, गंगाबीती, पृष्ठ 20, 15. ज्ञानेंद्रपति, गंगातट, पृष्ठ 22, 16.ज्ञानेंद्रपति, मनु को बनाती मनई, पृष्ठ 24, 17.ज्ञानेंद्रपति, भिनसार, पृष्ठ 33, 18.ज्ञानेंद्रपति, संशयात्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2004, पृष्ठ 220, 19. ज्ञानेंद्रपति, गंगाबीती, सेतु प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 103, 20. ज्ञानेंद्रपति, कविता भविता, सेतु प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2020, पृष्ठ 77, 21. वही, गंगातट, पृष्ठ 39, 22. वही, गंगातट, पृष्ठ 77

हिंदी विभाग
सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय, पुणे

मनुष्यता का अकाल और जसिंता की कविता

अपर्णा ए.

'कविता मनुष्यता की मातृभाषा है।' (कार्ल मार्क्स) इस उक्ति से होकर गुजरने पर हमारे जेहन में मातृभाषा क्या है? और मनुष्यता क्या है? इन दो सवालों का उठना बहुत ही स्वाभाविक बात है। इनमें पहली जिज्ञासा के समाधानार्थ हम यह कह सकते हैं कि मातृभाषा मनुष्य की भाषाई अस्मिता या पहचान है। मातृभाषा के जरिए ही शब्दों की या भाषाई दुनिया में मानव का प्रवेश होता है। वह मनुष्य की सर्वप्रथम भाषाई हार्दिक अभिव्यक्ति का भी नाम है। आगे मनुष्यता क्या है? इस प्रश्न पर चिंतन-मनन करने से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्यता मानव मात्र तक सीमित रहना बिल्कुल भी नहीं है, बल्कि उसको मनुष्य और मनुष्येतर तत्वों के प्रति मनुष्य के भावात्मक-रागात्मक लगाव/चिंता के रूप में व्याख्यायित कर सकता है। अर्थात् धरती के समस्त चर-अचर मनुष्यता की व्यापक परिकल्पना के भीतर समाहित हैं। यहाँ ध्यातव्य की बात यह है कि मनुष्यता अपने आप से नहीं बल्कि अपने से इतर के प्रति चिंता है। आदिकाव्य रामायण इसी 'पर' चिंता की उपज है। अतः कविता को निस्संदेह मनुष्यता की मातृभाषा मानी जा सकती है। वर्तमान समय इसका साक्षी है कि आज पूरे वैश्विक वातावरण में मनुष्यता के अभाव का दुस्समय चल रहा है। इसलिए आज मनुष्य सहित संपूर्ण प्रकृति का अस्तित्व महा विपत्ति में पड़ गया है। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि बिना मनुष्य व मनुष्यता के प्रकृति का कोई अस्तित्व नहीं है, बल्कि यह है कि अमानवीयता प्रकृति के लिए न्यूनाधिक तौर पर दोषकारी एवं खतरनाक सिद्ध होती है। अतः निस्संदेह यह कहा जा सकता है कि आजकल पारिस्थितिक, सामाजिक, सांस्कृतिक धरातलों पर दर्शित अनगिनत समस्याओं के मूल में मनुष्यता के सूखेपन से उपजी हिंसात्मकता या फिर ध्वंसात्मकता का तांडव है। ऐसे माहौल में आज के कवि और उनकी कविता मनुष्य को उसकी सार्थकता या मनुष्यता की नमी तक ले जाने में निरंतर प्रयत्नरत हैं। क्योंकि मानवीयता के संचार-प्रसार ही कविता के परम ध्येय और प्रेय हैं। समकालीन कवयित्री जसिंता केरकेट्टा भी अपनी कविताओं के द्वारा मनुष्यता के मरुस्थलीकरण से आतंकित वर्तमान जीवन परिदृश्य को उजागर करती हैं और मानवीयता की उर्वरता से धरती को पुनः सींचने का प्रयास करती हैं। 'अंगोर', 'जड़ों की जमीन', 'ईश्वर और बाजार' जैसे अपने काव्य संग्रहों के माध्यम से वे अमानवीय ताकतों के प्रतिपक्ष में खड़ी होकर प्रेम का पक्ष लेती हैं और मनुष्यता या मानवीयता की ज्योति को बरकरार रखने के भगीरथ प्रयत्न में सक्रिय भागीदारी निभाती हैं। इस शोधालेख के जरिए अमानवीयता से जख्मी प्रकृति एवं प्राकृतिक परिवेश के प्रति उनकी 'ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान' (मुक्तिबोध के शब्द) पर जोर दिया जाएगा।

यह तो सर्वविदित है कि आज का युग 'विकासवाद' (उद्योगवाद), पूँजीवाद, बाजारवाद, उपभोगवाद इत्यादि का है। बारीकी से सोचने-समझने-विचारने से यह स्पष्ट होता है कि ये सब अमानवीयता के बहुआयामी रूप या शक्ल हैं। अतः इन दानव शक्तियों की पकड़ में फँसकर आज मनुष्य से उसकी मनुष्यता मिटती जा रही है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो विकासवादी, पूँजीवादी, बाजारवादी, उपभोगवादी ताकतों के

पीछे पागल मनुष्य के सम्मुख प्राकृतिक तत्व एवं नैतिक मूल्यों का कोई मायना नहीं रहा है। परिणामतः प्रकृति अपनी सहजता, स्वाभाविकता, नैसर्गिकता, सृजनात्मकता आदि से पृथक्कृत होती है। फलतः उसका जैविक (नैसर्गिक) ताल/लय भंगित होती है। वर्तमान समय की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि आज धरती के संपूर्ण तत्व इस क्रम भंगिता से जूझने को विवश हैं। कवयित्री ने अपनी कविताओं के द्वारा वर्तमान समय की इस अस्वाभाविकता-असहजता की मार्मिक अभिव्यक्ति देने का भरपूर प्रयास किया है। उनकी 'सभ्यताओं के मरने की बारी' शीर्षक कविता इसके लिए एक उत्तम मिसाल है। काव्य पंक्तियाँ हैं- 'ऑक्सीजन की कमी से/बहुत सी नदियाँ मर गईं/पर किसी ने ध्यान नहीं दिया/कि उनकी लाशें तैर रही हैं/मरे हुए पानी में अब भी।'[1] यहाँ पर ऑक्सीजन की कमी वास्तव में अमानवीयता का ही अंजाम है। साथ ही इन पंक्तियों से गुजरने पर यह भी द्दष्टव्य होता है कि कविता के चित्रपट पर मृत्यु संबंधी बिंबात्मकता से त्रस्त वर्तमानता का प्रतिबिंब अंकित है। कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें गंगा जैसी भारतीय नदियों के वर्तमान और भविष्य अनुगूँजित हैं। नदियों की इस वर्तमान बदहाली से रूबरू होकर कवयित्री एक दूसरी जगह पर मानव एवं मानवीय क्रिया-कलापों के समक्ष प्रश्नवाचक चिह्न छेड़ती हैं कि 'तुम तक ही आते-आते/क्यों इतनी गंदी हो जाती है गंगा?।'[2] इसका जवाब यह है कि सुख-सुविधा, संपन्नता, लाभेच्छा आदि के प्रति मनुष्य की अति संपृक्त वासना से उपजी हिंसात्मक वृत्ति को ढोने में आज हमारी नदियाँ पूर्णतः अभिशप्त हैं। आज के जीवन परिवेश के समग्र आकलन-अवलोकन से यह व्यक्त होता है कि केवल नदियाँ ही नहीं बल्कि संपूर्ण प्रकृति की स्थिति आज इससे भिन्न नहीं है।[3] इस प्रकार जसिंता की कविता वर्तमान परिस्थितियों से संवाद स्थापित करती हुई बेरंग होती प्रकृति को बखूबी ढंग से उकेरती है। इसका एक बहुत बड़ा सिलसिला ही उनकी कविता में द्दश्यमान है। जैसे, 'टाँग दी गई है/बारिश की लाश/किसी पेड़ पर/ठीक जंगल के ऊपर/तश्तरी सा आकाश/गिद्धों से पट रहा है/और नदियों की आँखों से/खून आँसू बन बह रहा है।'[4] यहाँ पर यह भी विचारणीय है कि उनकी कविताओं में 'लाश' शब्द का बार-बार प्रयोग हुआ है, जो एक प्रकार से प्रकृति के सर्वस्व में निहित जैविकता व जीवंतता के स्वीकार की सिफारिश करती है। इसके साथ ही लाशों के इस आधिक्य के पीछे क्रियाशील कारण की खुलासा करती हुई एक अन्य परिप्रेक्ष्य में कविता खुद कहती है कि 'नोंच खाने की जिनकी प्रवृत्ति हो/ऐसी- गिद्ध द्दष्टि/लाशें ही तलाश सकती हैं!'[5] यानि प्रकृति के प्रति मनुष्य के अनाचार या अमानवीयता अंततोगत्वा मृत्यु में ही समाप्त होती है।

विकास एक ऐसा शब्द है, जो पहले गुणात्मक परिवर्तन का सूचक था, किंतु आज वह अंधकार व अकाल मृत्यु के द्योतक बन गए हैं। इसका कारण यह है कि आजकल विकास के नाम पर संपूर्ण प्रकृति चारों ओर से दमन-शोषण की शिकार है। इसलिए उनकी कविता ऐसी बोल उठती है कि 'विकास की बंदूक से/निकलती गोलियाँ/धंसती हैं सबसे पहले/मिट्टी के माथे पर/जंगल की जांघ पर/गाँव की पीठ पर/और चिड़ियों की आँख पर।'[6] बस इतना ही नहीं विकास के पीछे की इस वास्तविकता से टकराकर कविता विकास की आधुनिक परिभाषा भी गढ़ती है, जैसे, 'चौड़ी सड़कों के लिए हजारों

पेड़/दे रहे हैं अपनी कुर्बानी/क्या अब भी चाहिए तुम्हें/विकास की कोई परिभाषा?/नई सड़कें बतलाती हैं/विकास के नाम पर ही/उखाड़ी जा सकती हैं जड़ें/पेड़ और आदमी दोनों की।'[7] शहरीकरण विकास या विकास परियोजनाओं के तहत आने वाली एक विद्रूपता है, जो हमेशा प्रकृति को तहस-नहस करती रहती है। इस बात को सत्यापित करने के लिए कवयित्री काव्य यात्रा के जरिए एक ऐसे शहर की तलाशी लेती हैं जिसने घास और फूलों के लिए अपने प्राण गँवाए हो।[8] यहाँ पर उनका आशय सिर्फ.यह है कि दुनिया भर में एक ऐसा शहर अप्राप्य है, जो प्रकृति का हिमायती हो। यानि शहरीकरण या नगरीकरण प्रकृति और उसके नियमों के बिल्कुल खिलाफ है। इसका काव्यात्मक स्पष्टीकरण समकालीन कवि ज्ञानेंद्रपति के यहाँ भी उपलब्ध है। जैसे, 'नगर के बसने के बाद/नगर के किनारे से/नदी बहती है।'[9] विकास और शहरीकरण के संहारात्मक रूप को ध्वनित करने वाली उक्त कविताएँ प्रमाणित करती हैं कि आजकल की विकास योजनाएँ मनुष्यता की प्रतिद्वंद्वी साबित होती हैं। अतः कविता विकासवादी आधुनिक मनुष्य से यह सवाल पूछती है कि 'कैसा धर्म है तुम्हारा?/आपस में तो लड़ मरते हो/प्रकृति जो तुम्हें पालती है/उसको भी नहीं छोड़ते हो।'[10] यानि आजकल मनुष्य विकासवादी होकर अमानवीयता का पक्षधर बन गया है। मनुष्य को ऐसा बनाने में पूँजी एवं पूँजीवादी ताकतों का योगदान भी नगण्य नहीं है। कवयित्री ने अपनी 'नदी और लाल पानी' शीर्षक कविता में पूँजीवादी हस्तक्षेप से मैली-कुचैली नदी की तस्वीर खींचती है। इस प्रकार यह कविता पूँजीवादी शक्तियों के आगे सवालिया चिह्न खड़ी करती है कि 'कोको-कोला बनाकर/तुमने उसे ठंड का मतलब बताया/तो अब दुनिया को भी बताओ/सारंडा के नदी-नालों में बहते/लाल पानी का मतलब क्या है?।'[11] कविता के सूक्ष्म-समग्र अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि नदी में प्रवाहित लाल पानी पूँजीवादी नृशंसता की उपज है। आधुनिक बाजार पूँजीवाद की आधार शिला या आधार स्तंभ है। अतः वह भी अमानवीयता का सहकर्मी व सहधर्मी है। प्रकृति का बाजारीकरण इस बाजारवादी अमानवीयता का सर्वज्ञ पीठ है। कवयित्री की 'नदी, पहाड़ और बाजार' शीर्षक कविता प्राकृतिक तत्वों के बाजारू माल बनने के प्रति पाठकों की दृष्टि को सचेत बनाती है।[12]

ज्ञातव्य की बात है कि कविता प्रतिरोधात्मक संस्कृति की सृष्टि है। इसलिए वह प्रकृति के प्रति मनुष्य के भावविहीन-अक्रामक रवैया के प्रतिपक्ष में खड़े होकर भावुक-रागमय जुड़ाव की वकालत करती है। अतः कवयित्री की 'उससे मेरा संबंध क्या था?' शीर्षक कविता पेड़/प्रकृति के साथ भावपूर्ण, आत्मीय संबंध को वाणी दे रही है।[13] उनकी एक अन्य कविता 'पहाड़ों के लिए' में मनुष्य व प्रकृति के बीच के निस्वार्थ संबंध का उच्चतम रूप हम देख सकते हैं। पहाड़/प्रकृति के लिए अपनी जान तक की कुबार्नी देने वाली आदिवासी संस्कृति की ओर यहाँ कवयित्री का इशारा है।[14] इस प्रकार उनकी कविता प्रकृति की ओर मनुष्य की अमानवीय हरकतों पर सिर्फ.रोती-बिलखती नहीं है बल्कि एक काव्यात्मक दर्शन के द्वारा प्रकृति के साथ आत्मवत संबंध की माँग को भी बुलंद करती है। 'परवाह' शीर्षक कविता इसके लिए एक उत्तम दृष्टांत है। कविता की पंक्तियाँ हैं, 'माँ एक बोझा लकड़ी के लिए/क्यों दिन-भर जंगल छानती,/पहाड़ लाँघती,/

देर शाम घर लौटती हो?/माँ कहती है-/जंगल छानती,/पहाड़ लांघती/दिन-भर भटकती हूँ/सिर्फ.सूखी लकड़ियों के लिए।/कहीं काट न दूँ कोई ज़िंदा पेड़'।[15] यहाँ पर प्रकृति के प्रति आत्मीय संबंध के साथ प्रकृति में निहित जैविकता को मानने-स्वीकारने की बात भी मुखरित है। जैविकता के ये विशाल दर्शन व्यापक जैव-केंद्रित दृष्टि का ही नतीजा है। उनकी 'क्यों महुए तोड़े नहीं जाते पेड़ से' शीर्षक कविता में भी समानतः जैविकता की यही बात संवादात्मक शैली में अभिव्यंजित है। जैसे, 'माँ, तुम सारी रात/क्यों महुए के गिरने का इंतजार करती हो?/क्यों नहीं पेड़ से ही/सारा महुआ तोड़ लेती हो?/माँ कहती है/....पेड़ जब गुजर रहा हो/सारी रात प्रसव पीड़ा से/बताओ, कैसे डाल हिला दें जोर से? बोले,/कैसे तोड़ लें हम/जबरन महुआ किसी पेड़ से?/हम सिर्फ.इंतजार करते हैं/इसलिए कि उनसे प्यार करते हैं।'[16] इस प्रकार जसिंता की कविताएँ प्रकृति के प्रति मानवीय हिंसा के विरुद्ध होकर प्रकृति के कण-कण में जैविकता को देखती-परखती हैं और प्रकृति के साथ एक भावपूर्ण-अनुरागमय-मार्मिक रिश्ते की सीख भी देती हैं। क्योंकि वे यह पहचानती हैं कि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पृथ्वी में जीवन को स्वस्थ-सुंदर बनाए रखने के लिए मनुष्य केंद्रित स्वार्थपरक-संकुचित दृष्टि के बदले जैव केंद्रित व्यापक-विशालतम दृष्टि की यानि मनुष्यता की नितांत जरूरत है, बस इतना ही।

संदर्भ :

1. केरकेट्टा, जसिंता, ईश्वर और बाजार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2022, पृ. 36
2. केरकेट्टा, जसिंता, 'क्यों गंदी हो जाती है गंगा?', ईश्वर और बाजार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2022, पृ. 183
3. 'मेरे गाँव में आज/क्यों दूर तक पसरा/वह खालीपन है/कट गए हैं वह पेड़ पुराने/और/फैली दूर तक वीरानी है/वह नदी प्यारी/सिमट रही जो रेत की गोद में/उठते हैं धुएँ अब सीने से/पहाड़ों के/जलता है जंगल जार-जार/फटते हैं फिर/काले सोने की तलाश में/मासूम धरती माँ की कोख से शोले।'
   (केरकेट्टा, जसिंता, 'क्या लौटा सकोगे?', कवि मन जनी मन, संपादन. वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2019, पृ. 219)
4. केरकेट्टा, जसिंता, 'सारंडा के फूल', अंगोर, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2020, पृ. 20-22
5. केरकेट्टा, जसिंता, 'गिद्ध-दृष्टि', अंगोर, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2020, पृ. 24
6. केरकेट्टा, जसिंता, 'फैसलों का सच', जड़ों की जमीन, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2018, पृ. 36
7. केरकेट्टा, जसिंता, 'सच बोलती सड़कें', ईश्वर और बाजार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2022, पृ. 189
8. 'एक ऐसे शहर की तलाश में/भटकना चाहती हूँ मैं पृथ्वी पर/जिसने घास और फूलों को/बचाने के लिए/झोंक दी हो अपनी पूरी ताकत;/लड़ाई लड़ी हो कोई/घासों के लिए/प्राण गँवाये हों कभी/फूलों के लिए।'
   (केरकेट्टा, जसिंता, 'घास और फूलों के लिए', जड़ों की जमीन, भारतीय ज्ञानपीठ,

नयी दिल्ली, 2018, पृ.116)
9. ज्ञानेंद्रपति, 'नदी और नगर', भिनसार, सेतु प्रकाशन, नोएडा (उत्तर प्रदेश), 2023, पृ. 65
10. केरकेट्टा, जसिंता, 'हमारा हिसाब कौन देगा साब?', ईश्वर और बाजार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2022, पृ. 16
11. केरकेट्टा, जसिंता, कलम को तीर होने दो, संपादन. रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015, पृ. 189
12. 'नन्हीं पीढ़ी दौड़ीः हम आ गए बाजार!/क्या-क्या लेना है? पूछने लगा/दुकानदार।/भैया! थोड़ी बारिश, थोड़ी गीली मिट्टी,/एक बोतल नदी, वो डिब्बाबंद पहाड़/उधर दीवार पर टंगी एक प्रकृति भी दे दो/और ये बारिश इतनी महंगी क्यों?/दुकानदार बोलाः यह नमी यहाँ की नहीं!/दूसरे ग्रह से आई है/मंदी है, छटांक भर मँगाई है।'
(केरकेट्टा, जसिंता, 'नदी पहाड़ और बाजार', अंगोर, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2020, पृ. 28)
13. 'वो आम का पेड़/ठीक यहीं था सड़क किनारे/जहाँ से मुझे हर दिन/बस पकड़नी होती/बस जब तक पहूँचती नहीं/वह मुझे तंग करता/पहले मेरी ओर एक आम फेंकता/मैं खुश होकर जैसे ही दाँत गड़ाती/ 'ये तो थोड़े खट्टे हैं' गुस्से में बोलती/वह हँसता/तुम बस में सोती रहती हो न!/यह नींद भगाने के लिए था/अच्छा अब मीठे आम गिराता हूँ/सच्ची में!/और तब तक बस आ जाती।'
(केरकेट्टा, जसिंता, ईश्वर और बाजार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2022, पृ. 133)
14. 'थोड़े से पैसे के लिए /जो अपना ईमान बेचते हैं /वे क्या समझेंगे /पहाड़ों के लिए कुछ लोग /क्यों अपनी जान देते हैं।'
(केरकेट्टा, जसिंता, ईश्वर और बाजार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2022, पृ. 181)
15. केरकेट्टा, जसिंता, जड़ों की जमीन, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2018, पृ. 160
16. केरकेट्टा, जसिंता, 'क्यों महुए तोड़े नहीं जाते पेड़ से?', ईश्वर और बाजार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2022, पृ. 141

शोधार्थी, हिंदी विभाग
कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय
कोच्चिन, केरल- 682022

विराट व्यक्तित्व के साहित्यकार : देवेश ठाकुर

- डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट

देवेश ठाकुर का बचपन पिता के गाँव में नहीं बल्कि माँ के गाँव पैठानी (अल्मोड़ा उत्तराँचल) में बीता। उनके पिता ने अपना गाँव बचपन में ही छोड़ दिया था, जिसका नाम दाड़िम था। उनके पिता पुलिस विभाग में नौकरी करते थे और गर्मियों की छुट्टी में वे हमेशा माँ के गाँव पैठनी ही जाया करते थे। इनका आराम्भिक जीवन बड़ा ही कठिन एवं संघर्षमय रहा है। उनकी आरंभिक शिक्षा श्रीनगर (गढ़वाल), पैठानी के बटूलिया चाँदपुर (बिजनौर), नगीना (बिजनौर) में हुई। वे अपने परिवार के साथ दसवीं पास करने तक हर साल गाँव जाया करते थे। धीरे-धीरे परिवार में बढ़ते आर्थिक तंगियों के चलते उनका गाँव आना-जाना बंद हो गया। ऐसा बिल्कुल नहीं है कि उनको अपना गाँव याद नहीं आता है बल्कि वे पारिवारिक विघटन के चलते गाँव जाने का साहस नहीं जुटा पाते थे। वैसे आज भी अवकाश और एकांत के क्षणों में वे अपने गाँव को जीते हैं। वे बताते हैं कि उनके ननिहाल के किनारे एक पहाड़ी नदी बहती थी वे वहाँ नहाने और मछली पकड़ने जाया करते थे। उन्हें मामा के साथ खेतों में हल चलाने बीज बोने और पटेला चलाने में बड़ा मजा आता था। तत्श्चात देहरादून के डी. ए. वी. कॉलेज से बी. ए और एम. ए. किया। सन् 1951 से 1955 तक का काल उनके आर्थिक संकट के सबसे कठिन दिन थे। इस दौरान अपना खर्च जुटाने के लिए उन्होंने ईंट के भट्टों, कॉलेज के साइकिल स्टैंड और होटल में नौकरी की। दस-दस, पंद्रह-पंद्रह रुपयों की ट्यूशनें तथा कोचिंग क्लास में शिक्षण करने के बावजूद उधार, उपवास, अपमान और उपेक्षा भरा जीवन व्यतीत किया।

शिक्षा समाप्त कर हरगनपुर (बुंदकी के निकट) गाँव के चौधरी के जूनियर स्कूल में नौकरी के लिए गए लेकिन एक हफ्ते बाद ही अयोग्य घोषित हो गए। उसी दिन यह संकल्प लिया कि अब केवल अध्यापक ही बनना है। तत्पश्चात नजीबाबाद के एक (प्राइवेट) पब्लिक हाई स्कूल में 40 रु. माहवार पर मास्टरी शुरू कर दी। अक्टूबर 1955 में देवेश जी की डिफेंस सर्विसेज के टैस्ट ऑडिट विभाग में टैस्ट ऑडिटर के रूप बम्बई के कार्यालय में नियुक्ति हुई लेकिन मन के अनुकूल काम न होने के कारण मई 1956 को डिफेंस सर्विसेज से इस्तीफा दे दिया। जुलाई 1956 में बंबई के सरकारी सिडनहम कॉलेज में सहायक प्राध्यापक के रूप में नियुक्ति हो गई। देवेश जी बताते हैं कि नौकरी लगने के बाद उन पर माता-पिता और भाई-बहनों की जिम्मेदारी आ पड़ी थी। उन दिनों उनके परिवार की आर्थिक स्थिति बहुत खराब चल रही थी और उनसे परिवार वालों की अपेक्षाएँ बढ़ती जा रही थी। उस समय उन्हें मुंबई के एक सरकारी कॉलेज में 250 रुपए माहवार पर प्राध्यापकी मिली। इसमें से वे 100 रुपए पिताजी को नजीबाबाद और 50 रुपए अपने छोटे भाई को देहरादून भेजते थे तथा 100 रुपए में मुंबई जैसे शहर में अपना खर्च चलाते थे। इसके बावजूद वे भविष्य के अच्छे दिनों की आशा में सभी मुश्किलों और अभावों को खुशी खुशी झेलते रहे।

देवेश ठाकुर ने सितम्बर 1958 को सागर विश्वविद्यालय में पं. नन्ददुलारे वाजपेयी

के निर्देशन में पी-एच. डी. की उपाधि के लिए पंजीकृत किया। अक्टूबर 1959 में बम्बई विभाजन के बाद इनका तबादला गुजरात के धर्मेंद्र सिंह जी कॉलेज में हो गया। जून 1960 में धर्मेंद्र सिंह जी कॉलेज से इस्तीफा देने के पश्चात फिर से बम्बई लौटना हुआ और एक बार फिर से नौकरी की खोज में जुट गए। जून 1960 में इनकी नियुक्ति मुंबई के प्रसिद्ध महाविद्यालय रामनारायण रुइया कॉलेज में हिंदी प्राध्यापक के रूप में हुई। 1961 में उनकी शादी हुई और साथ ही पूरा परिवार (माता-पिता, दो भाई, बहिन) मुंबई आ गए। इसी के साथ उनके जीवन में टुच्ची स्थितियाँ उभरने लगीं जो आम मध्यवर्गीय परिवारों की नियति है। दरअसल, सारी गलतफहमी और समस्या बहन के मुम्बई आने, उसके नौकरी करने और 'कमाऊ' होने का दर्प के चलते उभरनी शुरू हुई। वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि इस तरह की स्थितियाँ अक्सर परिवार में जन्म लेती हैं लेकिन इस सबके साथ-साथ उनकी बहन में जो वाचालता और कृतघ्नता उभरी वह उनके लिए असहनीय थी। वे कहते हैं - 'अपने देहरादून आवास के निपट अभाव के दिनों में जिन मित्रों के घर मैंने एक समय भी खाना-खाकर अपना भूखा पेट भरा है, उनके प्रति में आज भी कृतज्ञ हूँ।' (देवेश ठाकुर प्रश्नों के घेरे में -डॉ भानुदेव शुक्ल, प्रथम संस्करण 1986, पृष्ठ -13, संकल्प प्रकाशन, मेरठ) जून 1961 में सागर विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. पूर्ण की। इसी वर्ष पंडित जी की प्रेरणा से उनके ही सुपरविजन में डी. लिट्. के लिए पंजीकृत किया। 31 दिसम्बर 1962 को पहली बेटी आभा का जन्म मेरठ में हुआ। 11 दिसम्बर 1963 में दूसरी बेटी आरती का जन्म बम्बई में हुआ। आभा आज विश्व के शीर्ष डॉक्टरों में से एक हैं। आरती मुंबई के ही एक कॉलेज में प्रोफेसर के पद पर कार्यरत हैं। सन् 1971 में सागर विश्वविद्यालय से इन्हें डी. लिट्. की उपाधि मिली। अपने सेवा काल में इन्होंने चौदह शोधार्थियों को पी-एच. डी. उपाधि के लिए तथा तीन विद्यार्थियों को एम. फिल. की उपाधि के लिए सफल निर्देशन किया।

देवेश जी के पिता के निधन को अभी 2 दिन ही बीते थे कि बहन का मुंबई में आगमन हुआ। घर पर आते ही उसका पहला वाक्य था कि मैं इस छोटे से घर में किस कमरे में रहूँगी। उस समय कोई कुछ नहीं बोला। देवेश जी ने उसकी नौकरी एक स्कूल में लगवा दी। उस समय एक अध्यापक का वेतन 200 रुपए से कुछ कम ही था। उसने पहला वेतन पाने से पहले ही यह घोषणा कर दी कि 100 रुपए उसे अपनी जेब खर्च के लिए चाहिए। यह सुन देवेश जी सन्न रह गए। इस तरह की टुच्ची बातें देवेश जी को टेंशन देने लगी। एक भाई के कारण पहले से ही वे टेंशन में थे और फिर माँ द्वारा बहन की हर बात पर झूठ बोलने और बहन का पक्ष लेने, उसका बचाव करने की प्रवृत्ति से उनमें तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न होने लगी। इन सभी तनावों के चलते 1969-1970 में उनको पहली बार दिल का दौरा पड़ा। तब उन्हें अपने छोटे-छोटे बच्चों के भविष्य की चिंता होने लगी। उनकी पत्नी भी घर चलाने के लिए उनके तरह ही उनके साथ खट रही थी। लेकिन उनकी पत्नी के मुँह से कभी शिकायत का एक शब्द भी नहीं निकला। तब वे एक बड़ा निर्णय लेते हैं और कहते हैं-'मैं मनुष्य हूँ और मनुष्य होने के नाते सारी अच्छाइयाँ या बुराइयाँ मुझ में हैं। अपनी बुराइयों को भी मैं नहीं छुपाता न अपने परिवार से, न अपने विद्यार्थियों से और मित्रों से तो छुपाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठाता। मैं

सबके सम्मुख स्पष्ट हूँ। अंदर बाहर के बीच कोई फर्क नहीं है। मैंने अपनी कमजोरी को सबके सामने स्वीकार किया है। उनके पक्ष समर्थन में न सिद्धांत और बहाने खोजे न उन पर गर्व किया और न ही उनको ग्लोरिफाई करने की कोशिश की जैसा कि अधिकांश बुद्धिजीवी करते हैं।' (देवेश ठाकुर प्रश्नों के घेरे में -डॉ भानुदेव शुक्ल, प्रथम संस्करण 1986, पृष्ठ -13, संकल्प प्रकाशन, मेरठ)

देवेश ठाकुर ने किशोरावस्था से ही अभावों विषमताओं और संघर्षों को देखा ही नहीं, उन्हें बड़ी गहराई से जिया भी है। उनकी अनुभव-यात्रा भी काफी लंबी रही है। उन्होंने जीवन के सिद्धांत कमरे में बैठकर नहीं गढ़े-अपने अनुभव के निष्कर्ष को जीते हुए अर्जित किए हैं। वे कहते हैं -'मैं स्वभाव से मानवीय हूँ - बहुत मानवीय हूँ अवश्य, लेकिन इसके साथ ही इस ओर से भी सावधान रहता हूँ कि मेरी मानवीयता और संवेदनशीलता का कोई गलत फायदा न उठा पाए।' (देवेश ठाकुर प्रश्नों के घेरे में -डॉ भानुदेव शुक्ल, प्रथम संस्करण 1986, पृष्ठ -14, संकल्प प्रकाशन, मेरठ) देवेश ठाकुर अपने कटु अनुभवों के चलते एक 'स्टैंड' लेते हैं और उसी को आधार मानकर और अधिक उत्साह के साथ इससे शक्ति और प्रेरणा लेते हैं।

परिवार को लेकर देवेश ठाकुर की एक अलग अवधारणा रही है। वे पुत्रेच्छा को सामंती प्रवृत्ति का प्रतीक मानते हैं। उनका मानना है संतान, संतान होती है। उसे बेटे और बेटी के रूप में विभाजित करना अपनी ही संतान के प्रति अन्याय करना है। देवेश ठाकुर के जीवन में असफलताओं का अच्छा खासा भंडार है। वे इसका श्रेय उनके जीवन में साधनहीन परिवेश, उनकी स्पष्टवादिता और अक्खड़पन को ही अधिक मानते हैं। लेकिन इन सब के बावजूद उन्होंने कभी हिम्मत नहीं हारी और जीवन के शिखर को छूने में सफल रहे।

देवेश जी अपने लेखक बनने में परिवेश का हाथ मानते हैं। जब उन्हें एम. ए. के दौरान लिखने पढ़ने वाले साथियों का साथ मिलता है और बाद के वर्षों में वे आचार्य नंददुलारे वाजपेई जैसी विद्वानों के संपर्क में आते हैं साथ ही शैलेश मटियानी जैसे लेखकों से मित्रता होती है जो होटल की प्लेटें साफ करते हुए भी अपनी रचना धर्मिता को प्रशस्त करते रहे। शैलेश मटियानी के संबंध में देवेश जी कहते हैं -'शैलेश मटियानी जब होटल से आकर अपनी कोई रचना हमें सुनता था, तो लेक़रर होने के बावजूद, मैं अपने को उससे कहीं छोटा अनुभव करता था। तब लेखक का महत्व मेरे सामने स्पष्ट होता था और फिर किसी एक क्षण में मैंने भी यह निर्णय ले लिया कि मुझे भी लेखक बनना है।' (देवेश ठाकुर प्रश्नों के घेरे में -डॉ भानुदेव शुक्ल, प्रथम संस्करण 1986, पृष्ठ -21, संकल्प प्रकाशन, मेरठ) इस प्रकार देवेश ठाकुर लेखक बनने की प्रक्रिया में आगे बढ़ते रहे और आज वे लेखन के शिखर को छू गए हैं।

देवेश ठाकुर जी के विचार कुछ बातों को लेकर एकदम साफ थे जैसे देवेश ठाकुर ने पैसों को कभी महत्व नहीं दिया। वह कभी भी पैसे वालों के सामने स्वयं को छोटा महसूस नहीं करते थे बल्कि जब कोई महान व्यक्तित्व उनके सामने आ खड़ा होता, तब वे स्वयं को छोटा महसूस करते थे। वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि 'मैं छोटा आदमी हूँ, मेरी छोटी-छोटी इच्छाएँ हैं, और छोटे-छोटे लक्ष्य हैं। और यह सारी चीजें मैं अपनी

कमाई से अच्छी तरह पूरी कर लेता हूँ।' (देवेश ठाकुर प्रश्नों के घेरे में -डॉ भानुदेव शुक्ल, प्रथम संस्करण 1986, पृष्ठ -22,) देवेश ठाकुर जहाँ एक तरफ प्रतिभाशाली होने का दवा बिल्कुल नहीं करते हैं, वही दूसरी तरफ वे कहते हैं कि उन्होंने अपने परिष्कार के लिए श्रम कम नहीं किया है साथ ही इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि यदि मेरा श्रम सार्थक हुआ है तो निश्चित ही उसमें विवेक का योग भी होगा। देवेश जी को अपनी इस साहित्यिक यात्रा के दौरान काफी संघर्ष करना पड़ा। पहले तो उन्हें मुंबई में अपने पैर जमाने और रोजगार के लिए और दूसरे समाज में परिव्याप्त आचारहीनता के प्रति। डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में - 'गरीब का सबसे भयंकर शत्रु उसका पेट होता है। गरीब का दूसरा दुश्मन उसका सिर है, जो झुकना नहीं चाहता।' (देवेश ठाकुर व्यक्तित्व और रचनाकार- डॉ. बी. सत्यनारायण, पृष्ठ-11 प्रथम संस्करण जनवरी 2003, संकल्प प्रकाशन मुंबई) द्विवेदी जी का यह कथन देवेश जी पर एकदम फिट बैठता है। वे भी गलत बातों के आगे कभी नहीं झुकते हैं। तथाकथित साहित्यकारों ने उन्हें मुख्य धारा में शामिल नहीं किया।

लेखक के महत्व को लेकर देवेश जी के विचार सामान्य हैं। उनका मानना है कि विचार से लेखक भी अन्य सामाजिकों के समान ही होता है लेकिन व्यावहारिक स्तर पर सारी समानताओं के बावजूद, वह किसी बिंदु पर (यह बिंदु संवेदनशील और दृष्टि संपन्नता का बिंदु है) विशिष्ट भी होता है। दूसरे शब्दों में लेखक संवेदना और रचनात्मक दृष्टि संपन्नता के स्तर पर सामान्य जन से भिन्न और विशिष्ट होता है। उसकी चार-पांच घंटे में लिखी गई रचना को हजारों लोग पढ़ते और अपने सैंकड़ों घंटे देते हैं। ऐसी स्थिति में पाठक को उसे रचना से कुछ रचनात्मक तो मिलना ही चाहिए। और यह रचनात्मक दृष्टि और प्रेरणा तभी मिल सकती है, जब लेखक के अपने कुछ सामाजिक मूल्य हों। सामाजिक मूल्यों से संपन्न रचनाकार ही लंबे समय तक पाठकों के मन में जीवित रहता है। सो, देवेश ठाकुर लेखक की दृष्टि की रचनात्मकता और स्वस्थ जीवन मूल्यों को ही सर्वाधिक महत्व देता है।

देवेश ठाकुर कहते हैं कि यदि कोई लेखक स्पष्ट रूप से सामाजिक प्रश्नों को नहीं उठाता तो निश्चित रूप से नितांत व्यक्तिपरक अनुभूतियों को ही अभिव्यक्ति देगा। और मेरे द्वारा लिखा गया साहित्य अपने लिए नहीं, बल्कि सामाजिकों के लिए लिखा जाता है। यदि किसी लेखक की व्यक्तिपरक अनुभूतियों का समाजीकरण नहीं होता तो उसे मैं महान तो क्या, सफल लेखक और उसके लेखन को सार्थक लेखन मानने में भी संकोच का अनुभव करूँगा।

यदि हम देवेश ठाकुर के रचनात्मक लेखन की बात करें तो वे बताते हैं कि रचनात्मक लेखन कि प्रेरणा उन्हें किसी देशी-विदेशी लेखक से नहीं बल्कि अपनी परिस्थितियों और अनुभव से मिला है। समीक्षा को वे उस तरह का रचनात्मक लेखन नहीं मानते हैं। अगर उनके समीक्षात्मक लेखन को भी रचनात्मक लेखन में शामिल करें तो उनका सीधा स्पष्ट उत्तर होगा कि 'मैं आचार्य नंददुलारे वाजपेयी से सर्वाधिक प्रभावित रहा हूँ, उनके व्यक्तित्व के निकट आने के बाद ही मुझे यह प्रेरणा मिली कि मुझे एक अच्छा सफल और ईमानदार शिक्षक और अध्येता तथा प्रभाव छोड़ने वाला

समीक्षक बनना चाहिये। और इसके लिए मैंने उनके निकट आने के लगभग तुरंत बाद प्रयास आरंभ कर दिया था।' (देवेश ठाकुर प्रश्नों के घेरे में -डॉ भानुदेव शुक्ल, प्रथम संस्करण 1986, पृष्ठ -41, संकल्प प्रकाशन, मेरठ)

वे बताते हैं कि एम. ए. के दिनों में कॉलेज और शहरों के कवि सम्मेलनों ने अवश्य उन्हें कविता करने की प्रेरणा दी। उन दिनों (1954-1955) में बच्चन, रामनाथ अवस्थी, अंचल, देवराज दिनेश और नीरज आदि कवि अत्यधिक लोकप्रिय थे। अपने अन्य साथियों की भाँति देवेश जी भी बच्चन से काफी प्रभावित हुए और उन्होंने भी छंदों में (विशेष रूप से 'मिलन यामिनी' के छंदों में) कविता घसीटनी शुरू कर दी और दोस्तों से एक-एक दो-दो रुपया माँग कर एक संकलन भी छपवा लिया -'मयूरिका'। लेकिन आज बच्चन जी के संबंध में उनकी राय बदल चुकी है उनका मानना है कि -'मैं, बच्चन जी द्वारा अपने समय के असली और ज्वलंत मुद्दों से युवा वर्ग का ध्यान बँटाना समाज विरोधी और राष्ट्र विरोधी जैसा जघन्य अपराध मानता हूँ। और बच्चन की कविता ने यही किया है खैर..।' (देवेश ठाकुर प्रश्नों के घेरे में -डॉ भानुदेव शुक्ल, प्रथम संस्करण 1986, पृष्ठ - 42, संकल्प प्रकाशन, मेरठ)

देवेश जी बताते हैं कि सन 1960 के बाद उन्होंने अनेक लेखकों चेखव, टाल्सटाय, और गोर्की का विधिवत अध्ययन किया। आइंस्टीन, नेहरू, जयप्रकाश, लिंकन और तिलक की जीवनियाँ पढ़ी। राहुल, यशपाल, प्रेमचंद को पढ़ा और इन सबने उन्हें प्रभावित किया। सबसे अधिक ज्ञान उन्हें रजनी पामदत्त के 'आज का भारत' तथा 'मार्क्सवाद-लेनिनवाद के मौलिक तत्व' से मिला। रविंद्र को पढ़ने समझने की कोशिश की लेकिन रचनाकारों में उन्हें यशपाल प्रभावित करते हैं। वे कहते हैं यशपाल की रचनाओं ने ही मेरी रचनात्मकता को गति दी। आज समीक्षा के क्षेत्र में रामविलास शर्मा और रचनात्मकता के क्षेत्र में हजारी प्रसाद द्विवेदी उन्हें सबसे अधिक प्रिय हैं।

साहित्यकार लेखक तथा समीक्षक के संबंध में देवेश जी कहते हैं कि साहित्यकार को सबसे पहले एक अच्छा व्यक्ति, एक अच्छा नागरिक और एक अच्छा सामाजिक बनना चाहिए। लेखक को वे समाज का विशिष्ट व्यक्ति मानते हैं। अगर किसी लेखक की दृष्टि सामाजिक असंगतियों का विश्लेषण कर उसके समाहार और सामाजिक व्यवस्था के उन्नयन पर टिकी है तो वह लेखक के दायित्व का निर्वाह करके सामाजिक दायित्व का भी निर्वाह कर रहा है और इस प्रकार से उसका लेखन और उसका जीवन सार्थक है। वे समीक्षक अथवा आलोचक के विषय में कहते हैं, जो आलोचक अपने संस्कारों और गुटबाजी के तहत व्यक्तिवादी और समाज विरोधी उच्छृंखल रचनाओं में 'बोल्डनैस' और व्यक्ति स्वातंत्र्य परिलक्षित करता हो, उनके लेखे ऐसा समीक्षक समीक्षा के सही और वास्तविक धर्म का निर्माण नहीं करता। वे कहते हैं - सही समीक्षक की दृष्टि वास्तुपरक होनी चाहिए उसका अध्ययन और पर्यवेक्षण गहन होना चाहिए और उसे अपनी समीक्षा द्वारा रचना में अंतर्निहित कथ्य को उजागर करते हुए, उसे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखकर उसकी सार्थकता अथवा निरर्थकता पर स्पष्ट और दो-टूक टिप्पणी करनी चाहिए। अपने लंबे अनुभव के आधार पर उन्होंने लिखा भी है -'जब तक कलम और उससे निकली भाषा राजनीति की, मेरा मतलब, प्रशासन की, राजनीति की गुलाम

बनी रहेगी, तब तक स्वस्थ और सार्थक साहित्य की रचना नहीं हो सकती। आज का लेखक जब तक विद्रोह की भूमिका पर नहीं उतरता, उसके लेखन का कोई अर्थ नहीं है। वे भली भाँति जानते हैं कि लेखन के खतरे तो उसे उठाने ही होंगे। जनहित के लिए यह जरूरी भी है।' (देवेश ठाकुर व्यक्तित्व और रचनाकार- डॉ. बी. सत्यनारायण, पृष्ठ-12, प्रथम संस्करण जनवरी 2003, संकल्प प्रकाशन मुंबई)

देवेश ठाकुर बहुआयामी प्रतिभा वाले रचनाकार हैं। उन्होंने समीक्षा, शोध तथा रचनात्मक विधाओं में, विशेष रूप से उपन्यास लेखन में विशिष्ट स्वीकृति और ख्याति पाई है। यद्यपि अन्य अनेक रचनाकारों की भाँति उन्होंने आरंभ में कविताएँ भी लिखीं लेकिन कालांतर में उन्होंने लेखन को अपने समीक्षा और शोध-ग्रंथों में ही गंभीरता से लिया और समीक्षक के रूप में प्रतिष्ठित होने के बाद वे कथा साहित्य, विशेष रूप से उपन्यास लेखन की ओर प्रवृत्त हुए।

समीक्षा के क्षेत्र में 'नयी कविता के सात अध्याय', 'नदी के द्वीप की रचना प्रक्रिया', 'साहित्य की सामाजिक भूमिका', 'हिन्दी कहानी का विकास', 'साहित्य के मूल्य', मैला आँचल की रचना प्रक्रिया' आदि में प्रस्तुत वस्तुपरक और प्रखर समीक्षा-दृष्टि के कारण ही आलोचना के क्षेत्र में इनकी एक विशिष्ट पहचान बनी है। इसी बीच इनके 'प्रसाद के नारी पात्र', 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की मानवतावादी भूमिकाएँ' और 'साहित्य तथा साहित्येतिहास : अंतरानुशासनों का अनुशीलन' जैसे वृहद् शोध-ग्रंथों ने शोध की भी नई दिशा निर्मित की है।

शोध और समीक्षा के साथ-साथ देवेश ठाकुर के अब तक लगभग दो दर्जन उपन्यास तथा दो कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने हिन्दी कहानी का समुचित स्वरूप प्रस्तुत करते हुए श्रेष्ठ हिन्दी कहानियों के संकलन के रूप में दो खंडों में 'कथा-क्रम' तथा 'कथा-वर्ष' के अनेक खंडों का विस्तृत भूमिकाओं के साथ कुशल संपादन भी किया है। इतना ही नहीं, इन्होंने आजादी के बाद की राजनीतिक-सामाजिक स्थितियों का चिंतनपरक लेखा-जोखा 'आजादी की आधी सदी और आम आदमी' को तीन-तीन खंडों में प्रस्तुत किया है। बुद्ध की जीवनी 'बुद्ध-गाथा' तथा तीन खंडों में प्रकाशित आत्मकथा 'मैं यों जिया' इन्हें एक वस्तुपरक जीवनीकार-आत्मकथाकार के रूप में प्रतिष्ठित करती है। 'विचार' और 'समीचीन' के संपादक के रूप में साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में इनके अवदान को नकारा नहीं जा सकता। अपनी साहित्यिक यात्रा के आरंभिक वर्षों में इन्होंने बालसाहित्य-लेखन किया है। उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त इन्होंने पाँच विशिष्ट पुस्तकों का अनुवाद भी प्रस्तुत किया है। इस प्रकार ये रामचंद्र शुक्ल , हजारी प्रसाद द्विवेदी और मुक्तिबोध आदि हिन्दी के उन रचनाकारों की श्रेणी में आते हैं, जिन्होंने समीक्षक, शोधकर्ता, रचनाकार और अनुवादक चारों रूपों में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है। यही कारण है कि अब तक इनके साहित्य पर देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों से सोलह शोधार्थियों को पी-एच. डी. तथा लगभग इतने ही विद्यार्थियों को एम.फिल. की उपाधि प्राप्त हो चुकी है और अभी भी अनेक शोधार्थी उनके साहित्य पर शोध करने में लगे हैं। शोध के अतिरिक्त इनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर स्वतंत्र रूप से 17 समीक्षा-ग्रंथ भी प्रकाशित हो चुके हैं। सन् 1993 में इनकी रचनावली 6

भागों में प्रकाशित हुई थी। बाद में सोलह खंडों में इसका परिवर्धित रूप सन् 2018 में प्रकाशित हुआ। इसके बाद भी इनके चार उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं और अभी भी वे निरंतर रचनारत हैं।

इन्होंने 1972 में 'विचार' पत्रिका (त्रैमासिक) का प्रकाशन और संपादन किया किन्तु यह चार अंकों के बाद बंद करनी पड़ी। पुनः इन्होंने सन् 1986 से समीचीन (त्रैमासिक/अर्धवार्षिक/वार्षिक) पत्रिका का प्रकाशन और सम्पादन आरंभ किया जो अब तक प्रकाशित हो रही है।

विश्वविद्यालयीन गुटबाजी और साहित्यिक मठाधीशों की उपेक्षा के बावजूद इन्होंने अपनी प्रगतिशील मानववादी दृष्टि के तहत अपने रचनाकार मन की संवेदनाओं को निरंतर अभिव्यक्ति और विस्तार दिया। यह सच है कि ये अनेक बिंदुओं पर मार्क्सवाद से प्रेरित रहे हैं लेकिन अपने कृत लेखन में इन्होंने मार्क्सवाद से उतना ही ग्रहण किया जितना अपनी रचनाधर्मिता के लिए इन्होंने आवश्यक समझा। उनकी 'मार्क्सवादी' दृष्टि में मानवीय मूल्यों का सुखद समन्वय है।

इतना सब होने पर भी देवेश ठाकुर हमेशा विवादों के घेरे में घिरे रहे हैं किन्तु अजीब बात यह है कि उनका विरोध करने वाले अधिकांश आलोचक या तो मार्क्सवादी खेमे के हैं या वे लोग हैं जो इनकी प्रगति के प्रति ईष्यार्लु हैं। इस विरोध के लिए इनकी मुखर स्पष्टवादिता, अपने विरोधियों के प्रति प्रखर शब्दावली का प्रयोग, मौसमी लेखकों और समीक्षकों के प्रति स्पष्ट उपेक्षा तथा साहित्य में प्रवेश कर गए गुटबाज और खेमेबाज मठाधीशों के प्रति क्रूर आक्रामकता का भाव ही अधिक उत्तरदायी है। मजे की बात यह है कि इस सब के साथ-साथ उनके आत्मीय साहित्यिक मित्रों-पाठकों, प्रशंसकों तथा शुभचिंतकों की संख्या भी कम नहीं है। इन्हीं दो ध्रुवों के बीच अपना लेखन-कार्य सम्पन्न करते हुए देवेश ठाकुर का व्यक्ति और रचनाकार अपनी प्रौढ़ि में आज भी अपनी साधना में रत है।

देवेश ठाकुर रचनाधर्मी लेखन का वैशिष्ट्य कथ्य की नवीनता के अतिरिक्त शिल्पगत विविधता और प्रयोगधर्मिता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हिन्दी में शायद ही कोई ऐसा रचनाकार हो, जिसने उनके जितने शिल्प-प्रयोग किए हों। भाषा पर पूर्ण अधिकार, नयी सूक्तियों का सौष्ठवपूर्ण गठन तथा शिल्प की नितांत नवीन, मोहक और स्पष्ट प्रयोगशीलता ने उनके कथा- साहित्य को एक नयी ताजगी और प्रवाह प्रदान किया है।

1975 में उत्तर प्रदेश शासन के हिन्दी संस्थान द्वारा इनके डी. लिट्. के शोध प्रबंध पर इन्हें विशिष्ट 'तुलसी पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। महाराष्ट्र राज्य हिन्दी अकादमी द्वारा भी ये तीन बार 'जैनेन्द्र कुमार पुरस्कार' से सम्मानित हो चुके हैं। समय-समय पर देश की अन्य विभिन्न संस्थाओं द्वारा भी इन्हें दर्जन भर पुरस्कारों-सम्मानों से सम्मानित किया जा चुका है।

देवेश ठाकुर व्यक्ति के ईमानदार व्यक्तित्व को अधिक महत्व देते हैं। उनका कहना है - 'व्यक्ति चरित्र में, मैं ईमानदारी और स्पष्टवादिता को सबसे अधिक महत्व देता हूँ। ईमानदार व्यक्ति चाहे वह कट्टर दक्षिणपंथी हो या वामपंथी मुझे हमेशा श्रद्धा सहित स्वीकार्य है क्योंकि अपनी ईमानदारी के तहत वह हमेशा मेरे सम्मुख स्पष्ट रहेगा। अपनी

बात को स्पष्ट करूँ तो कहना चाहूँगा कि एक बेईमान और पाखंडी वामपंथी की अपेक्षा ईमानदार और स्पष्ट दक्षिणपंथी व्यक्ति से मैं अपनी व्यक्तिगत संबंध रखना अधिक श्रेयस्कर समझूँगा। और मैं कहूँ कि ऐसी कतिपय 'दक्षिणपंथियों' से मेरे अच्छे संबंध हैं।' (देवेश ठाकुर प्रश्नों के घेरे में -डॉ भानुदेव शुक्ल, प्रथम संस्करण 1986, पृष्ठ - 72, संकल्प प्रकाशन, मेरठ)

शिक्षा और शिक्षा जगत के संबंध में देवेश जी के विचारों को देखने पर एक विशिष्ट परिपेक्ष्य हमारे सामने उभर कर आता है। वे विश्वविद्यालयों में वी.सी. के पद के संबंध में कहते हैं - 'किसी आदर्श अध्यापक को ही वी.सी. का पद संभालना चाहिए। लेकिन भारत के शिक्षा संस्थानों का दुर्भाग्य यह है कि यहाँ कुलाधिपति (गवर्नर) तथा उप कुलपति (वॉइस चाँसलर) के पद भी सत्तासीन राजनेता ही तय करते हैं और इस तरह विश्वविद्यालय में इनकी नियुक्तियों के साथ-साथ राजनीति भी सहज रूप से प्रवेश कर जाती है। मेरे विचार से कोई ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे विश्वविद्यालयों में राजनीति का कम से कम हस्तक्षेप हो।' ((देवेश ठाकुर प्रश्नों के घेरे में -डॉ भानुदेव शुक्ल, प्रथम संस्करण 1986, पृष्ठ - 75, संकल्प प्रकाशन, मेरठ)

कॉलेज और विश्वविद्यालय के नियुक्ति के संबंध से देवेश जी में बिल्कुल संतुष्ट नहीं हैं। वे यह भी कहते हैं कि नियुक्ति के संबंध में कोई भी नीति अपनाई जाए उनमें कहीं न कहीं कोई न कोई खामी तो निकाली ही जा सकती है। कभी-कभी कॉलेजों में प्रबंधक और प्रिंसिपलों के कारण भी नियुक्तियाँ प्रभावित होती हैं। उनका मानना है कि प्रत्येक संस्था के विभागाध्यक्षों को ही विभागीय नियुक्तियों का पूरा अधिकार होना चाहिए क्योंकि प्रत्याशी के ज्ञान तथा उसकी योग्यता का आकलन जितना विभागाध्यक्ष कर सकता है, उतना अन्य नहीं।

देवेश जी का मानना है कि प्रत्येक विश्वविद्यालय में न्याय प्रिय और अध्यनशील अध्यापकों विशेषज्ञों की एक सूची हो। किसी भी विषय के नियुक्ति के अवसर पर वाइस चाँसलर उन विषयों के विशेषज्ञों में से किन्हीं दो तीन विशेषज्ञों को गोपनीय ढंग से लिखे कि वे प्रोफेसर रीडर लेक्चरर के चयन के लिए विशेषज्ञों के नाम सुझायें। उनके पास से नाम आने पर वाइस-चाँसलर इनमें से किन्हीं दो-तीन विशेषज्ञों की नियुक्ति कर सकता है। लेकिन ऐसी स्थिति में वाइस-चाँसलर को अत्यंत वस्तुपरक, किसी भी प्रकार के दबाव से अप्रभावित, प्रत्याशी के पूरे व्यक्तित्व का जानकार तथा उसकी योगदान तथा योग्यता का योग्य मूल्यांकन करने की क्षमता वाला होना चाहिए। अन्यथा यह प्रक्रिया भी निष्प्रभावी हो सकती है। उसे नियुक्ति के पूर्व अनुशंसित विशेषज्ञों के व्यक्तित्व की भी पूरी जानकारी होनी चाहिए तभी नियुक्ति की इस प्रक्रिया के अच्छे परिणाम सामने आ सकते हैं।

देवेश जी कॉलेज में विद्यार्थियों की बढ़ती संख्या को देखकर भी चिंतित हैं। उनका कहना है कि बेरोजगारी के चलते, यह स्थिति विकराल रूप ले रही है। सैकेण्ड्री और हायर -सैकेण्ड्री के बाद बच्चों के लिए उनकी रुचि के अनुरूप कोई तकनीकी प्रशिक्षण देने और उनको किसी काम में खपाने का प्रावधान होना चाहिए। ऐसी स्थिति में उच्च शिक्षा में वे मेधावी छात्र ही प्रवेश लेंगे जो उसके योग्य होंगे। तब उनको भी उच्च तथा

स्पेशलाइज्ड कामों में खपाने में कोई ज्यादा दिक्कत भी नहीं होगी। अमेरिका इंग्लैंड आदि देशों में बहुत कम विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिए जाते हैं और इसीलिए वहाँ उनके लिए मनोनुकूल नौकरी पाने में भी कोई कठिनाई नहीं होती। हमारे यहाँ पी.एच.डी. करने के बाद भी बच्चों को फोर्थ क्लास की नौकरी पाने के भी लाले पड़े होते हैं। इस तरह की अव्यवस्था से निपटने के लिए हमें शिक्षा नीति को अपनी सामाजिक आवश्यकता के अनुरूप और अनुकूल बनाने की आवश्यकता है।

देवेश ठाकुर बताते हैं कि राम नारायण रुइया महाविद्यालय में आने के बाद पिछले 25 वर्षों में उन्होंने केवल एक इंटरव्यू दिया। यह इंटरव्यू प्रोफेसर पद के लिए था इस इंटरव्यू में उनसे शब्दों की वर्तनियाँ पूछी गयीं, गुस्सा दिलाने वाले घटिया सवाल पूछे गए और हर तरह से उन्हें काटने की कोशिश की गयी। हालांकि परिणाम का उन्हें पहले से ही पता था लेकिन एक्सपर्ट्स ने जिस प्रकार की नंगई का प्रदर्शन किया, वह लज्जाजनक था।

देवेश जी कहते हैं पिछले कुछ वर्षों से लेखकीय जीवन से जूझते हुए मैं कुछ प्रश्नों और समस्याओं से ग्रसित हुआ हूँ। सही बात के लिए संघर्ष करने की अपनी आदत के कारण मेरे मित्र कम बन पाते हैं और शत्रु और विरोधी निरंतर बढ़ते जाते हैं। लेकिन इस नुकसान के बावजूद में गलत बातों और गलत व्यवहार की ओर से अपनी आँखें नहीं मूँद पता। इसे चाहे मेरी मजबूरी कह लें, चाहे मेरी दृढ़ता।

अंततः कहा जा सकता है कि स्कूल के दिनों में गिल्ली डंडा, पतंग, कुश्ती और सिनेमा उनके शौक थे और कॉलेज के दिनों में जिंदगी आर्थिक बदहाली के कारण इतनी मुश्किल हो गई थी कि एकांत पाकर चुपचाप अपनी निरीहता के आँसू बहाना ही एकमात्र मनपसंद कार्य रह गया था। इसे आप उनका शौक कहना चाहे तो कह लें।

मुंबई से बाहर घूमने-फिरने के संबंध में देवेश ठाकुर कहते हैं कि वे भले ही बा' आचरण से ठेठ महानगरी हो गए हैं किंतु भीतर से उनकी प्रवृत्ति अभी भी निपट देहाती पर्वतीय क्षेत्र के ग्रामीणों की सी है। अतः मुंबई से बाहर घूमने का मौका मिलने पर वे सबसे पहले पहाड़ों पर जाना चाहते हैं। वे कहते हैं कि पंत जी ने लिखा है - पहाड़ों पर निरुद्देश्य रहना भी भला लगता है। कुछ समय के लिए पहाड़ सबसे अच्छे विश्राम स्थल होते हैं। इसके साथ ही ये अनजान कस्बों की सड़कों गलियों में भी घूमना चाहते हैं। क्योंकि इनका मानना है कि आज की जीवन की सच्चाई वहाँ अपने प्राकृत रूप में देखने को मिलती है। दरअसल अगर समय और सुविधाएँ उपलब्ध हो तो वे पूरा देश घूमना चाहते हैं। नए चेहरे, नए रस्मो-रिवाज, नए प्रकार का भोजन, नए सांस्कृति-आयोजन आदि सब उन्हें सुखकर लगते हैं। विदेश में घूमने के प्रति उनमें कोई मोह नहीं है।

समकालीन हिन्दी कथा साहित्य और समीक्षा के सशक्त हस्ताक्षर डॉ. देवेश ठाकुर पिछले छह दशकों से रचना और विचार दोनों स्तरों पर अपनी बौद्धिक और रचनात्मक ऊर्जा के साथ लगातार सक्रिय हैं। इन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं को अपने रचनात्मक लेखन से समृद्ध किया। उपन्यास उनकी रचनात्मक ऊर्जा की प्रधान विधा रही है लेकिन समीक्षा और शोध के माध्यम से भी उन्होंने अपने समय के साहित्यिक-सामाजिक परिदृश्य में सशक्त हस्तक्षेप किया है। उनके समीक्षात्मक लेख एवं संपादकीय

अथवा नियमित स्तम्भों में लिखी गई टिप्पणियाँ इतनी विचारोत्तेजक रही हैं। इनको लेकर कई बार विवाद भी उत्पन्न होते रहे हैं लेकिन ये विवाद किसी दुराग्रह या कृत्रिम सनसनी पैदा कर चर्चा में बने रहने के उद्देश्य से उत्पन्न न होकर एक नयी विचार सरणी निर्मित करते हुए मूल्यांकन की नई जमीन तलाशने में कारगर सिद्ध होते हैं।

एसोसिएट प्रोफेसर और अध्यक्ष हिन्दी विभाग
रामनारायण रुइया स्वायत्त महाविद्यालय
माटुंगा, मुंबई - 410210.

रामदरश मिश्र : व्यक्तित्व एवं रचना-संसार

- सौरभ मिश्र

साहित्यकार वह जिसमें समय सहज ही उतर जाए, जो समय के साथ हो, जो अपने परिवेश का हो, जिसमें उसका परिवेश सहज अभिव्यक्ति पाता हो। जिसमें प्रकृति अपने गीत गाती हो, उसके समाज का अपना सुख-दुःख जिसमें अभिव्यक्ति पाता हो। कवि, कथाकार, आलोचक, निबंधकार, और कथेतर विधाओं में सार्थक लेखन करने वाले रामदरश मिश्र ऐसे ही सरल और सादगी भरे व्यक्तित्व के रचनाकार हैं। अपने लेखन और रचनाकार के दायित्व पर एक साक्षात्कार में रामदरश जी कहते हैं-'कोई भी लेखन हो, वह हमारी बड़ी गहरी और सांस्कृतिक चरम अभिव्यक्ति है। हम अपने भीतर अपने-अपने समाज के, अपने परिवार के और मनुष्य जाति के न जाने कितने दुःख दर्द पाले हुए चलते हैं।'[1]

साहित्य रस को जीवन रस कहाँ से मिलता है? 'जब कभी मैं सोचता हूँ कि मुझे जीवन रस कहाँ से मिला, तो सबसे पहले मेरी दृष्टि चली जाती है अपने परिवेश पर'[2] इसी परिवेश और जीवन रस को समझने लिए रचनाकार के जीवन और व्यक्तित्व का अध्ययन महत्वपूर्ण हो जाता है। रामदरश मिश्र का का जन्म 15 अगस्त, 1924 ई. में गोरखपुर जिले के डुमरी नामक ग्राम में हुओ इस गाँव की भौगोलिक स्थिति इसके निवासियों को एक खास किस्म का जीवनबोध प्रदान करती है। यह गाँव राप्ती और गोर्रा दो नदियों के मध्य स्थित है। जो बरसात के दिनों में भयंकर बाढ़ की चपेट में होता है। तैयार फसलें तबाह हो जाती है और जीवन निर्वाह का प्रश्न सबके समक्ष आ खड़ा होता है, किन्तु बार-बार की विषम परिस्थिति यहाँ के निवासियों को एक खास किस्म की जिजीविषा और जीवटता भी प्रदान करती है। रामदरश जी अपनी आत्मकथा में लिखते हैं-'इसके एक और राप्ती बहती है एक और गोर्रा। दोनों ने इस गाँव को और इस जैसे सैकड़ों गाँवों को अपनी कुंडली में लपेट रखा है। इसके चारों ओर दस मील तक कोई पक्की सड़क या रेल नहीं थी, अब भी नहीं है। ... बचपन में लगता था कि यह अपने आपमें बड़ा संसार है, जो लगातार बाढ़ की मार से घायल हो रहा है। हाँ, मुझे याद है-हर साल बाढ़ आती थी, हरे भरे खेत बह जाते थे। ... बाढ़ लौट जाने पर बचता था रेत का विस्तार असीम सूनापन और लोगों की आँखों में भयावह स्तब्धता, अब क्या होगा, अब जीवन कैसे बीतेगा का एक मौन प्रश्न।'[3]

जन्म के समय का संस्मरण रामदरश जी साझा करते हुए बताते हैं कि, नापदान(नाली) वाले घर में जिस घड़ी इनका जन्म हुआ, वहां संभाल करने वाला कोई उपस्थित नहीं था, माँ 'कंवलपाती' को होश कहाँ रहता और नवजात शिशु के प्राण ले लेने वाले कीड़े, जिन्हें 'जमुआ' कहा जाता है, चारों ओर से इन्हें घेर लिया तब पड़ोस में रहने वाली बुआ 'सुखदेई' ने आकर इनके प्राणों की रक्षा की। मिश्रजी इन बुआ को बड़े सम्मान से याद करते हैं और उनकी पीड़ा को अभिव्यक्ति देती हुई कहानी की सर्जना भी करते हैं। मृत्यु के इतने करीब होने का एहसास इन्हें पुनः एक बार होता है, जब एक पोखरे(बरसाती नाला) में नहाते समय मिश्रजी बहे जा रहे थे कि तभी संतू नाम

के व्यक्ति द्वारा अंतिम क्षणों में इन्हें बचा लिया जाता है। इन घटनाओं ने एक खास किस्म का विश्वास इनके व्यक्तित्व में पैदा किया। रामदरश जी लिखते हैं-' लेकिन मुझे जिजीविषा मिली है, जीवन के प्रति अगाध विश्वास, निष्ठा और मूल्य मिला है तो इसलिए कि कीड़े-मकोड़े के बावजूद जीवनदायक कोई न कोई शक्ति कोई न कोई रस मुझे देर-सबेर मिलता ही रहा है।'[4]

माता-पिता का प्रभाव बच्चे पर आना स्वाभाविक ही है। रामदरश जी के पिता रामचंद्र मिश्र का व्यक्तित्व बहुत रोमांटिक किस्म का था, जो समाज हितैषी तो था, किन्तु गृहस्थ होते हुए भी संन्यासी जैसी मस्ती लिए हुए था। गाने बजाने का खूब शौक था, मदद की कहीं से कोई भी पुकार सुनी की अपना सब कुछ छोड़ आगे बढ़ बढ़ जाने का जोश लेकिन उनकी इसी वृत्ति का फायदा उठाकर उनके संगी साथी उन्हें धोखा भी दिया करते थे। पिता के व्यक्तित्व की इस कमी को मिश्रजी की माता कंवलपाती जैसे पूरा करती थीं, गाने बजाने का उन्हें भी पूरा शौक था गाँव की महिलाओं का हर सांस्कृतिक और धार्मिक कार्यक्रमों में किया करती थीं और घर की जिम्मेदारियों का निर्वाह भी उतनी ही तत्परता से करती थीं। मिश्रजी अपनी माँ के सन्दर्भ में लिखते हैं-'लेकिन माँ बहुत कर्मठ थीं।' प्रारंभिक शिक्षा की प्रथम पाठशाला माँ ही होती है यह रामदरश जी के सन्दर्भ में पूरी तरह से चरितार्थ हुआ। अक्षर ज्ञान के क्रम में परिवार के सदस्यों ने अपनी-अपनी ताकत झोंक दी, किन्तु बालक रामदरश को अक्षर ज्ञान हो ही न, ऊबकर यह घोषणा कर दी गयी कि यह बालक अनपढ़ ही रहेगा, किन्तु माँ को यह स्वीकार नहीं था, उन्हें बच्चे की प्रतिभा पर विश्वास थो यूँ रामदरश जी अपने व्यक्तित्व के संदर्भ में कहते भी हैं 'मैं यह स्वीकार कर लूं कि मैं प्रत्युत्पन्न मति व्यक्ति कभी नहीं रहो बहुत शीघ्र किसी बात को पकड़कर उसका जवाब दे देने की क्षमता मुझमें नहीं रही।'[5] और एक दिन माँ ने घोषणा की, 'मैं तुम्हें पढ़ाऊँगी।'

अक्षर ज्ञान के पश्चात् अब प्राइमरी की शिक्षा के लिए बगल के गाँव बिशुनपुरा में नाम लिखाया गया, जहाँ प्राइमरी के साथ मिडिल की परीक्षा भी मिश्रजी ने पास की। उर्दू मिडिल पास करने के पश्चात् गाँव में रहकर अब आगे क्या किया जाए या पढ़ाई की आगे की योजना क्या हो? यह प्रश्न सामने आया। रामदरश जी में राष्ट्रभाषा और साहित्य के प्रति प्रेम का उभार इन दिनों हो चुका था, अतः अपने बड़े भईया की सलाह पर विशेष योग्यता की तैयारी के लिए अपने गाँव से दस मील(करीब 16 कि.मी.) दक्षिण स्थित ढरसी गाँव में पंडित रामगोपाल शुक्ल के स्कूल में प्रवेश ले लिया। ढरसी को याद करते हुए मिश्रजी लिखते हैं-'ढरसी का स्कूल मेरे लिए एक ऐसा मंच था जहाँ स्थित होकर मैंने परीक्षा ही नहीं पास की, जीवन के कितने पाठ पढ़े और अनुभव ग्रहण किये।'

सन् 1941 में विशेष योग्यता के पश्चात् विशारद की पढ़ाई के लिए पुनः घर से 24 मील(38 कि.मी. करीब) दूर बरहज के राघवदास के आश्रम में चलने वाले राष्ट्रभाषा विद्यालय में प्रवेश लिया और यहीं से विशारद और साहित्यरत्न की परीक्षा पास की। अब तक मिश्रजी के मन में अपने भविष्य को लेकर कुछ-कुछ स्पष्टता आ गयी थी, लिखते हैं-'मन में एक धुंधला-सा सपना था -प्रोफेसर या सम्पादक बनने का।'[6]

1943 में राष्ट्रभाषा की उच्चतम डिग्री प्राप्त करने के पश्चात् अब मुख्य प्रश्न था-

नौकरी का, किन्तु वह संभव नहीं हो सका, मिश्रजी को महसूस हुआ कि यह डिग्री उन्हें किसी लक्ष्य तक न ले जाकर केवल एक दूसरे छोर तक ले आई, इस बात की उनके मन में पीड़ा भी रही अपनी आत्मकथा में लिखते हैं-'क्या मिलेगा मुझे? कोई नौकरी? कौन सी नौकरी? साहित्यरत्न की डिग्री किसी नौकरी तक पहुंचाएं, अभी ऐसी स्थिति तो बनी नहीं थी। और आगे भी कहाँ बन पाई?'[7] अतः निर्णय हुआ की आगे अब अंग्रेज़ी की पढ़ाई की जाए और वर्ष 1945 की हिन्दू विश्वविद्यालय की मेट्रिक प्रवेश परीक्षा में बैठा जाए। बनारस के परिवेश में मिश्रजी लगातार अपनी साहित्यिक प्रतिभा को निखार रहे थे। हिन्दू विश्विद्यालय से इंटर की परीक्षा पास करके अब उच्च शिक्षा की ओर बढ़ चले। सन् 1950 में बी. ए. और फिर 1952 में हिन्दू विश्विद्यालय से ही एम.ए. की डिग्रीयाँ लीं। पीएचडी के लिए आचार्य द्विवेदी ने हिंदी साहित्य की दसवीं से तेरहवीं शताब्दी की सामग्रियों का पुनः परीक्षण विषय प्रदान किया, रामदरश जी उत्साहित थे, किन्तु द्विवेदी जी के निर्देशन में ज्यादा छात्रों के होने की वजह से विभागीय नियमों के चलते मिश्रजी को आचार्य द्विवेदी का निर्देशन नहीं मिल सका। सन् 1957 में मिश्रजी ने डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के निर्देशन में 'हिंदी आलोचना की प्रवित्तियों और उनकी आधार भूमि' विषय पर सफलता पूर्वक अपना शोध कार्य पूर्ण किया। लेखन के प्रति मिश्रजी में सजगता बचपन से ही थी, उनके भीतर का रचनाकार उन्हें कई बार बैचैन किये रहता था। जब भी कोई गीत सुनते, तो उनके भी मन में आता क्या मैं ऐसा नहीं लिख सकता। लोगों द्वारा बताये गए लेखन के नुश्खों जैसे अकेले बाग में बैठेने से, किसी पेड़ के नीचे बैठने से कविता बनेगी, इन नुस्खों को भी अजमाने में कोई कसर नहीं छोड़ रखी। बारह-तेरह वर्ष की उम्र में पहली बार मिश्रजी ने एक राष्ट्रीय कविता लिखी और पहले काव्यगुरू हुए 'मदनेश जी' विशुनपुरा गाँव में होने वाली कांग्रेस सभा को केंद्र में रखकर कविता लिखी। फिर मदनेश जी की सहायता से छंद का ज्ञान होता गया और कविता का नशा छाता गया। जब रात में सारे बच्चे स्कूल में रात में पढ़ने जाते, तो मिश्रजी कम्बल में छिपकर कविताएँ लिखते थे। यह मजेदार संस्मरण अपनी आत्मकथा में यूँ व्यक्त करते हैं-'अजीब नशा होता है कविता का भी। दिन-रात कविता का नशा मुझपर सवार रहता थो हम रात को स्कूल में पढ़ने जाते थे तो सारे लड़के अपना कोर्स याद करते मैं कम्बल में छिपकर कवितायें लिखता था।'[8]

रामदरश जी का पहला काव्य संग्रह 'पथ के गीत' 1951 में प्रकाशित हुआ, इस संग्रह की कविताएँ उस दौर मे लिखी गयी, जब देश आज़ादी के लिए संघर्ष कर रहा था और आज़ादी का सपना साकार होते दिख रहा था। रामदरश जी मानवीय संवेदना के कवि हैं अपने परिवेश को साहित्य में मुखरता से जगह देते हैं, इस संग्रह की कविताएँ रूमानी भी हैं, इनमें प्रेम भी है, प्रकृति भी है, मिलन-अवसाद के चित्र भी हैं। इस संग्रह की कविताएँ अपने परिवेश और समाज की पक्षधर हैं, इन्हीं दिनों मिश्रजी विचारधारा के रूप में मार्क्सवाद के करीब आ रहे थे, 'स्वर-साधना' और 'मनाएं क्या दीवाली हम' इस संग्रह की कवितायेँ सीधे तौर पर प्रगतिशील चेतना से जुड़ती हैं।

रामदरश जी के अन्य महत्वपूर्ण काव्य संग्रह हैं- कन्धे पर सूरज, दिन एक नदी बन गया, मेरे प्रिय गीत, बाजार को निकले हैं लोग, जुलूस कहाँ जा रहा है?, रामदरश मिश्र

की प्रतिनिधि कविताएँ, आग कुछ नहीं बोलती, शब्द सेतु, बारिश में भीगते बच्चे, हँसी ओठ पर आँखें नम हैं (गजल संग्रह), ऐसे में जब कभी, आम के पत्ते, तू ही बता ऐ जिंदगी (गजल संग्रह), हवाएँ साथ हैं (गजल संग्रह), कभी-कभी इन दिनों, धूप के टुकड़े, आग की हँसी, लमहे बोलते हैं, और एक दिन, मैं तो यहाँ हूँ, अपना रास्ता, रात सपने में, सपना सदा पलता रहा।

आधुनिक काल गद्य का काल माना जाता है और गद्य की मुख्य विधा कहानी और उपन्यास में रामदरश जी अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज करवाते हैं। मिश्रजी का पहला उपन्यास 'पानी के प्राचीर' सन् 1961 में प्रकाशित हुओ यह उपन्यास तब लिखा गया, जब मिश्रजी गुजरात में अध्यापन कार्य कर रहे थे, अपने गाँव-समाज से इतनी दूर रहकर लिखा गया यह उपन्यास जहाँ एक ओर उन्हें अपने परिवेश की स्मृति में ले जाता है, वही पाण्डेयपुरवा गाँव की कथा के माध्यम से स्वतंत्रता पूर्व गाँव की दशा-दिशा और उसके संघर्षों का वर्णन भी करता है। 'जल टूटता हुआ' का प्रकाशन 1961 ई. में हुआ। यह मिश्रजी का दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास है। इसकी कथा 'पानी के प्राचीर' की कथा का विस्तार है। इसमें आज़ादी के बाद के गाँव तिवारीपुर का वर्णन है, किन्तु 'जल टूटता हुआ' 'विचार और संवेदना, कथ्य और सरंचना के स्तर पर 'पानी के प्राचीर' से बहुत आगे की रचना है।' यह उपन्यास महत्वपूर्ण इसलिए है, क्योंकि इसमें 'व्यवस्था के अमानवीयकरण की प्रक्रिया के अर्थशास्त्रीय, समाजशास्त्रीय सन्दर्भ तथा उससे जन्म लेने वाली पीड़ा और घुटन का बोध ही नहीं, उसके विरुद्ध संघर्ष करने वाली ताकतों की पहचान भी है।'[9]

रामदरश जी के अन्य महत्वपूर्ण उपन्यास हैं- आकाश की छत, आदिम राग, बिना दरवाजे का मकान, दूसरा घर, थकी हुई सुबह, बीस बरस, परिवार, बचपन भास्कर का, एक बचपन यह भी, एक था कलाकार।

रामदरश जी के उपन्यास सहज जीवन प्रवाह के एक अंग के रूप में आते हैं ऐसे में इन उपन्यासों को पढ़ते हुए यह विस्मृति हो जाना स्वाभाविक है कि हमने जो कथावस्तु पढ़ी वह केवल पढ़ी या हमारे आस पास घटित कोई घटना है जिसे हम याद कर रहे हैं। 'साहित्यकार केवल नकार नहीं करता, सिर्ग गलाजत पेश नहीं करता, बल्कि वह देखता है कि समाज में कुछ मूल्य भी है, कुछ विश्वास भी है, कुछ अच्छा भी है। यह यथार्थ है।'[10] रामदरश जी अपनी पहली कहानी से ही इसी प्रयास में दिखाई देते हैं। अपने एक साक्षात्कार में मिश्रजी बताते हैं उनकी पहली कहानी एम.ए. के दिनों में सन् 1950 के आस-पास छपी थी। उन्हीं दिनों 'प्रायश्चित' कहानी 'समाज' में छपी थी 'कह न सका' कहानी 'संगम' पत्रिका में इन्ही दिनों छपी। मिश्रजी कहते हैं इन्हीं में कोई पहली कहानी थी कहानी लेखन में मिश्रजी पूरी तरह से सक्रिय सन् 1960 के बाद ही हुए।रामदरश जी के अन्य महत्वपूर्ण कहानी संग्रह हैं-'दिनचर्या, सर्पदंश, बसन्त का एक दिन, इकसठ कहानियाँ, मेरी प्रिय कहानियाँ, अपने लिए, अतीत का विष, चर्चित कहानियाँ, श्रेष्ठ आंचलिक कहानियाँ, आज का दिन भी, एक कहानी लगातार, फिर कब आएँगे?, अकेला मकान, विदूषक, दिन के साथ, मेरी कथा यात्रा, विरासत, इस बार होली में, चुनी हुई कहानियाँ, संकलित कहानियाँ, लोकप्रिय कहानियाँ, 21 कहानियाँ,

नेता की चादर, स्वप्नभंग, आखिरी चिट्ठी, कुछ यादें बचपन की (बाल साहित्य), इस बार होली में।'

रामदरश जी ने अपनी आत्मकथा पांच खंडो में लिखी है- 'जहाँ मैं खड़ा हूँ', 'रोशनी की पगडंडियाँ', 'टूटते बनते दिन', 'उत्तर पथ', और 'फुरसत के दिन'(2000) प्रथम चार खण्डों का प्रकाशन 'सहचर है समय' नाम से सन् 1991 में हुआ। रामदरश मिश्र की आत्मकथा को पढ़ते हुए बहुत संभावना है कि यह विस्मृति बार-बार हो जाये की आत्मकथा के भीतर चलने वाली कथा का कौन सा पात्र उनके अपने परिवार का है और कौन ऐसे राह चलते किसी आकस्मिक मुलाकात में मिला हुआ पात्र है जिसका रामदरश जी से कोई पूर्व परिचय नहीं है, कारण रामदरश जी जिस किसी व्यक्ति या घटना का वर्णन करते हैं उसे अपनी पूरी आत्मीयता समर्पित कर देते हैं। निष्कर्ष- निष्कर्षतः हम रामदरश जी के ही शब्दों में कह सकते हैं-'जब लिखने बैठता हूँ तो कहीं से भी जिंदगी में धंस जाता हूँ और फिर जो लोग और स्थितियां सामने आती चलती हैं, उनमे रम जाता हूँ और रास्ते खुद-ब-खुद खुलते चले जाते हैं।'[11] मिश्रजी जी ने अपना सृजन कार्य चाहे वह कथा, कविता हो या फिर कथेतर इसी लगन, निष्ठा और लेखकीय दायित्व के साथ कियो कथेतर विधा में मिश्रजी ने ललित निबंध, यात्रा-वृत्तांत, संस्मरण, आत्मकथा, डायरी और आलोचना पर महत्वपूर्ण कृतियों का सृजन किया।

सन्दर्भ :

1. रामदरश मिश्र, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, मेरे साक्षात्कार, पृ. 206 सं. 2008
2. रामदरश मिश्र, डायमंड पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, कच्चे रास्तों का सफर, पृ.1 सं. 2006
3. वही, पृ.8
4. वही, पृ. 7
5. रामदरश मिश्र, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, सहचर है समय, पृ.17
6. रामदरश मिश्र, डायमंड पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, कच्चे रास्तों का सफर, पृ.14, सं. 2006
7. वही, पृ. 57
8. कच्चे रास्तों का सफर, पृ.21
9. डॉ.महावीर सिंह चौहान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, रामदरश मिश्र की सृजन यात्रा, पृ.76, सं.2009
10. रामदरश मिश्र, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, मेरे साक्षात्कार, पृ. 108
11. संपा. जगन सिंह, स्मिता मिश्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, रामदरश मिश्र, व्यक्ति और अभिव्यक्ति, पृ. 151,

शोध छात्र, हिंदी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

अट्टालिका से देखिए झोपड़ी का दैन्य

(शैलेश मटियानी के महानगरीय जीवन के संस्मरण)

- अभिषेक गुप्ता

हिंदी साहित्य में शैलेश मटियानी की ख्याति एक कहानीकार के रूप में है, किंतु कथेतर गद्य विधाओं में भी उन्होंने महत्वपूर्ण साहित्य का सृजन किया है।बात यदि महानगरीय जीवन पर केंद्रित उनके कथेतर साहित्य पर की जाए, तो अनेक संस्मरणों, निबंधों तथा पत्रों के रूप में यह उपलब्ध होता है। समय-समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित मटियानी जी के संस्मरण तीन संग्रहों- 'लेखक की हैसियत से', 'पर्वत से सागर तक' और 'मुड़-मुड़कर मत देख' में संकलित हैं। साथ ही उन्होंने भाषा, साहित्य, राष्ट्रीयता, लेखक के दायित्व, सांप्रदायिकता तथा महानगरीय जीवन की सामाजिक और सांस्कृतिक विसंगतियों पर अनेक निबंध लिखे, जो लगभग एक दर्जन पुस्तकों में संकलित हैं। लेखकीय संवेदना और अनुभवों से संपन्न उनके वैचारिक लेख अपने नयेपन और साफगोई के कारण साहित्य जगत में विमर्श और अनेक बार विवाद का विषय बने। 'विकल्प' तथा 'जनपक्ष' जैसी अनूठी पत्रिकाओं के सम्पादन के कारण उनकी साहित्यिक पत्रकारिता की भी खूब चर्चा होती है। इन पत्रिकाओं को बहुत अधिक आयु नहीं मिली, किंतु जो भी अंक निकले वे संग्रहणीय रहे और उनमें मटियानी जी की प्रतिबद्धता तथा परिश्रम दिखाई देते हैं। वे अपने परिचितों तथा पाठकों को लंबे पत्र लिखने के लिए भी जाने जाते थे। अधिकतर पत्र व्यक्तिगत विषयों से संबद्ध हैं, किंतु उनमें महानगरीय जीवन पर अर्थवान टिप्पणियाँ मिलती हैं। इन सब रचनाओं को एकसाथ देखने पर मटियानी जी के समृद्ध कथेतर गद्य की व्याप्ति और उनकी रचनात्मक सामर्थ्य को समझा जा सकता है। जीवन के अंतिम वर्षों में तो मानसिक कष्टों के कारण वे अपने समय को रचने के बजाए अतीत में ही आवाजाही करते दिखते हैं। अपनी संस्मरणों की पुस्तक 'मुड़-मुड़कर मत देख' की भूमिका में वे लिखते भी हैं- 'कोई भी लेखक अतीत, वर्तमान और भविष्य की ओर मुड़-मुड़कर देखने के बाद ही संवेदना और स्मृति के स्तर पर कोई सार्थक रचना दे पाता है। मेरी मर्मान्तक त्रासदी यह है कि मुड़-मुड़कर देखना तो बढ़ता गया है, लेकिन लिखना ओझल होता चला गया है।'[1]

अपने संस्मरणों में मटियानी जी ने महानगरों की उन जीवन स्थितियों का वर्णन किया है, जो साहित्य में दुर्लभ हैं, क्योंकि उनसे गुजरने वाले लोग अपने अनुभवों को रचनात्मक रूप में व्यक्त करने के योग्य नहीं होते। जिंदगी उन्हें इतना अवकाश भी नहीं देती। मुंबई (उन दिनों बंबई) के अनुभवों पर शैलेश जी ने 'खराद पर बंबई' नाम से तीन संस्मरणों की श्रंखला लिखी थी, जो 'हंस' पत्रिका के जनवरी 1990 के अंक से लेकर अप्रैल 1990 तक के अंकों में धारावाहिक प्रकाशित हुई थी। इन संस्मरणों में वे महानगरों में गाँव से पहुँचे और वहाँ की चकाचौंध से विस्मित व्यक्ति के अनुभव, शहरों की सघन बसाहट, औद्योगीकरण के दुष्प्रभावों, एक-दूसरे से अनजान, सड़कों पर बेतहाशा चलते हुजूम तथा शहरों में दरिद्रता का जीवन जी रहे लोगों का वर्णन करते हैं। महानगरों का विस्तार लोगों को डराता है क्योंकि चारों ओर दूर तक फैली आबादी

में उनका कोई परिचित नहीं, असीम विस्तार में ऐसा कोई कोना नहीं जहाँ छुपा जा सके। ऐसे अजनबीपन से भरे परिवेश में आये व्यक्ति की तुलना वे उस पक्षी से करते हैं, जो अचानक किसी कमरे में प्रवेश कर जाता है और फिर मुक्ति की चाह में दीवारों से टकराता रहता है। बंबई की सघन बसाहट और मोटरगाड़ियों के हुजूम का जिक्र करते हुए सड़कों पर निश्चिन्त भाव से विचरते आवारा पशुओं के लिए वे लिखते हैं- 'अरण्य में पशु, पत्तों का खड़कना सुनकर भी चिहुँक उठते हैं, क्योंकि उसका उन्हें अपने प्राणों से वास्ता जान पड़ता है। शहर के पशु मोटरगाड़ियों के शोर शराबे के बीच भी जुगाली करते रहते हैं।'[2] कुछ समय के बाद मनुष्य और पशु सभी अपने परिवेश के अभ्यस्त हो जाते हैं। महानगरों में गाँव-कस्बों से आजीविका की तलाश में आये लोग एक अदद शरणस्थली की तलाश में रहते हैं, लेकिन वर्षों बीत जाने के बाद भी उन्हें रहने की जगह नसीब नहीं हो पाती। लेखक बंबई में प्रचलित एक कहावत का जिक्र करते हैं कि बंबई में गासा आसान है लेकिन बासा बहुत कठिन, अर्थात् यहाँ रोटी तो कमाई जा सकती है, लेकिन रहने की जगह खोजना बहुत ही कठिन है। रहने के स्थान की समस्या को उन्होंने दिल्ली, कलकत्ता आदि शहरों में भी देखा, जिसका जिक्र उन्होंने साहित्यकारों को लिखे अपने अनेक पत्रों में किया है।

दरअसल शैलेश, खाली जेब के साथ बंबई पहुँचे थे। रोजगार के आभाव में लंबा समय उन्होंने फुटपाथ पर बिताया। फुटपाथी जीवन के दुर्धर्ष संघर्ष के दिनों के अनुभवों की पूँजी के कारण ही वे 'इल्लेस्वामी', 'विट्ठल', 'चिथड़े', 'गरिबुल्ला', 'प्यास', 'निश्चिन्त' जैसी महानगरों की भीतरी सच्चाइयों को उद्घाटित करने वाली कहानियाँ लिख सके। इन भुखमरी के दिनों में कई बार उन्हें जेल भी जाना पड़ा। जेलों में पुलिस की कार्यविधि, निर्दोष व्यक्तियों के शोषण तथा अपराधियों के साथ बिताए समय पर उन्होंने 'दफा चौपन का आरोपी' नाम का संस्मरण लिखा। जेल की गतिविधियों के साथ-साथ इसमें महानगरीय जीवन की विडंबनापूर्ण सच्चाइयाँ भी दर्ज हैं। लेखक लिखते हैं कि जेल में बंद अनेक आरोपी जेल से बाहर नहीं निकलना चाहते, क्योंकि महानगरों में बिना आजीविका और सिर छुपाने के लिए छत के जीवन जीना अत्यंत चुनौतीपूर्ण है। वे लिखते हैं- 'इस द्वीप से बाहर निकलने के बाद फिर जीवन के प्रारंभ होने का डर भी सतत उपस्थित, जबकि यहाँ जिंदगी के थपेड़ों से एक किनारे लगे होने की सी सुरक्षा थी।'[3] जेल में बंद लोगों को उन्होंने अधिक सुकून तथा शांति से रहते देखा। वहाँ पाने की कोई होड़ नहीं थी, जो मिल जाए उसी को लोग उम्मीद से ज्यादा मान लिया करते थे। अपराधी होने के शक में ये फुटपाथों से ही पुलिस थाने लाए जाते। लेखक लिखते हैं- 'किसी स्वप्न दृश्य की सी रहस्यमयता से भरी सी थी वह दुनिया, जहाँ कि एक भी ऐसा नहीं दिखता था जो हवालात में बंद होने को किसी दुर्घटना या अभिशाप की तरह देखता हो। अपराध करते अथवा अपराध के वास्ते पकड़े गए लोग पहले से ही इतने थके हारे थे कि किसी में यह सवाल कहीं दिखाई ही नहीं पड़ता था कि हमें बिना अपराध के बंद क्यों किया गया है।[4]

मटियानी जी ने जेल में बंद कैदियों के जीवन को बहुत करीब से देखा और उनके जीवन प्रसंगों के आधार पर जिन निष्कर्षों तक पहुँचे वे समाज में प्रचलित आम

धारणाओं से अलग हैं। वे महानगरीय जीवन की विसंगतियों का संबंध अपराध जगत से जोड़ते हैं। महानगरों में ऐसे न जाने कितने लोग हैं, जिन्हें जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं- रोटी, कपड़ा, मकान से भी वंचित होना पड़ता है। सुविधाओं और विलासिता की वस्तुओं के उपलब्ध न होने पर व्यक्ति सब्र कर सकता है और थोड़े में ही गुजर-बसर करने का प्रयास कर सकता है, लेकिन भूख नैतिकता और अनैतिकता के भेद को समाप्त कर देती है। एक स्थान पर वे लिखते हैं- 'भूख, वस्त्र और ठिकाने का सवाल कितना बड़ा है, मार्क्स केवल इस एक सवाल को लेकर महान सिद्ध हो गए।जान माल की प्रतिभूति राज्यव्यवस्थाओं की नींव का पत्थर होती है। अखबार में भुखमरी के वृत्तांत सबको नहीं व्यापते। जिनको व्यापते हैं, वो अखबार नहीं पढ़ते, बोरों में रद्दी कागज तथा अन्य वस्तुएँ बटोरते हैं।'[5] शिक्षित, स्वस्थ नागरिक और समानता पर आधारित समाज ही अपराधविहीनता की ओर जा सकता है किंतु महानगरों में शिक्षा, स्वास्थ्य सभी को उपलब्ध नहीं। अनाथों और लावारिसों सा जीवन जीते बच्चे और किशोर आखिर किस दिशा में जायेंगे? फुटपाथों के रास्ते हवालात का जीवन भला किस ओर ले जायेगा? ये प्रश्न लेखक, समाज तथा सत्ता संस्थानों से पूछता है। अपने संस्मरण में वे लिखते हैं- 'भूख की धमक कैसे जितनी आदमी की चेतना तक, उतना ही गहरे जाती है, सभ्यता, संस्कृति, राजनीति या दर्शन कला साहित्य के मुकामों तक भी! आदमी की आँखों तक पहुँच गयी भूख ही उसे हिंसा या अहिंसा के उस पड़ाव तक ले जा सकती है, जहाँ से फिर वह पीछे नहीं लौट पाता।'[6]

लेखक ऐसे लोगों के विषय में भी लिखते हैं जिन्होंने महानगरों की भागदौड़ भरी जिंदगी में बड़ी-बड़ी उपलब्धियों के स्वप्नों और स्पर्धा से खुद को दूर कर लिया है। वे अपने छोटे-मोटे रोजगार और तंगहाली में बीत रहे जीवन में ही प्रसन्न हैं। ये लोग बसों, लोकल ट्रेनों में फुरसत मिलते ही ताश खेलने लगते हैं या कोई गीत गुनगुनाते हैं। संसाधनों को इकठ्ठा करने की निरर्थकता को ये लोग समझ चुके हैं और अनजाने ही बुद्ध के अपरिग्रह के सिद्धांत के अनुयायी बन गए हैं। महानगरों में छोटे और अस्थायी रोजगारों में लगे लोगों के लिए जाति-धर्म पर आधारित भेदभाव कोई मायने नहीं रखता। धर्माधारित तकरीरें खाए-अघाए लोगों का काम है, जो अभाव में पला-बढ़ा उसे जिंदगी की नंगी हकीकत दिखाई देती है। जेल के दिनों में लेखक के दोस्त बन गए उस्मान मियाँ कहते हैं कि- 'जिंदगी से ज्यादा खूबसूरत दुनिया में कोई चीज नहीं- न हूरें, न खुदा!'[7]

मटियानी जी के संस्मरणों में संघर्ष का स्वर विविध आयामों में फूटता हुआ दिखाई देता है। जिन प्रमुख समस्याओं को उन्होंने अपने संस्मरणों में उठाया है, वे हैं- संवेदनहीन समाज तथा अपनेपन की भावना का लोप, असुरक्षा की भावना, बेरोजगारी, तनाव, अवसाद, कुंठा तथा अत्यधिक प्रतिस्पर्धा, औपचारिक संबंध/कृत्रिम व्यवहार, आर्थिक असमानता आदि। महानगरों में आर्थिक धरातल पर संघर्ष करते लोग हर दिन कुआँ खोदकर पानी पीने वाले लोग हैं। भूख यहाँ एक सनातन समस्या है। कुआँ खोदने वाला व्यक्ति बलिष्ठ होते हुए भी अन्य किसी लड़ाई का सामर्थ्य नहीं रख पाता। मटियानी जी इन स्थितियों के लिए जिम्मेदार लोगों के कुकर्मों की परिणति को रेखांकित करते

हुए लिखते हैं कि- 'बेकारी के अंधड़ में भटकते हुए फुटपाथों पर जीने की बदहवासी, निरपराध होते हुए भी भारत सरकार की न्याय संहिता में पसरी पड़ी अमानवीयता का निदारुण साक्षात्कार और आँतों में धँसती भूख देखना अत्यंत दुखद है।'[8] इस भूख नाम की सनातन समस्या के लिए महानगरों में लोग क्या-क्या जतन करते हैं, इसका विवरण भी लेखक देते हैं। अपने रोजगार को सुरक्षित रखने के लिए लोग तरह-तरह के समझौते करते हैं, पैसे बचाने को कोसों पैदल चलते हैं, अपनी पहचान छुपाकर अनचाहे काम करते हैं। उन दिनों मुंबई के मुख्यमंत्री मोरारजी देसाई ने शराब पर कठोर पाबंदी लगा रखी थी। कितनी महिलाएँ पेट के पास शराब की बोतल लगाकर, गर्भवती औरतों की भाँति सफर करती थीं। घरफोड़ी के मामलों में नलकों के सहारे ऊपर चढ़कर घरों में चोरी करने वालों के टखने पुलिस तोड़ दिया करती थी, ताकि फिर कभी नलकों के सहारे ऊपर पहुँचकर चोरी न कर सकें। लेकिन चोरी की घटनाएँ फिर भी नहीं रुकती थीं। महानगरों में हुए अनेक अनुभवों को मटियानी जी ने ज्यों-का-त्यों अपनी कई रचनाओं में व्यक्त किया है।

महानगरों में बेरोजगारी एक गंभीर समस्या है। यहाँ रह रही जनसंख्या का बहुत छोटा हिस्सा सरकारी सेवाओं, निजी कंपनियों तथा अपने कारोबार से प्राप्त आय से सुविधापूर्वक जीवन जी रहा है। अधिकतर लोग छोटे-छोटे अनियमित रोजगारों से अपनी आजीविका कमाते हैं। असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले लोगों को रोजगार की कोई सुरक्षा नहीं होती। संकट की स्थिति में वे अपने रोजगार से हाथ धो बैठते हैं। महिलाओं की स्थिति और भी दयनीय है। लाखों गरीब महिलाएँ घर के खर्चे पूरे करने के लिए घरों में झाड़ू, पोछा तथा बर्तन धोने का काम करती हैं। पेट की भूख के लिए हर रोज नए-नए समझौते करने को मजबूर इन महिलाओं की स्थिति को लेखक ने अत्यंत निकट से देखा और कुछ निजी अनुभवों को अपने संस्मरणों में लिखा। दिन भर घर तथा दफ्तरों में खटती इन महिलाओं से घर आने पर कोई प्रेम के दो शब्द बोलने वाला भी नहीं। लेखक ऐसे पुरुषों का जिक्र भी करते हैं जो पत्नी के पैसे बेरोक-टोक खर्च करते हैं और अवसर मिलने पर उनका चरित्र हनन करने से भी नहीं चूकते। तंगहाली तथा यथास्थितिवाद को तोड़ने के लिए कोई उद्यम करने के बजाय वे भाग्य को कोसते हुए शराब पिए घरों में पड़े रहते हैं। जब पुरुष ऐसी स्वाबलंबी महिलाओं से दास की तरह व्यवहार करते हैं तब उनमें अलगाव की भावना जन्म लेती है। इससे पारिवारिक संबंधों में खटास उत्पन्न होती है और परिवार टूटने की कगार पर आ जाते हैं।

मटियानी जी द्वारा बंबई की गरीब महिलाओं की स्थिति का वर्णन तो और भी हृदयविदारक है। मुख्यतः उन्होंने भूलेश्वर, गोलपीठा, कमाठीपुरा में देहव्यापार करने वाली महिलाओं की समस्याओं का उल्लेख किया है। 'कबूतरखाना' तथा 'किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई' शैलेश मटियानी के इन्हीं अनुभवों का परिणाम हैं। उनकी बंबई अंचल से संबद्ध लगभग सभी कहानियों में कई ऐसे संस्मरण बिखरे पड़े हैं। 'कमाठीपुरा' और 'गोलपीठा' जैसे स्थानों में निवास करने वाली स्त्रियाँ देहव्यापार के कारण अपने बच्चों की समुचित देखभाल नहीं कर पातीं। जिम्मेदार अभिभावक के अभाव में इन बच्चों पर आपराधिक प्रवृत्ति के लोगों की नजर रहती है और वे इन्हें चोरी, राहजनी, नशा आदि

कुकृत्यों में दक्ष कर 'पोपट' नाम देते हैं। ऐसे ही एक 'पोपट' के विषय में लिखते हुए लेखक देश के उन अनेक बच्चों के प्रति लोगों का ध्यान खींचते हैं जिनका भविष्य अंधकार में है और जिनकी देखभाल करने वाला कोई नहीं। वे लिखते हैं- 'पोपट, जिसने देश की लाखों गरीब संतानों की तरह न माँ-बाप का लाड़-दुलार पाया, न भाई बहनों का नेह बंधन। जो माँ के अमिय-पयोधरों को दूधिल कर देने की उम्र में, वस्ताद के हाथ के बासी पाव-चालू चा में पला।'[9] लेखक उस वर्ग के प्रति चिंतित थे जहाँ विकास परियोजनाओं को तो छोड़िए प्रकृतिप्रदत्त सुविधाएँ तक नहीं पहुँच पातीं। विशाल गगनचुंबी इमारतों के साए तले बनीं अस्थायी झुग्गी-झोपड़ियों में न सूरज की रोशनी ही पहुँचती है, न हवा और न साफ पानी।

प्रेमचंद युगीन तथा उनके परवर्ती हिंदी साहित्य में मध्यवर्ग, गरीबों, दलितों, बेसहारा स्त्रियों की समस्याओं का चित्रण हुआ किन्तु मटियानी जी वर्ग विभेद की जड़ों तक पहुँचने के लिए बहुत गहरे उतरते हैं। उनकी एक विशेषता यह भी है कि वे कदम-कदम पर श्रम के महत्व और श्रम की चेतना को स्थापित करते दिखते हैं। उनके पात्र दारुण जीवन जीते हुए भी उत्कट जिजीविषा और इच्छाशक्ति से जीवन के झंझावातों को झेलते दिखाई देते हैं। महानगरों का कठिन संघर्ष भी उन्हें जीवन से विमुख नहीं कर पाता और वे गिरकर फिर उठ खड़े होते हैं। गिरिराज किशोर ने उनके विषय में लिखा है- 'मटियानी जी में जूझने की असीम सामर्थ्य है। उनको हर मुहिम पर जूझना पड़ता है और वे जूझने से मुँह नहीं मोड़ते। पत्थरों को तोड़कर राह बनाने की पूरी प्रक्रिया उनकी जिंदगी जीने की प्रक्रिया है।'[10]

संदर्भ :

1. मटियानी, शैलेश, भूमिका, मुड़-मुड़कर मत देख, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, 2001, पृष्ठ सं. 8
2. मटियानी, शैलेश, दफा चौपन का आरोपी, हंस, जनवरी 1990, पृष्ठ सं. 13
3. मटियानी, शैलेश, दफा चौपन का आरोपी, हंस, जनवरी 1990, पृष्ठ सं. 16
4. मटियानी, शैलेश, दफा चौपन का आरोपी, हंस, जनवरी 1990, पृष्ठ सं. 17
5. मटियानी, शैलेश, भूमिका, मुड़-मुड़कर मत देख, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, 2001, पृष्ठ सं. 94
6. मटियानी, शैलेश, भूमिका, मुड़-मुड़कर मत देख, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, 2001, पृष्ठ सं. 94
7. मटियानी, शैलेश, या देवी सर्वभूतेषु, हंस, फरवरी, 1990
8. मटियानी, शैलेश, पर्वत से सागर तक, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 2000, पृष्ठ सं. 87
9. मटियानी, शैलेश, मेरी तैंतीस कहानियां, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 1961, पृष्ठ सं. 17
10. किशोर, गिरिराज, संवाद सेतु, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली 1983, पृष्ठ सं. 54

शोधार्थी, हिंदी विभाग, गोवा विश्वविद्यालय, गोवा

संस्मरण में पशु-जीवन : मनुष्यता की पहचान

- डॉ. मधुबाला शुक्ल

मुम्बई से सेवानिवृत्त प्रोफेसर, विचारक और साहित्य व कला के वरिष्ठ समीक्षक डॉ. सत्यदेव त्रिपाठी की हाल ही में 'न्यू वर्ल्ड पब्लिकेशन', दिल्ली से प्रकाशित हुई किताब है - 'मूक मुखर प्रिय सहचर मोरे'। इसमें उन पशुओं की खट्टी-मीठी गहन यादें हैं, जो त्रिपाठी जी के जीवन में जाने-अनजाने आये, लेकिन उनकी ज़िंदगी के एक अविभाज्य अंग बन गये और मन में सदा के लिए बस गये। उनके वर्णन इतने रोचक हैं, उनका होना इतना प्रियतर है और उनके विवरण इतने सूक्ष्म व विस्तृत हैं कि पढ़ते हुए बहुत आश्चर्य होता है कि चौथी में पढ़ने से लेकर अब तक के लगभग ६०-६२ सालों की इतनी छोटी-छोटी और इतनी सारी बातें उनकी स्मृति में अब तक मौजूद कैसे हैं...!

अभी बहुत ज्यादा समय नहीं हुआ है - एक जमाना था, जब पशु हमारे जीवन का आधार हुआ करते थे, क्योंकि तब का मुख्य पेशा किसानी पशुओं पर ही निर्भर हुआ करती थी। वही सामाजिक प्रतिष्ठा के मानक थे। लोग जब अपनी कन्याओं के विवाह के लिए वर खोजने जाते थे, तो उस घर की संपन्नता का आकलन इससे होता था कि दरवज्जे पर कितने जोड़ी बैल हैं...। पशुओं की वो महिमा होती थी कि स्वयं से पहले उन्हें खिलाने का इंतजाम किया जाता था। इसके पीछे एक मानवीय समझ यह भी थी कि पशु तो बोल सकते नहीं, हमारे अधीन हैं। लेकिन अब तो इस यांत्रिक युग में सारा कामकाज मशीनों से हो रहा है और इसी कारण आज का जीवन पशु विहीन हो गया है। ऐसे में यह पुस्तक अतीत के उस भाव-जगत को साकार और भविष्य के लिए उसे दर्ज. करने के रूप में भी महत्त्व की है।

पशु-साहित्य की एक अदद किताब के रूप में महादेवी वर्मा की सुविख्यात कृति 'मेरा परिवार' हिंदी में मील का पत्थर बनकर मौजूद है, जिससे इस लेखक का प्रभावित होना अवश्यम्भावी है। महादेवी जी के बाद हिंदी साहित्य में पशु-जीवन पर छिटफुट लेखन तो हुए हैं, लेकिन मेरी जानकारी में पुस्तकाकार पशु-संस्मरण यही आया है...। यह संयोग ही है कि 'मेरा परिवार' के कुल सात पाठों में नौ पशु स्थान पा सके हैं और त्रिपाठीजी की इस किताब में पाठ तो कुल आठ हैं, लेकिन छोटे बड़े मिलाकर पशु कुल दर्जन भर हैं। महादेवी जी की भाषा उनकी प्रकृति के अनुकूल संस्कृतनिष्ठ शुद्ध हिंदी है और त्रिपाठी जी की भाषा में तत्सम, लोक एवं उर्दू के साथ ठेंठ गँवई शब्दों का सुंदर ठाट है। फिर और इसमें बहुत सारे गँवई शब्द भी आये हैं, जिनकी विशेषता यह भी है कि अगर आप इन शब्दों के सटीक मतलब नहीं जानते हों, तो भी इनके अर्थ का अंदाजा आसानी से लगा सकते हैं। किताब पढ़ते हुए सरसता की धारा निरंतर प्रवाहित होती रहती है। रोचक घटनाएँ आपको संस्मरण से बाँधें रखती हैं। लगता है कि दृश्य आपके सामने सिनेमा की तरह चल रहे हैं...। जिससे आप कहीं न कहीं अपने को इन संस्मरणों से जुड़ा हुआ पायेंगें। इन सहचरों के रूप-वर्णन विरल रूप से बारीक-विस्तृत-चाक्षुष है, जिसके प्रतिमान उजरका, सुघरका, बीजो, चीकू...आदि में द्रष्टव्य हैं। इस किताब में पशुओं के जीवन की शिनाख्त के साथ समाज में रह रहे लोगों की पशुओं के प्रति धारणा

का भी खूब जमकर विवेचन हुआ है, जो कृति की प्रस्तुति का एक कारगर प्रकार भी बन पड़ा है। लेकिन दोनो ही पुस्तकों के पशु-संसार में निहित मानवीयता के भाव समान हैं, जो इस लेखन का प्राण तत्व है।

'मूक मुखर प्रिय सहचर मोरे' की अनुक्रमणिका आप देखेंगे, तो पायेंगे कि लेखक के जीवन में जैसे-जैसे जो पशु आये, उसी क्रम में पुस्तक में रखे भी गये हैं...। लेखक के होश सम्भालते ही मिले दो बैल - करियवा-उजरका। और बकौल लेखक - 'सबसे पहले स्फोट की तरह जुबान फूटी कलम बनकर करियवा के साथ'। वह अंधा था - 'जैसे सारी इच्छाएँ-प्रतिक्रियाएँ उसके अदृश्य संसार की भेंट चढ़ गयी हों...खाने-जुतने के सिवा उसके लिए दुनिया का कोई अस्तित्त्व ही नहीं'। इसी अंतस् के उद्घाटन के चलते ही इस मौन-मुखर दुनिया का सबसे करुण व शीर्ष चरित्र करियवा ही है।

लेखक के छठीं में पढ़ते हुए आयी नानी वाली गइया। विवेचन नहीं, पर उल्लेख है कि मुम्बई-प्रयाण के पहले गाय-परिवार को बेचकर भैंस ला गये थे, लेकिन उस पर लिखते नहीं, क्योंकि उसके साथ ज्यादा रहे नहीं। इन संस्मरणों की जीवंतता का एक कारण यह भी है कि ये स्वयं के किये व भोगे हुए हैं। और लेखक की भूमिका की गवाही में स्पष्ट है कि इनके बाद के कुत्ते और बिल्ली-चूहा...आदि मुंबई में बेटे के संज्ञान होने के बाद आये और लेखक ने उन्हें भी उसी तरह अपनाया। बनारस-प्रवास के दौरान किट्टू को वे खुद उचक कर लाये। इनमें गबरू और किट्टू दबंग व हिंसक हो चले, तो छोड़ना भी पड़ा, लेकिन यहाँ उनकी यादें भी बड़ी मार्मिक बन पड़ी हैं और उनकी बावत लेखक का दृढ़ मत है कि 'सही पालन-सँभाल के बाद भी मनुष्य का बच्चा बदमाश हो सकता है, लेकिन पशु-बच्चा बिलकुल नहीं - वह बिगड़ेगा, तो पालक की लापरवाही एवं बदसलूकी से'।

इन मूक-मुखर-प्रिय-सहचरों और मनुष्यों के आपसी सलूकों और उसके माध्यम से पशुओं में निहितमनुष्यता की पहचान कारण ही कृति का केंद्रीय तत्त्व है। उदाहरण के लिए 'नानी वाली गइया' को लेखक के बचपने ने हरही (भागने व बदमाशी करने वाली) बना दिया, जिसके चलते चरना छोड़-छोड़ के खेत खाना व चरवाहिन बालिका के वश में न आने की उसकी बुरी आदत बन गयी। इसी का दुष्परिणाम यह हुआ कि बगल के गाँव की हरिजन बस्ती के लड़कों ने उसे पकड़ के मवेशीखाने में बंद कराने की ठानी। लेकिन अपने हरहीपने में गइया सबको छकाके निकल तो भागी, पर सामने का नाला पार करते हुए एक तगड़ी लाठी उसके पैर में लगी और वह धराशायी हो गयी। अब देखें पशु के लिए तत्कालीन समाज का साथ...पाँच मिनट में सारा गाँव जमा हो गया। गाय को एक बड़ी पलंग पर लिटाके बाँधा गया और ५-६ लोग कंधे पर उठाके घर लाये...। इलाज के प्रसंग में लेखक की टिप्पणी - 'आदमियों के अस्पताल भी कहीं सुदूर ज़िले पर रहे, पशुओं की तो बात ही क्या'!! लेकिन उस समय की बलिहारी भी कि 'पशु रोगों के जानकार हर गाँव में हुआ करते थे - प्रायः पिछड़ी जाति के ही'। सो, चमटोल से सुक्खू भैया को बुलाया गया। लेकिन तब की इंसानियत भी कैसी कि मारने वाले लड़कों ने छिपाया नहीं, बल्कि बस्ती में बताया। तो वहाँ के पशु-जानकार खरपत भैया बिना बुलाए ही आये...। यहाँ लेखक प्रेमचंद की कहानी 'मंत्र' के भगत के पेशेगत

नैतिक बोध की भी याद दिलाते हैं। सबने मिलके 'देसी पलस्तर' (प्लास्टर) बांधा और महीने भर बिना बुलाये आके निगरानी करते रहे...। इस दौरान सारा गाँव वहाँ इकट्ठा था, लेकिन लेखक की तरफ से तब की मनुष्यता का परमान यह कि मारने वाले लड़के भी उसी में खड़े थे। उनने हाथ जोड़कर काका से माफी माँगी, गइया के पैर भी छूए। इस भाव परलेखकीय टिप्पणी 'क्या वह अनपढ़ व्यवस्था आज की सारी देसी-विदेशी शिक्षा व प्रगति पर भारी नहीं है' ?

इस संस्मरण-कृति की खास विशेषता है - इसमें आये पशुओं और लेखक (मनुष्य) के बीच का भौतिक और भावात्मक जुड़ाव। इसके लिए मैं आपको 'उजरका' (बैल) और 'बच्ची' (बिल्ला) के पास ले चलूँगी...। 'उजरका' बहुत शालीन बैल है - कभी किसी को नुकसान न पहुँचाने वाला और बालक लेखक से काफी हिला हुआ। लेकिन जब आठ-नौ वर्ष की अवस्था में दूर के खेत से बैलों को लिवाने गये और हेंगा में चलते उजरके की गर्दन से नीचे लटकती रस्सी को हलवाहे मंतू भैया के कहने से बड़ी हौंस से हटाने चले, तो सहसा उसने सींग पर लेखक को उठा लिया और मंतू भैया के 'हाँ-हाँ-हाँ-हाँ' चिल्लाने के बीच तीन-चार फिट उठाकर धीरे से रख भी दिया। पेट फटने से बच गया - सिर्फ.दो इंच लंबे चमड़ी छिला के खून भर निकला। ऐसा क्यों हुआ, की खोज में पता लगा कि मंतू भैया ने हेंगे से जुआठ को जोड़ने वाली रस्सियाँ छोटी बाँध दी थी, जिसके कारण 'उजरका' का पिछला पैर हर बार उठते हुए हेंगे के नीचे दब रहा था...। तो उसी दर्द और बेबसी के गुस्से में उससे ऐसा हो गया, लेकिन गंध-स्पर्श से याद आते ही रुक गया, नहीं तो फेंक भी सकता था, कुचल भी सकता था। और मानुष भाव यह कि शाम को उसके पास खेलते हुए उजरके के चहरे पर प्रायश्चित की मुखर इबारत लिखी थी...।

ऐसी ही एक घटना 'बच्ची' के साथ भी घटी। उस दिन 'बच्ची' लड़कर, बहुत मार खाकर आई थी और चहारदीवारी की अपनी प्रिय जगह पर बैठी थी। उसके शरीर के घाव साफ दिख रहे थे। लेखक उसे सहलाने के लिए पास पहुँचे, तो अचानक ही हाथ की गदोरी पर उसने पंजे मार दिये - खून चुहचुहा आया। लेकिन लेखक दवा लगाने घर में आये, तो 'वह भी दबे पाँव पीछे-पीछे आयी। पश्चाताप के गहन भाव उसके चेहरे पर भी प्रकट थे। घंटों तक उस अपराध-बोध से उबर नहीं पाई थी - अवसन्न बैठी रही'। तात्पर्य यह कि पशुओंमें भी ऐसे भाव होते हैं। उन्हें नहलाना-धुलाना, खिलाना-पिलाना एवं उनके साथ खेलना ...आदि उनके भाव-तंत्र को छूते हैं। जिस तरह से करियवा बैल की सेवा पूरा परिवार मिलकर करता है और घायल बच्ची को हल्दी-प्याज बांध के जिस तरह लेखक पूरी रात गोद में लिए बैठा रहता है और जिस तरह से बीजो के देह में पड़े जीवों को मां-बेटे रात-रात भर निकालते रहते हैं...आदि-आदि जतनो-सरोकारों से भौतिक-भावात्मक साझेदारियाँ होती हैं। इससे वे पशु भी संवेदनशील हो जाते हैं। इस प्रकार यह कृति सुनियोजित सोद्देश्यता के साथ मनुष्य की मनुष्यता के असर से पशुओं की पशुता के क्षरण की गाथा रचती है। और लेखक यह कचोट बार-बार उठाता है कि अब तो भावात्मक दुनिया ही लुप्त हो रही है, हो चुकी है - शहरों में ही नहीं, गाँवों में भी। पशु-मनुष्य के बीच के सह-सबन्ध का सबसे बड़ा उदाहरण 'बीजो' (लैब्रे प्रजाति

का श्वान) है, जिसे लेखक ने सच ही 'श्वान तन में संत थे तुम' कहा है। उसके स्नेह-संवेदन का दायरा घर ही नहीं, बाहर तक था। लेखक उसे घुमाते हुए पाते कि रास्ते में कितने ही लोग उसे खूब प्यार-दुलार करते। उसकी बावत उनसे पूछने वाले भी बहुतेरे थे - 'अपना बीजो कैसा है'। बीजो ने अपने स्वभाव से सबका मन मोह लिया था। जब किसी दिन उनका ध्यान 'बीजो' की तरफ नहीं होता तो 'बीजो' स्वयं उनके पास चला जाता। कुत्ते-बिल्ली की आपसी शत्रुता प्रायः प्राकृतिक मानी जाती है, लेकिन लेखक के घर में रहने वाली 'बच्ची' (बिल्ला) से 'बीजो' की ऐसी जमती कि 'बच्ची तो बीजो पर हुकूमत करती और उसकी पीठ पर सोती। 'बीजो' से ही 'बच्ची' में भी मनुष्यता आयी और बाद में आयी 'चीकू' (श्वान) भी उसके साथ रहते हुए ऐसा मर्यादित हुई कि बीजो की ही तरह बिना पट्टे के आज भी घूमती है।

लेखक ने इन पशुओं को माँ की ममता दी है, उन्हें पाला है, बड़ा किया है, बीमारी में दवा दी, उनके हर्ष में पुलकित हुए, दुख में व्यथित हुए, वियोग में उदास भी। ये पशु उनके जीवन-सहचर ही नहीं, बल्कि उनके परिवार का अंग भी बने। 'बच्ची' के लिए तो उन्होंने माँ की भूमिका निभाई है। फिर कहें कि महादेवीजी के 'मेरा परिवार' के बाद हिंदी साहित्य में त्रिपाठीजी के यह अकेली कृति है, जिसमें मानवीय करुणा की स्निग्धता और शीतलता ने पशुओं के मानवीय व्यक्तित्व को उजागर किया है।

सारे पालतू प्राणी तो लेखक व उनके परिवार के साथ खेलते-कूदते, घूमते-फिरते...याने दो तरफा व्यवहार होता, लेकिन इन सबसे अलग 'जेरी' (सफेद चूहा) एक ऐसा मूक प्राणी था, जिसके साथ सिर्फ.इधर से एक तरफा ही व्यवहार रहा। लेकिन जो जेरी पहले कंधे पर बिठा लेने पर भी उतर जाता, अपनी मृत्यु के दिन लेखक के कंधे पर आकर खुद बैठ गया था...याने अंत समय में दुतरफा हो जाना क्या उसकी मूकता में मुखरता का प्रमाण नहीं? और तब इस सुखद परिणाम से प्रभावित होकर आचार में नास्तिक लेखक ने उस मूक के लिए घंटो सस्वर गीता-पाठ किया। संयोग व सुयोग देखें कि पाठ के दौरान ही कंधे पर से लुढ़क कर उनकी गोद में आ गिरा और अपनी अंतिम साँस ली। लेखक आश्चर्य करता है - प्रकृति से कैसे संचालित होता है वह जीव, जिसे कुदरत ने भाषा नहीं दी, वाणी नहीं दी...। मात्र चर्म संवेदन से सब समझने लगा। ये मानव-इतर पशु हमारे इशारों को अभ्यास से और शब्दों को अर्थ से नहीं, ध्वनि व लय लहजे से जानते हैं। फिर अंग संचालन और देह की गति से परख लेते हैं।

प्रस्तुत पशु-कथा एक और स्तर पर भी चलती है, जिसमें विवेच्य पशुओं के माध्यम से अतीत के आईने में समकालीन जीवन, समाज एवं संस्कृति के बदलते परिवेश व मूल्यों पर संजीदा सवाल हैं। प्रसंगानुकूल अपने समाज के विकासेतिहास पर सूक्ष्म व तुलनात्मक टिप्पणियाँ हैं। उदाहरण के लिए नानी के यहाँ से बड़के काका के साथ २० किमी चल के गइया को लाते हुए जिस परिचित के यहाँ अचानक रुकना हुआ, उस घर की महिला बालक लेखक से पहली बार मिली और जानती भी थी कि आखिरी बार मिल रही है, लेकिन जिस ममता से हाथ-मुँह धोके आँचल से पोंछा, अपने हाथ से खिलाया, उसे याद करके लेखक का मन आज भी हुड़कता है और वह पछतावे से पूछता है - 'कहाँ चली गयी हमारे जीवन व समाज से वह संस्कृति, वह भाव, वह

मनुष्यता!! इस प्रकार यह कृति भले ही पशु संस्मरण है, परंतु लेखन की काया भर ही हैं पशु, पुस्तक के आत्मा तो बसती है - इन पशुओं की भावमयता, गुणवत्ता में और हाँ, गाय-बैल-कुत्ते जैसे प्राणियों की भौतिक व भावक उपयोगिता में भी। कुल मिलाकर पुस्तक में समाहित पशुओं में निहित मनुष्यता हम तक यूँ पहुँचती है कि हमें भी बहुत हद तक बेहतर मनुष्य बना जाती है और यही इस पुस्तक की सबसे बड़ी खासियत है।

त्रिपाठीजी के जीवन में सबसे बाद में आयी है काइया, जो अभी तीन साल की हुई है। इसका वे शीर्षक देते हैं - 'चौथेपनपायउँ प्रिय 'काया', जो तुलसी के मानस में पुत्रों के लिए दशरथ के कहे 'चौथेपन पायउँ सुत चारी' की शैली में बना है। हालाँकि इनका चौथापन आने में अभी पाँच साल शेष हैं। लेकिन अशआर, मुहावरों-कहावतों, फि ल्म-संवादों एवं कविताओं...आदि से अपनी प्रस्तुति एवं भाषा तथा खासकर शीर्षकों को सजाने की अपनी शैली का नशा है सरजी को। कविताएँ सर्वाधिक आती हैं रामचरित मानस' से। पुस्तक का नाम इसी का परिणाम है। बच्ची और बीजो के शीर्षक बच्चनजी की पंक्तियों पर बने हैं। लेकिन 'काइया' वाले में मानस-प्रसंग खास बनकर आता है। सभी सहचरों में काइया का नया होना सबसे छोटी संतान के प्रति अति प्रियता वाला है, जिसे उन्होंने राम के लिए दशरथ के कहे से साधा है - 'सब सुत मोहिं प्रिय प्रान की नाई, राम देत नहिं बनै गोसाई' याने चारो पुत्रों में दशरथ के लिए राम की जो प्रियता थी, वही त्रिपाठीजी में काइया के प्रति है। तभी तो वे चाहते हैं कि 'काइया' की मृत्यु उनसे पहले हो जाये, ताकि अपने न होने की अस' पीड़ा से वह बच जाये, देख-रेख का संकट भी न हो। यहाँ एक विमर्श भी खड़ा होता है कि अपने रहते अपने प्रिय के मरने की इच्छा कितनी जायज है...?

संस्मरण में लेखक ने पशुओं की बातों के दरम्यान एक ऐसी घटना का उल्लेख किया है, जिसमें पशु से भी हीन मानव-समाज का सच पाठकों के ह्रदय को छलनी-छलनी कर देता है...वैशाख-जेठ में जौ-गेहूं की दंवरी के दौरान 'ना-ना'०० के बावजूद बैल ढेर सारा अनाज खा ही लेते...। 'खड़ा दाना पचता था नहीं, तो गोबर के बदले निछान दाना ही बाहर निकलता जिसे भूमिहीन मजदूर वर्ग की औरतें बिन-बटोर कर ले जातीं और धो, सुखाकर, पीस के खाती-खिलातीं...। इसे क्या कहें जिंदा रहने की त्रासदी या विकल्प' ? लेखक को ये बातें उस समय सामान्य लगती थीं, पर बड़े होने पर पढ़ते हुए (खासकर दलित लेखन) इसका दंश बहुत गहरे चुभा।

एक अनोखी दास्तान 'गबरू' (डोबर मैन) की...। वह बेहद आक्रामक प्रवृत्ति का श्वान था। अपने क्या, अगल-बगल के परिसर में भी किसी पंछी तक को पर न मारने देता। भौंक-भौंक कर भगा देता। लेकिन यह अचम्भे की बात हुई कि उसकी दोस्ती एक कौवे से हो गई। 'गबरु' उसके लिए अपनी दूध-रोटी का कटोरा छोड़ देता और कौवा उसके लिए हड्डी का टुकड़ा गिराता। जैविक वृत्ति के लिए यह लेन-देन की प्रवृत्ति भी प्राणि-मात्र की है, जो सारी सुख-सुविधाओं के बाद भी उछाल मारती है।

अंत में, इस पुस्तक में व्याप्त अपने गुरु के ही असर में मैं भी कहना चाहूँगी कि इस कृति व इसके किरदारों को भी लोग अपनी-अपनी तरह वैसे ही देखेंगे, जैसे धनुष तोड़ते राम को सबने देखा था -'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी'।

साहित्य का स्त्रीवादी चेहरा - सुधा अरोड़ा

विशेष संदर्भ - 'काव्य-संग्रह- कम से कम एक दरवाजा'

- डॉ. सुनीता कुमारी

हिन्दी साहित्य में कविता की लगभग एक हजार साल की परम्परा रही है, हिन्दी कविता ने विभिन्न प्रवृत्तियों और वादों के साथ कई-कई कालखंडों से होती हुई एक प्रदीर्घतर यात्रा तय की है। कहने का तात्पर्य यह है कि देश-काल और मनुष्य की चित्तवृत्तियों में परिवर्त्तन के साथ-साथ कविता-लेखन और उसके शिल्प में भी परिवर्तन हुए हैं। मानव समाज ज्यों-ज्यों विकसित होता गया कविता और कहानी किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रही है, यह अलग बात है कि सभ्यता के विकास के साथ ही कविता से संवेदनाएँ लगातार गायब होती चली गई, रामचन्द्र शुक्ल अपने निबंध 'कविता क्या है' में लिखते हैं - 'ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नए-नए आवरण चढ़ते जाएँगे त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जाएगी, दूसरी ओर कवि कर्म कठिन होता जाएगा।' इस तरह आचार्य शुक्ल ने कवियों को कविता के प्रति उनकी जिम्मेदारी के प्रति भी अगाह किया है। आधुनिकता के इस दौर में लोगों के जीवनशैली में बदलाव आया, भारतीय समाज और आम जनता पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। राजनीतिक घटनाओं की प्रतिध्वनि राजनीति, समाज और संस्कृति में सुनाई दे रही है, जिसका असर आधी आबादी पर और भी ज्यादा पड़ा यही कारण है कि आधी आबादी को हम पहले से ज्यादा मुखर होते हुए देख पा रहे हैं।

पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था में जीने वाली स्त्री की यातना को पकड़ पाना हमेशा काफी कठिन कर्म रहा है। अकेलेपन से जूझने वाली स्त्रियों के अनेक रूपों को अकेली औरत श्रृंखला की कविताओं में सुधा अरोड़ा ने पूरी खूबसूरती और बेहद संवेदनशीलता के साथ व्यक्त किया है। सुधा अरोड़ा के 'रचेंगे हम साझा इतिहास' (2012) तथा 'कम से कम एक दरवाजा' (2015) - नामक दो काव्य- संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। अकेली औरत का हंसना, अकेली औरत का रोना, धूप तो कब की जा चुकी है, गिरे हुए फंदे, शतरंज के मोहरे, कम से कम एक दरवाजा, राखी बाँधकर लौटती हुई बहन, यहीं कहीं था घर, पचपन पार की औरतें, साँकल सपने और सवाल, साथ-साथ, माँ! तुम उदास मत होना! जिन्हें वह संजोकर रखना चाहती थीं - उनकी कविताएँ हैं, सुधा अरोड़ा की कविताएँ न केवल बैचेन करती है वरन इन स्त्रियों पर अत्याचार करने वालों को भी ललकारती हैं और स्त्री जगत को आगे बढ़ाने के लिए, बगावत करने के लिए परचम देती है-तभी तो अपनी कविता 'सदियों के खिलाफ तैयार हो रहा है एक मोर्चा - में वे लिखती हैं -

'सिर्फ लड़कियों का सिर उठाना है नया
सिर्फ उनका इनकार है नया।'
सदियों की चुप्पी के खिलाफ बोलना उनका
जबरन कहला ली गई 'हाँ' के खिलाफ

उनका 'नहीं' है नया।'[1]

स्त्री जीवन में व्याप्त तमाम विसंगतियों को सुधा अरोड़ा ने तटस्थता से ग्रहण कर, निरावेश संलग्नता से व्यक्त करने का जो कौशल 'कम से कम एक दरवाजा' कविता-संग्रह में दिखाया है, वह कौशल इन्हें विशेष अर्थवत्ता प्रदान करता है। सुधा अरोड़ा की हर कविता दमदार है और दिल छू लेने वाली है। इनके काव्य संकलन में एक से बढ़कर एक रचना है - उनका मानना है कि महिलाएँ और मजबूत बने इस हेतु हर महिला की सक्रिय भूमिका होनी चाहिए, ताकि समाधान की रौशनी फैल सके एवं मुश्किलों का, हर कठिनाईयों का सामना वे निडर होकर कर सकें। अपने अधिकारों की परिभाषा को सही मायने में पा सकें तभी तो वे अपनी कविता 'मौत के साये' में लिखती हैं -

'जब मेरी जान पर बन आई तब मैं चेती।
जब मुझे कुचलने की बेतरह कोशिश की गई
मेरे सामने दो ही रास्ते थे -
मैं आत्महहत्या कर लेती या बगावत करती
मैंने दूसरा रास्ता चुना और देखा
लाल गोले सा उगता सूरज।'[2]

किसी भी कवि या उसकी कविता की निर्मिति उस समय के सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है, कोई भी रचना अपने समय के कटु यथार्थ से टकराये बिना महत्वपूर्ण या कालजयी नहीं बन सकती है। स्त्री विषयक ढेर सारे मुद्दों से मुठभेड़ करते हुए भ्रूण हत्या, दहेज हत्या और घरेलू हिंसा के विभिन्न पहलूओं पर लिखते हुए स्त्री पर होने वाली प्रत्यक्ष और परोक्ष हिंसा पर उनकी लेखनी बे-रोक-टोक चली। उन्हें यह हमेशा महसूस होता रहा कि हमारे चारों ओर नृशंसता और बर्बरता के सामने दिखने और न दिखने वाले इतने तत्व हैं, जो समाज में सबसे नाजुक मोड़ पर खड़ी स्त्री को तहस-नहस करने में लगे हैं। एक स्त्री जो अपने दुःख एवं अन्याय को व्यक्त नहीं कर पा रही है और कह पाने पर भी उसकी कोई सुनवाई नहीं है -

'कम से कम एक दरवाजा' - इस संग्रह की कविताएँ इन्हीं विसंगतियों, तकलीफों और लाचारियों का स्वतः स्फूर्त अभिव्यक्ति है तभी तो 'अकेली औरत को रोना' - कविता में वे लिखती हैं -

'अपने लिए गैस जलाती है
कि नास्ते में कुछ अच्छा पका लें
शायद वह खाना आँखों के रास्ते
मन को ठण्डक पहुँचाए
पर खाना हलक से नीचे
ऐसे उतरता है
कि जबान को छुए बगैर
पेट तक पहुँच जाता है।
रूलाई का गुबार पेट में
यहाँ वहाँ फँसता है

और आँखों के रास्ते
बाहर निकलने की सुरंग ढूँढता है।'[3]

सुधा अरोड़ा की कविता में स्त्रियों के कई आयाम दिखाई देते हैं। सदियों से दासत्व से मुक्ति की छटपटाहट, मैं भी हूँ का भाव और सामाजिक रूढ़ियों से टकराती हुई स्त्री दिखाई देती है। स्त्री ने जब स्वयं को रचा तो उस मध्यकालीन स्त्री की छवि को तोड़ा, जो उसे भोग और श्रृंगार की प्रतिमा के रूप में चित्रित कर रहा था- बहुत अच्छा लगता है पढ़कर जब सुधा अरोड़ा अपनी कविता 'शतरंज के मोहरे' में लिखती हैं -

'इक्कीसवीं सदी की यह औरत
हाड़ मांस की नहीं रह जाती
इस्पात में ढल जाती है
और समाज का सदियों पुराना
शोषण का इतिहास बदल डालती है।'[4]

भूमंडलीकृत समाज में अपने अस्तित्व को बनाए रखने की छटपटाहट स्त्री रचनाकारों में दर्ज हुई है, वह समाकालीन दौर में स्त्री-लेखन को विशिष्ट स्थान पैदा करती है। अलोचकों के अनुसार - 'वह अपने वजूद को महसूस करती हैं, एक सजग इकाई के रूप में वह तमाम यथार्थ स्थितियों से प्रतिकृत होती वर्त्तमान सामाजिक परिवेश के अन्तर्विरोधों व असंगतियों को अपनी व्यक्तिमत्ता स्त्री अस्मिता और मानवीय स्थिति के परिप्रेक्ष्य को जानना-समझना चाहती है। उनका विश्लेषण विवेचन करने का प्रभास करती हैं।'

सुधा अरोड़ा की कविताएँ स्त्री के अन्तर्मन के द्वन्द्व को पाठक के समक्ष प्रस्तुत करती हैं। इनकी कविताएँ समय और स्त्री के मनोभावों को उकेरती हुई अपने से संवाद और संघर्ष करती हैं। अधिकतर रचनाएँ एक स्त्री की आशा, निराशा, चुनौतियां, संवेदनाएँ-जैसी तमाम अभिव्यक्तियों को पाठक तक पहुँचाती हैं। हताश कर देने वाले माहौल में स्त्री विमर्श की पैरोकार कथाकार एवं कवयित्री सुधा अरोड़ा की किताब कम -से-कम एक दरवाजा विकल्पहीनों, बेबस, मजलूमों और मासूमों के लिए विकल्प की बात करती हैं और आधी दुनिया को हाशिए पर डाल देने से क्षोभ प्रकट करती हैं। उनकी प्रत्यंचा पर राजनीति, अर्थनीति, धर्मनीति एवं पर्यावरणके सवाल भी हैं - इसीलिए ऐसी कविताओं के तासीर भी जीवन जन्य खुरदुरापन लिए हुए हैं तभी तो - ..... कि बची रहे धरती की सुन्दरता कविता में वे लिखती हैं -

'तुम्हें करते रहना है ऐसे ही
और दिनों का आविष्कार
कि बची रहे धरती की सुन्दरता
जंगलों में रंग बिरंगी चिड़िया
और फैलता रहे इस पर्यावरण में
तुम दोनों का प्यार-'[5]

सुधा अरोड़ा ने स्त्री जीवन के विविध पक्षों को बड़ी संवेदनशील दृष्टि से देखा, परखा और आयन्त सादगी के साथ अभिव्यक्त किया। इन कविताओं में कवयित्री दर्दमंद

स्त्रियों की दरदियाँ बनकर अगर एक साथ उनके घाव खोलती हैं, तो दूसरे हाथ में उन्हें आत्मसाक्षात्कार के अस्त्र भी थमाती हैं, जिससे ये स्त्रियाँ भावात्मक आघात और संत्रास से टूटती नहीं बल्कि मजबूत बनती हैं, तभी तो वो अपनी कविता - 'अब हम आँसुओं से नहीं, अपनी आँख के लहू से बोलेंगे..... में लिखती हैं -

'अब तुम हमेशा रहोगी
सत्ता के लिए चुनौती बनकर
कानून के लिए नई इबारत बनकर
स्त्री के लिए बहादुरी की मिसाल बनकर
कलंकित हुई इंसानियत पर सवाल बनकर
सदियों से कुचली जा रही स्त्री का सम्मान बनकर'[6]

सुधा अरोड़ा ने अपने चारों ओर के परिवेश को समझा और प्रत्येक वर्ग की नारी को अपनी कविताओं में स्थान दिया चाहे वह नारी उच्च वर्ग की हो, मध्यम वर्ग की या सामान्य वर्ग की, उन्होंने प्रत्येक तबके की नारियों के प्रति होने वाली हिंसा तथा प्रतिक्रिया स्वरूप होने वाले संघर्ष को पाठकों के समक्ष रखा। समाज का चाहे कोई भी वर्ग क्यों न हो। छल हमेशा औरत के साथ ही होता है। इसका मुख्य कारण है वहाँ प्रतिवाद का अनुपस्थित होना। संग्रह के शीर्षक का चयन ही ऐसा है जैसे रूढ़िवादी परम्पराओं और पितृ-सत्तात्मक सोच की दीवारों से बनी काल कोठरी में कैद औरतें गुहार लगा रही हों। किस अपराध में उन्हें कैद मिली.....? आक्रोशित स्वर में वे अपने अधिकारों की मांग कर रही हैं..... मुक्त करो हमें इस अंधकार से..... इस घुटन से.....पीट रही है खिड़की-दरवाजों रहित दीवारों को..... कम-से-कम एक दरवाजा..... तो हो हमारे लिए-तभी तो वे अपनी कविता कम से कम एक दरवाजा में लिखती हैं -

'बेटियों को जब सारी दिशाएँ
बंद नजर आएं
कम से कम एक दरवाजा
हमेशा खुला रहे उनके लिए।'[7]

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात विभिन्न नारी सुधारवादी आन्दोलनों के प्रयासों तथा शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण समाज और विशेषकर नारी वर्ग की सोच में क्रांतिकारी परिवर्त्तन आया। विरोधों के मकड़जाल से संघर्ष करती स्त्री अब ताल ठोककर नारी-अस्मिता के रक्षार्थ प्रयास करने लगी -

'अकेली औरत
चेहरे पर मुस्कान की तरह
गले में पेंडेंट पहनती है
कानों में बुंदे
ऊँगली में अँगुठियाँ
और इन आभूषणों के साथ
अपने को लैस कर बाहर निकलती है

जैसे अपना कवच साथ लेकर निकल रही हो'[8]

इस संग्रह को पढ़ने के बाद अगर ठंडे दिमाग से विचार किया जाए, तो महसूस होता है कि कवयित्री के स्वर इनकी हर कविता में 'तीखे होते चले गए है' - इन कविताओं में इन्होंने स्त्री की पीड़ा, हताशा औरद्वन्द्व को बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है।

संख्या के धरातल पर हम देखें, तो सुधा अरोड़ा के दो ही काव्य संग्रह प्रकाशित हुए, लेकिन उनके काव्यकर्म का कैनवास बड़ा है। जिसके भीतर व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक सरोकार समाहित हैं। वस्तुतः सुधा जी ऐसी रचनाकार हैं, जो हमेशा समाज में अपेक्षित, वंचित एवं हाशिए पर खड़ी स्त्री के साथ खड़ी दिखाई देती है। इनका कवि मन घोर अमानवीय शक्तियों के सामने भी हार नहीं मानता और इनका सामना करने के संकल्प से युक्त दिखाई देता है। उनके इस संकल्प को उनकी कविता - 'वंह लड़की मौजूद है एक अध्याय की तरह में देखा जा सकता है -

'एक लड़की ने कर दिया है इन्कार
अपनी आत्मा को होने से प्रदूषित
उसने भाँप लिया है चटख रंगों के बीच
- बैठा निषाद -
नकार दिया है घुटन और तनाव की मुख्यधारा को
और बचा ली है कोमलता और संवेदना की नमी'[9]

जीवन कर्म योग है, एक साधना है, मूल्यों की खोज और प्राप्ति है और इसीलिए वरेण्य है। '[10] लेकिन समाज में होने वाले परिवर्त्तनों ने इस धारणा को भी परिवर्तित कर दिया। विज्ञान के आविर्भाव ने मानव को भौतिकता के संमदर में डूबोकर अत्याधिक स्वार्थी बना दिया फलतः घोर अवमूल्यन की स्थिति पैदा हुई। वर्त्तमान सामाजिक परिवेश में मानव पर स्वार्थ इतनी हावी हो गई कि वह समस्त नैतिक दायित्वों को भूलकर केवल स्वार्थ सिद्धि में लिप्त हो गया। मानव को परिवर्त्तन चक्र ने ऐसे बदलकर रख दिया कि सारे उदात्त मूल्य व्यक्ति के जीवन से गायब हो गए। आदर्शो और सिद्धान्तों की बलि चढ़ाकर सुविधाओं और उच्च जीवनयापन की लालसा ने व्यक्ति को चारित्रिक पतन की ओर धकेल दिया, तभी तो वे अपनी कविता 'अब हम आँसुओं से नहीं, अपनी आँख के लहू से बोलेंगे में.....लिखती हैं -

दामिनी!
जीना चाहती थीं तुम
कहा भी था तुमने बार-बार
दरिंदों से चींथी हुई देह से जूझते हुए
मौत से लड़ती रही बारह दिन
कोमा में बार-बार जाती
लौट-लौट आती
कि शायद साँसे सँभल जाए
आखिर सारी प्रार्थनाएं अनसुनी रह गई
दुआओं में उठे हाथ थम गए

अपने जीवन की जलती मशाल छोड़ कर
देह से तुम चली गई
पर हर जिंदा देह में अमानत बनकर ढल गई'[11]

इन्होंने स्त्री जीवन के भीतर के भयावह सच को बहुत सहज ढंग से काव्यानुभूति में परिवर्तित कर एक नये रूप में, नये अर्थ के साथ आग्रह भरे स्वर में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। हिन्दी साहित्य में स्त्री चाहे विषय के रूप में आई हो या विषयी के रूप में उसका एक लम्बा इतिहास रहा है। सुधा अरोड़ा स्त्री की भूमिका को पुनर्परिभाषित करना चाहती है। अंशुमाली सूर्य की तरह अपने तेज को स्वयं के झोले में समेटने को कहती हैं, क्योंकि अब उसे नया संधान करने की जरूरत है, नये संकल्प के साथ, नए पथ पर अग्रसर होना है क्योंकि सबका सोचते हुए उसने स्वयं के लिए कभी नहीं सोचा। मनाने, अनुनय-विनय करने में सारी मेधा को उसने लगा दिया।

नारी सृष्टि की नींव है, आधार है सृष्टि की सृजन मार्गदर्शिका हे एवं विस्तार को केन्द्र है। वह करूणा की प्रतिमूर्ति मातृत्व की साकार प्रतिमा, सृजन एवं धैर्य की देवी है। जब तक स्त्री की पारिवारिक और सामाजिक स्थिति का विकास नहीं होगा, तब तक समाज के विकास पर प्रश्न चिन्ह लगा रहेगा। कई सहस्त्राब्दियों से नारी को कुचला रौंदा जाता रहा है। प्रकृत्ति और संस्कृति में सदैव द्वंद्व रहता है। जब सामाजिक व्यवस्था व्यक्तित्व को दबाने का प्रयास करती है तब व्यवस्था उभरने लगती है। सुधा अरोड़ा द्वारा रचित 'पचपन पर की औरतें' कविता कुछ इसी प्रकार की कविता है -

'और मैंने सचमुच जब सँवारा अपने आपको
निहारता रहा नल से रूक-रूक कर टमकता पानी भिगोता रहा बर्तन
नई चप्पलें सामने आकर ठिठक गईं
उन्होंने पाँव का रूख लिया
और मैं निकल पड़ी अपने दफ्तर!

संस्कृति नैतिकता, परम्परा और मर्यादा की सुरक्षा के नाम पर सदियों से नारी उत्पीड़ित और दमित हो रही हैं। धार्मिक, सांस्कृतिक मिथकों और आख्यानों में अवस्थित ईश्वरीय विधि-विधान का वास्ता देकर स्त्रियों को नित्यावादी अन्धविश्वासी, रूढ़िग्रस्त बना दिया गया। पितृसत्तात्मक मूल्य व्यवस्था में घर और बाहर दोनों जगह पुरूष संरक्षण के बीच आंकी जाती रहने के कारण उसे दोयम दर्जे ही हासिल हुआ। घर के कामों में बँधी वह स्वयं को 'कमतर' देखने की आदी होती गई। विडंम्बना हीहै कि उसने अपने जीवन का सारा तत अपने भीतर बैठाये गए सत से जुड़ा हुआ महसूस किया। उसकी अपनी न तो स्वतंत्र गति थी, न ही दिशा।

सुधा अरोड़ा की कविता के कैनवास के केन्द्र में स्त्री अपने अनेक रूप और रंग में विद्यमान है। महानगर और जनपद, बुद्धिजीवी और श्रमजीवी, बालक और वृद्ध, परिवार और समाज तक उसकी संवेदना का विस्तार है। उपेक्षित मानवीयता और उसकी विवशता भी उनकी कविताओं में प्रकट होती है।

यह काव्य संकलन सुधा अरोड़ा की प्रतिमा के साथ न्याय करता है एवं इसमें संकलित तमाम कविताएँ अपनी अभिव्यक्ति के दायरे में जीवन की सहज अनुभूतियों

और संवेदनाओं को प्रकट करती है। अपने समय और समाज की विसंगतियों की पहचान इस संग्रह की कविताओं का एक खास गुण है और इसे काफी सरलता जीवंतता से इन कविताओं में दर्ज देखा जा सकता है। इस दौरान यथार्थ की बेहद खुरदुरी जमीन पर विचरता कवयित्री का बेचैन मन नाना प्रकार के झूठ-फरेब से सँवरती बदलती दुनियाँ में स्त्रियों के दुःख, आम आदमी के दुःख और उसके जीवन की कठिनाइयों से खास तौर पर रूबरू होता दिखाई देता है।

सन्दर्भ :

1. सदियों के खिलाफ तैयार हो रहा है एक मोर्चा- 'कम से कम एक दरवाजा' काव्य संग्रह-बेधि प्रकाशन-दूसरा संस्करण, जून-2017 पृष्ठ सं.-115
2. मौत के साये - कम से कम एक दरवाजा - काव्य संग्रह - बेधि प्रकाशन, दूसरा संस्करण जून-2017 पृष्ठ सं.-136
3. 'अकेली औरत का रोना' 'कम से कम एक दरवाजा' काव्य संग्रह - बेधि प्रकाशन, दूसरा संस्करण जून-2017 पृष्ठ सं.-25
4. शंतरज के मोहरे 'कम से कम एक दरवाजा' काव्य संग्रह - बेधि प्रकाशन, दूसरा संस्करण जून-2017 पृष्ठ सं.-48
5. कि बची रहे धरती की सुन्दरता - कम-से-कम एक दरवाजा कविता-संग्रह-बेधि प्रकाशन, दूसरा संस्करण जून-2017- पृष्ठ सं.-98
6. अब हम आँसुओं से नहीं अपनी आँख के लहू से बोलेंगे - कम से कम एक दरवाजा-काव्य संग्रह-बेधि प्र. जून 2017 - पृष्ठ सं. 100
7. कम से कम एक दरवाजा- 'कम से एक दरवाजा- काव्य-संग्रह-बेधि प्रकाशन दूसरा सं. जून 2017 - पृष्ठ सं.-50
8. उसका अपना आप-कम से कम एक दरवाजा-काव्य-संग्रह वेधि प्र०, जून-2017, पृष्ठ सं.-45
9. वह लड़की मौजूद है एक अध्याय की तरह कम से कम एक दरवाजा- काव्य संग्रह बेधि प्र. जून 2017 - पृष्ठ सं.-82
10. डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय-समकालीन विद्धान्त और साहित्य, मैकमिलन क० ऑफ इंडिया,1976 - पृष्ठ सं.-82
11. अब हम आँसुओं से नहीं, अपनी आँख के लहू से बोलेंगे - कम से कम एक दरवाजा काव्य-संग्रह-बेधि प्रकाशन, दूसरा सं. - जून 2017 - पृष्ठ सं०-100

सहायक प्राध्यापक,
विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग,

महिला सबलीकरण की दिशा में महात्मा गांधी चिंतन

– प्रा. रेणुका चव्हाण

भारत की पुरुष प्रधान संस्कृति ने 'स्त्री' पर अपना निरंतर आबाध एकाधिकार रहे इसलिए उसे कई रुढि परंपराओं की निष्ठुर श्रृंखलाओं में बाँधे रखा 'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते, रम्यंते तत्र देवता' का जाप करने वाली व्यवस्था ने बंधनों को बनाते समय कभी-भी स्त्री की मानसिकता, भावना, ईच्छा, आकांक्षा, अंतर्मन का विचार नहीं किया। उसके मन पर केवल तुम 'अबला' हो यह बिंबित किया जिससे सभी दृष्टियों से समृद्ध होने के बावजूद वह स्वयं को अबला तथा पराधीन मानती रही। परिणामतः उसका व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, शैक्षिक, अध्यात्मिक विकास नहीं हो पाया। अपने जीवन की हर अवस्था को पुरुष के कदमों में सौंप कर उसकी अनुगामी मात्र बनी रही जिससे उसके आत्म का विस्तार, विचारों का परिष्कार एवं कार्य का अविष्कार नहीं हो पाया। पितृसत्ता की मूल्य संस्कारों की निर्दयी वर्जनाओं की जीवनांधकार गुफाओं में सिसकती स्त्री की मुक्ति के प्रयासों में सत्य एवं अहिंसा के पुजारी राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का बहुमूल्य योगदान रहा है। स्त्री के सर्वांगीर्ण विकास के पक्षधर होने के कारण स्त्री के संदर्भ में उन्होंने जो चिंतन प्रस्तुत किया वह स्त्री मुक्ति के लिए संघर्षरत समाज सुधारकों, साहित्यकारों के लिए दिशादर्शक एवं मार्गदर्शक साबित हुआ। उन्हीं के विचारों से प्रेरणा पाकर कई सुधारकों ने स्त्री मुक्ति के लिए सामाजिक आंदोलन किए तो साहित्यकारों ने स्त्री विमर्श मूलक साहित्य की रचना की उनके विचार इतने सक्षम एवं सर्वसमावेशी थे कि आगे चलकर स्त्री विमर्श मूलक साहित्य समीक्षा के मानदंडों के रूप में स्थापित हुए।

स्त्री सक्षमता के लिए उसे परंपरागत दास्तामय मानसिकता से बाहर निकालना अत्यावश्यक था। जब-तक मानसिक रूप से वह सक्षम नहीं हो पाती उसका मानसिक बल नहीं बढता तब तक अन्य माध्यमों से उसकी उन्नति की अपेक्षा करना निरर्थक है। इसलिए महात्मा गांधीजी ने उसे परंपरागत मानसिकता से बाहर निकालकर मानसिक, आत्मिक रूप से सक्षम बनाने की कोशिश की जिसके लिए वे सीता, द्रोपदी आदि नारियों के आत्म बल के भी उदाहरण देते रहे।

गांधीजी ने सबसे पहला सशक्त प्रहार नारी को सभी स्तरों से असहाय बनाने वाले 'अबलापन' पर ही किया। पुरुष की सभ्यता ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए नारी को अबला घोषित किया और नारी ने भी बिना आगे पीछे देखे इस निराधार मान्यता को आँख मूँदकर स्वामी सेवक भाव की भाँति स्वीकार किया। यहीं से नारी के आत्मिक, शैक्षिक, सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक, मानसिक, भावनिक, अधःपतन का दौर आरंभ हुआ। अपने पास पुरुष की भाँति सभी योग्यताएँ होने के बावजूद केवल स्वयं को अबला मानकर चार दीवारों के अंदर पुरुष की भावनिक, मानसिक, शारीरिक हिंसा का शिकार होती रही। मानवीय योग्यताओं के आधार पर कहें तो अबलापन का कोई भी निशान स्त्री में नहीं है। हाँ, अगर मानवीयता के बाहर की बात करें तो निश्चय ही स्त्री या अबला कमजोर है। महात्मा गांधी स्वयं लिखते हैं, 'स्त्री को अबला कहना उसकी

मानहानि करना है, यह पुरुष का स्त्री के प्रति घोर अन्याय है। यदि बल का अर्थ पशुबल है तो निःसंदेह स्त्री पुरुष से कमजोर है, क्योंकि उसमें पशुता कम है। लेकिन अगर बल का अर्थ नैतिक बल है तो स्त्री पुरुष से अनंत गुनी ऊँची है।'[2] सहजबोध, संहिष्णुता, अंतर्ज्ञान, सहनशीलता, स्वार्थत्याग, धैर्य आदि की दृष्टि से स्त्री-पुरुष से भी सरस है। आचार्य विनोबा तो स्त्री को अबला की बजाय पुरुष से भी रक्षण समर्थ मानते हैं क्योंकि स्त्री देह आक्रामक नहीं अपितु प्रतिरोधात्मक होती है। फिर उसे अबला कैसे कह सकते हैं? स्त्री अबला पन के कारण पुरुष की रक्षिता है इस धारणा के विरुद्ध गांधीजी है। स्त्री आत्मरक्षा में सक्षम है। विपदा में सीता द्रोपदी की रक्षा पुरुष ने नहीं उनके नैतिक आत्मबल ने की। नारियाँ अबलापन त्याग दे तथा नैतिक एवं आत्मबल से सक्षम बने इसलिए गांधीजी आध्यात्मिक उपदेश देते हुए लिखते हैं, 'शरीर को हम अबला विशेषण दे सकते है, आत्मा को नहीं। जिसका आत्मबल जागृत है वह किसी भी विपदा से संघर्ष कर सकती है। जिस प्रकार मनुष्य के बुद्धि बल के सामने हाथी का शरीर बल निरर्थक है उसी प्रकार स्त्री के आत्मबल के आगे पुरुष का बुद्धि एवं शरीरबल तृणवत है। अतः स्वरक्षा की जिम्मेदारी स्वयं को अबला मानकर दूसरों पर वह न सौंपे। दुष्टों से केवल शरीर नष्ट हो सकता है आत्मा नहीं। शरीर के प्रति जिस दिन हम निर्भय हुए उस दिन हम शेर ही है। अतः बल राक्षसी शरीर प्राप्ति में नहीं अपितु मन की दृढ़ता, आत्मा की पहचान तथा मृत्यु के प्रति निर्भय होने में है।'[3]

नैतिक बंधनों की कराल कोठरी में असहाय तड़पती स्त्री हमेशा पुरुष से समानता का अधिकार माँगती रही। परंतु स्त्री को मात्र उपभोग की वस्तु मानने वाली पुरुष प्रधान संस्कृति ने उसकी न्याय माँग को हमेशा अनसुना कर अपनी दहशत उस पर जमाये रखी। उसकी शारीरिक भिन्नता का फायदा लेकर उसे हीन, निम्न, कनिष्ठ आदि संबोधनों से संबोधित कर न तो समानता के अधिकार दिए और न ही अपने बराबर का मानने की सद्बुद्धि उसमें पनपी। महात्मा गांधी ने पुरुष के श्रेष्ठत्व को पूरी तरह नकारते हुए दोनों को समानता की जमीन पर ला खड़ा किया। स्त्री तथा पुरुष दोनों एक ही है इसीलिए किसी को श्रेष्ठ या कनिष्ठ मानना प्रकृति का अवमान करना है। स्त्री पुरुष की संरचना में फर्क जरूर है परंतु वह फर्क एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए नहीं अपितु एक दूसरे को पूरक साबित होने के लिए है। अर्थात एक दूसरे की पूरकता से ही सृष्टि का चक्र अविरत चलता रहता है। स्पष्ट है कि सृष्टि की निरंतरता के लिए अगर दोनों की समान आवश्यकता है तो कोई श्रेष्ठ और कोई कनिष्ठ कैसे? महात्मा गांधीजी लिखते हैं, 'मेरी अपनी राय तो यह है कि जैसे मूलतः स्त्री और पुरुष एक है, ठीक उसी प्रकार उनकी समस्या भी मूल में एक ही होनी चाहिए। दोनों में एक ही आत्मा विराजमान है। दोनों एक ही प्रकार का जीवन बिताते हैं दोनों की एक-सी ही भावनाएँ हैं। दोनों एक-दूसरे के पूरक है। एक की सक्रिय सहायता के बिना दूसरा जी नहीं सकता।'[4] मात्र घर के बाहर की जिम्मेदारियाँ उठाने के कारण स्वयं को ऊँचा मानना सर्वथा असंगत है। घर की बाहर से सुरक्षा जितनी आवश्यक है उतना ही उसे भीतर से स्वच्छ एवं व्यवस्थित रखना भी। पुरुष अगर बाहरी जिम्मेदारी अपने कंधों पर लेता है। इसलिए परिवार, समाज, देश, विश्व ही नहीं अपितु समस्त सृष्टि में भी पुरुष के साथ साथ स्त्री की समान आवश्यकता

है। अतः स्त्री को निम्न मानना मात्र हमारी मानसिक कमजोरी के अलावा और कुछ नहीं। पत्नी पति की दासी नहीं अपितु संगिनी, सहचारिणी, सहधर्मिता, अर्धांगिनी, सहयोगी मित्र है। पति के अधिकार और कर्तव्य दोनों में पत्नी का बराबर का हिस्सा है, दोनों एक-दूसरे के सुख-दुख के समान साझेदार है। इसलिए उनकी जिम्मेदारियाँ एक दूसरे में साझेदार हैं इसलिए उनकी जिम्मेदारियाँ एक-दूसरे के प्रति और दुनिया के प्रति भी एक-सी ही है।

गांधी जी कहते हैं हर स्त्री पुरुष को समानता की बीमार मानसिकता का त्याग कर राष्ट्र उद्धार के कार्य में लग जाना है राष्ट्र का विकास मात्र पुरुषों से संभव नहीं स्त्री को निम्न दर्जा देकर घरों में बंदी बनाने से हमारे देश को अर्धांग वायु हुआ है क्योंकि 50% जनता मात्र दर्जा के सवाल से घरों में निष्क्रिय बैठी है। जिस प्रकार शरीर को अर्धांग वायु होने पर वह अपेक्षित कार्य नहीं कर पाता उसी प्रकार अर्धांग वायु की तरह निष्क्रिय बना देश का पूरा महिला समाज जब तक सक्रिय नहीं होता तब तक राष्ट्रोत्थान का अपेक्षित लक्ष्य प्राप्त नहीं होगा। 8 मई 1919 को मुंबई में आयोजित नारी सम्मेलन में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था, 'जब तक हिंदुस्तान की नारियाँ पुरुष के साथ जागतिक, धार्मिक एवं राजकीय कार्य में समान सहभाग नहीं लेगी तब-तक हिंदुस्तान का सितारा उगा हुआ नहीं दिखेगा।'[5]

कई शिक्षित नारियाँ अशिक्षित बहनों के साथ बोलने में या उनके साथ रहने में अपना अपमान समझती है। परंतु शिक्षित महिलाओं को चाहिए कि वे इस तरह मानवता धर्म विरोधी आचरण करने की बजाय अपनी अशिक्षित बहनों को भी शिक्षित बनाने के अभियान में जुटे। इससे उनका ज्ञान कम नहीं होगा अपितु उनका व्यक्तित्व अन्य बहनों में आदर्शमय बनेगा तथा देश समाज उनके इस सत्कार्य का निरंतर ऋणी रहेगा।

स्कूली शिक्षा के साथ-साथ व्यवसायिक शिक्षा का समर्थन भी महिलाओं के लिए गांधीजी करते हैं। कई विधवा महिलाएँ निष्क्रिय बैठी अपना समय बर्बाद करती है उन्हें अगर चरखा चलाने की व्यवसायिक शिक्षा दी जाए तो भारत का बहुंतांश विदेश में चला जाने वाला धन बच जाएगा और विधवाओं को भी निरर्थकता का होने वाला बोध दूर हो जाएगा। महिलाओं में महिला ही जितना सफल कार्य कर सकती है उतना पुरुष नहीं। इसीलिए महिलाओं ने स्वयं पहले शिक्षित होना आवश्यक है तथा शिक्षित महिलाओं ने अशिक्षित तथा विधवाओं को शिक्षा देने का विधायक कार्य हाथ में लेना है।

नारी सबलीकरण के लिए गांधीजी परंपरागत वैवाहिक मान्यताओ में भी परिवर्तन चाहते थे नारी के संपूर्ण अस्तित्व की सत्ता को नकारने वाली बाल विवाह की प्रथा का तीव्र विरोध किया समाज की परवाह न करते हुए इस प्रथा के विरुद्ध अपना चिंतन प्रस्तुत किया और पूरी दृढ़ता के साथ कहा कि जब तक लड़की पंद्रह वर्ष की अर्थात सज्ञान नहीं होती तब तक उसका विवाह किसी भी दबाव में करना उचित नहीं। मात्र माता-पिता या बड़ों के कहने पर किसी को भी जीवन साथी स्वीकार करने से जीवन की सहजता नष्ट होकर बा' या अंतः संघर्ष की स्थितियाँ ही निर्माण होती हैं। इसीलिए लड़की को सज्ञान होने पर अपना जीवनसाथी चुनने का अधिकार मिलना चाहिए। (यंग इंडिया, दि. १०.४.१९३०)

एक दीमक की भांति समाज व्यवस्था को खोखला करने वाली दहेज प्रथा की

गांधीजी ने घृणा की। असीम दहेज के कारण ही लड़की पैदा होना लोगों को बोझिल एवं अशुभ लगता है। अपने पुत्र की शिक्षा, योग्यता की बोली लगाना गांधीजी की दृष्टि में विवाह का बाजारीकरण करना है। अतः अपने जाति के चंद पढ़े लिखे युवाओं के पीछे लगने की बजाय अंतरजातीय विवाह किए जाए जिससे दहेज माँगने वालों की अहमियत अपने आप कम हो जाएगी। उन्होंने लिखा है 'विवाह रुपए के लिए माँ-बाप का किया हुआ सौदा नहीं होना चाहिए। इस प्रथा का जाँति पाँति से गहरा संबंध है। जब तक किसी विशेष जाति के ही सौ-दो सौ युवक-युवतियों के भीतर जीवन साथी का चुनाव करना पड़ेगा तब तक इस प्रथा की कितनी ही निंदा की जाए फिर भी यह बनी रहेगी। अगर इस बुराई को जड़ से मिटाना है तो लड़के लड़कियों या उनके माँ बाप को जाति को जाति का बंधन तोड़ना होगा।'[6]

पालने में झूलते-झूलते ही विधवा होने वाली निरिह- निरपराध बालिकाओं की उस समय कमी न थी। जिसने अपने पति का कभी मुख तक न देखा हो ऐसी कई विधवा युवतियों को अपना जीवन समाज के लांछनों, उपहासों और घृणाओं को सहते-सहते जीना पड़ता था। महात्मा गांधीजी ने ऐसी घृणित परंपराओं पर ही प्रश्नचिन्ह लगाते हुए विधवा पुनर्विवाह का समर्थन किया। आखिर क्यों किसी अपरिचित की याद में वह अपना संपूर्ण जीवन तिल-तिल टूट कर बिताये? अगर कुछ महिलाएँ पति सुख पाकर विधवा हुई है वह पुनर्विवाह की बजाय राष्ट्र निर्माण के कार्य में योगदान दे। गांधीजी ने देखा कि कई विधाएँ अपना अमूल्य समय यूँ ही निष्क्रियता से व्यर्थ गवाँ रही है। कुछ विधवाएँ मंदिरों - मठों - आश्रमों की साधु सेवा में लगी हैं जिसकी उन्हें कोई आवश्यकता नहीं। निष्क्रियता का अनुभव प्रतिपल करने वाली समाज की निगाहों में अशुभ बनी इन महिलाओं के सबलीकरण की दिशा में भी गांधीजी प्रयासरत रहे। शिक्षित महिलाओं को उन्होंने आवाहन किया कि वे इन विधाओं के बीच जाकर उन्हें देशकार्य जैसे पवित्र कार्य में लगाए ताकि उनके जीवन का रिक्तता बोध कम हो जाएगा। (14 नवंबर,1917 का संदेश) विधवा ने पति जरूर खोया है परंतु आत्मा एवं शरीर को नहीं। इसलिए उन्हें समय- शक्ति-योग्यता का अपव्यय करने की कोई आवश्यकता नहीं। अपनी विधवा बहन रलियात बेन को भेजे एक पत्र में उन्होंने लिखा है, ' तू मेरे साथ कार्य कर जिससे तुझे कई भाई होने की अनुभूति होगी, कई पुत्रों की माता बनने का सौभाग्य प्राप्त होगा।'[7] (साबरमती, 11 फरवरी-2018) विधवा निर्मला (गांधी जी के भतीजे गोकुलदास के भतीजे की पत्नी) को लिखा मुझे सहयोग दो तुम्हारा पूरा जीवन सौंदर्य से भर जाएगा तथा मैं विधवा हूँ इसका अहसास तक न होगा। विधवाओं की दुर्बलता को भी एक विधायक दिशा में परिवर्तित कर उनकी सबलता, सक्षमता का महाद्वार ही गांधी जी ने खोला।

लड़कियों की बाल हत्या के कई तरीके इतिहास में दर्ज हैं। आज भी उसी की पुनरावृति हो रही है। लड़का और लड़की के प्रति भेदभाव की दृष्टि एक को सर आँखों पर बिठा रही है तो दूसरे को मौत के घाट पर उतार रही है। गांधीजी ने अज्ञानी जनों को इस अकाट्य सत्य से परिचित कराया कि 'संसार की नित्यता स्त्री और पुरुष दोनों पर निर्भर है। किसी एक से यह चक्र पूरा नहीं हो पाएगा। लड़कियों की हत्या से हम हमारा

तथा प्रकृति का नुकसान कर रहे हैं।'[8] अगर हम स्वयं जीवित रहना चाहते हैं तथा आने वाली पीढ़ी को सुख चैन से जीने देना चाहते हैं तो प्रकृति का प्रकृति में हस्तक्षेप न करना ही बेहतर होगा।

नारियों को पपीता एवं लांछित बनाने वाला वेश्या व्यवसाय तक गांधी जी की पैनी निगाह से छूट नहीं पाया। अर्थात गांधीजी हर स्तर की नारी को ऊपर उठाना चाहते थे। उन्होंने इस बात को भी स्पष्ट किया कि भले ही समाज वेश्या व्यवसाय में स्त्री को ही दोषी मानता रहा हो परंतु इसमें पुरुष भी कम दोषी नहीं है। वेश्या तो बेचारी अपने पेट के लिए शरीर बेचती है परंतु यहाँ आने वाले अधिकतर चरित्रहीन विवाहित पुरुष होते हैं। अर्थात वे दोनों ओर से पतित एवं दोषी है। यहाँ दूसरे कार्य की आवश्यकता है। एक तो इस अनैतिक कार्य में जो फँसते चले जा रहे हैं उन्हें उबारने की और दूसरे जो तन बेच रही है उनमें इस कार्य के बुराइयों के जागृति की। (यंग इंडिया, दि. 21.1०.1926)

धार्मिक क्षेत्र में देवदासी जैसी कुप्रथा नारियों की नैतिकता का हनन कर उसे आत्मनिर्भर, आत्मसंयमी तथा आत्म सम्मानी रहने से विमुख कर रही हैं। गांधीजी के मतानुरूप उन्हें देवदासी कह कर हम धर्म के नाम पर स्वयं ईश्वर का अपमान करते हैं। एक तो अपनी ही बहनों का उपभोग लेते हैं और दूसरे अपनी लंपटता छिपाने के लिए ईश्वर का नाम लेते हैं। अशिक्षित धर्मभीरु इन नारियों का ईश्वर के नाम पर किया जाने वाला शोषण धार्मिकता के लिए कलंक है। ईश्वर के नाम पर चलने वाले इस सवैराचार को रोकने की कोशिश कर धार्मिक क्षेत्र की अनैतिकता का जहाँ बोध कराया वहीं नारी के अंधविश्वास को तोड़कर उसे सत्य के दर्शन कराए।

स्त्री के सामाजिक सबलीकरण के साथ-साथ उनका राजनीतिक सबलीकरण भी गांधीजी ने आवश्यक माना वे नारियों को मतदान का अधिकार होना भी अत्यावश्यक मानते हैं जिससे वह अपनी राज्य व्यवस्था से ही भांति भांति से ही भलि-भाँति परिचित हो जाएगी। राजनीति में उनके सक्रिय सहभाग से उनकी कल्पनाशक्ति, नियोजनबद्धता, कार्यक्षमता का विधायक लाभ राष्ट्र को होगा। देश-विदेश की राजनीति से वह अभिभूत होकर देश के विकासात्मक एवं नियोजनात्मक कार्य में योगदान दे पाएगी। वे इसी सद्भावना के कारण इंग्लैंड में जारी नारियों की मतदान अधिकार प्राप्ति की लड़ाई को विधायक एवं संवैधानिक तथा न्याय संगत मानते हैं

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी राजनीतिक तथा सामाजिक लड़ाई साथ-साथ ही लड़ते रहे। देश की स्वतंत्रता के लिए उन्हें जिस प्रकार का संघर्ष करना पड़ा उसी प्रकार का नारियों को पुरुष प्रधान संस्कृति के अस' बंधनों से मुक्त करने के लिए भी करना पड़ा। दोनों स्तरों पर वे संघर्ष का एक ही माध्यम अपनाते रहे वह है अहिंसा। स्त्री को भी आत्म जागृत कर उसके संबंध में आने वाली हर बाधा को अहिंसा के मार्ग से दूर करने की सीख देते रहे। स्त्री को समानता, शिक्षा, वैवाहिक स्वतंत्रता, राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति जैसे स्व विकास के माध्यमों के लिए प्रेरित करते रहे। आज उन्हीं के विचारों एवं महत्तम कार्य के कारण स्त्री सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक आदि कई क्षेत्रों में पूरे आत्मविश्वास के साथ उतर रही है तथा अपनी एक स्वतंत्र पहचान भी बना रही है। वे नारी दुर्बलता के लिए जिम्मेदार हर परंपरागत धारणा का विरोध करते रहे तथा

नारियों में जागृति लाते रहे जिससे स्त्री सबलीकरण का पथ प्रशस्त हुआ। स्त्री शिक्षा, संस्कृति, धर्म, राजनीति, परिवार संबंधी गांधीजी ने जो चिंतनात्मक मूल्य प्रस्तुत किए वही आज महिला सबलीकरण के मानदंडो के रूप में स्त्रीवादी चिन्तक स्वीकार कर रहे है। परंतु महिला सक्षमीकरण की जितनी चर्चा हुई उतनी महात्मा गांधी द्वारा प्रस्तुत चिंतन मूल्यात्मक मानदंडों की नहीं हुई।

संदर्भ :

१ स्त्री शक्ति जागरण झ्र विनोबा भावे पृ. 11, २ यंग इंडिया, दि. 10.4.1930, ३ गांधी दर्शन, खण्ड : 18, पृ.-7, ४ हरिजन सेवक, दि.24.2.1940, ५ महात्मा गांधी : संकलित वांग्मय, खण्ड : 15, पृ. 357, ६ यंग इंडिया, दि. 10.4.1930, ७ यंग इंडिया, दी. 21.10.1926, ८ महात्मा गांधी संकलित वांगमय, खंडः 24 पृ. 397

भूमंडलीकरण के खिलाफ एक प्रतिरोध के रूप में आदिवासी संस्कृति

- डॉ. अनीश के.एन.

मानव का प्रकृति के बीच का संबन्धअत्यंत पुराना है। भूमि में प्रकृति तो काफी पहले से विद्यमान है जबकि मानव की ही उत्पत्ति उसके बाद में हुई। अतः इसमें कोई गलती नहीं है कि प्रकृति के ही कारण मानव -जीवन संभव है। लेकिन आधुनिक मानव इसी प्रकृति के लूट-खसोट में लगा हुआ है जिसके कारण आगे ले जाना मुश्किल की बात है। इस प्रकार की सोच तो भूमंडलीकरण की ही देन है, जहाँ मनुष्य की मानवीय संवेदना के लिए कोई स्थान नहीं है। उपभोक्तावादी मानसिकता के कारण अधिक-से-अधिक लाभ कमाने की इच्छा हर एक मनुष्य में है। आज मनुष्य, मनुष्य न होकर वस्तु के रूप में तब्दील हो गया है। अशिक्षित होने के कारण आदिवासी समाज पर इसका इसका सबसे बुरा प्रभाव पड़ा है।

भारत में आदिवासी सभ्यता एवं संस्कृति अत्यंत प्रचीन है। आदिवासियों को 'वनवासी' भी कहा जाता है तथा गाँधी जी की दृष्टि में वे'गिरिजन' हैं। डॉ. विनायक तुकाराम के अनुसार 'आदिवासी साहित्य वनसंकृति से संबन्धित साहित्य है । यह गिरी कन्द्राओं में रहने वाले अन्याय ग्रस्तों का क्रांति का साहित्य है'[1]। आदिवासी मुख्यरूप से प्रकृति पर ही आश्रित रहते हैं तथा वन द्वारा अपना जीवन-यापन करते हैं। ये लोग अपनी आजीविका के लिए खेती, शिकार, बांस की टोकरी बनाना, शहद संग्रह करना, जड़ी-बूटियों द्वारा औषधि निर्माण आदि करते रहते हैं। इस प्रकार के क्रियाकलापों में आदिवासी अत्यंत सफल होते हैं। परंतु भूमंडली करण के इस दौर में प्रतिष्ठित समाज प्रत्येक दृष्टि से इनका शोषण करने में लगा हुआ है। इनके द्वारा निर्मित वस्तुओं को काफी सस्ते दामों में खरीदकर बाजार में यथासंभव उच्च मूल्यों में बेचकर अधिकाधिक मुनाफा कमाया जाता है किंतु उस मुनाफे का एक प्रतिशत भी इन शोषितों के हिस्से नहीं आता है। उल्टे, बाजार की यह गिद्ध दृष्टि 'विश्वग्राम' के नाम पर अब उनके इलाकों पर टिकी हुई है। आदिवासी जंगलों में निवास करते हैं और प्रकृति आधारित जीवन जीते हैं। अतः वे प्रकृति का दोहन एवं शोषण कदापि नहीं करते हैं बल्कि वे प्रकृति से उतना ही लेते हैं जिससे ये जीवित रह सकें। प्रकृति उनके लिए माँ के समान है । यही कारण है कि इनके निवास-स्थान आज भी प्राकृतिक एवं बहुमूल्य संसाधनों से भरे पड़े हैं। प्राकृतिक एवं खनिज संपदा की दृष्टि से झारखंड देश का महत्वपूर्ण राज्य है। अभ्रक, लोहा, तांबा, यूरेनियम आदि खनिज पदार्थ यहाँ के आदिवासी इलाकों में, इनके घरों एवं खेतों के नीचे भारी मात्रा में मौजूद हैं। आज उस पर 'बाजार' की दृष्टि पड़ चुकी है । इसलिए उपभोक्तावादी समाज अब विकास के नाम पर इनकी जमीन अपनाने की कोशिश की जा रही है। जो जमीन उनकी बपौति है में, वहाँ आज वे शरणार्थी बन चुके हैं। 'झारखंड में 1990 के बाद से अभी तक लाखों एकड़ जमीन खरीदी गयी जिससे लाखों आदिवासी बर्बाद हो गये। आज 10 लाख आदिवासी विस्थापित होने की कगार

पर हैं'।[2] झारखंड की विलुप्तप्राय 'आदिम पहाड़िया' जनजाति जो संस्कृति का बेहतरीन नमूना हैं, आज अपने अस्तित्व को बचाने के लिये संघर्षरत है। झारखण्ड में 19वीं सदी में अपने अस्तित्व को बचाने के लिये बिरसा मुण्डा और सिदो-कान्हू के नेतृत्व में जो विद्रोह हुये उन्हें कौन नहीं जानता। अंग्रेज जा चुके लेकिन आदिवासियों की स्थिति में अब भी कोई परिवर्तन नहीं है। वे आज भी संघर्ष ही कर रहे हैं, अपनी आजादी के लिये, अपने अधिकारों के लिये,दमन एवं शोषण के खिलाफ।

झारखंडी भाषाओं की पत्रिका 'अखड़ा' की संपादक वंदना टेटे के अनुसार, 'भारत का वंचित समुदाय आज इतिहास से भी भयानक यातना के वर्तमान में जी रहा है। सोवियत संघ के ढहते ही पूरी दुनिया को मुनाफे के 'विश्वग्राम' में बदल देने का जो निर्मम खेल शुरू हुआ है। वह अत्यंत अमानवीय है। भारत जैसे देशों के लोकतांत्रिक संकल्पों को ताक पर रख कर नई आर्थिक नीतियाँ थोप दी गईं। प्राकृतिक संसाधनों वाले आदिवासी इलाकों की बोलियाँ लगने लगीं। रातों-रात देशी-विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों को बिना किसी 'सिंगल विंडो' के पट्टे बाँट दिये गये। गरीब लेकिन संसाधनों से अमीर आदिवासी समुदायों के पास जब भूमि अधिग्रहण का नोटिस पहुँचा, तो वे अवाक रह गये। उन्हें लगा वे इस देश के नागरिक ही नहीं हैं। उनसे यह पूछने की भी कोई जहमत नहीं की गयी कि वे क्या चाहते हैं। सिंचाई, शिक्षा, पानी, स्वास्थ्य या कुछ और। वे सब कुछ कहते इसके पहले ही उनके मुँह बारुद से भर दिये गये। सामान समेटने से पहले ही मार-मार कर खदेड़ दिए गए । जब उनमें से कोई कोर्ट पहुँचा, तो फैसला सुना दिया गया-'राष्ट्रहित में विकास जरूरी है। विस्थापितों का मानवीय पुनर्वास सरकार की जिम्मेवारी है।' पिछ्ले साठ सालों में झारखंड की लगभग सत्तर प्रतिशत आदिवासी-दलित-अल्पसंख्यक आबादी 'लापता' है। सरकार के किसी विभाग के पास इनके बारे में कोई रिकार्ड उपलब्ध नहीं है। खनन, जंगल कटने और औद्योगीकरण से असंख्य गाँव भूगोल के नक्शे से 'डिलीट' हो चुके हैं। सरकार हर जनगणना के बाद आँकड़े रखकर बताती है कि आदिवासी आबादी में पिछ्ले एक दशक में कितने प्रतिशत का 'ग्रोथ' हुआ है। इसे क्या कहा जाए मासूमियत या फिर धूर्तता!'[3] विद्रूपता तो इसी बात की है कि सरकार विकास के नाम पर इन पूँजीपति वर्ग को सहायता दे रही है। संताल परगना में राज्य सरकार ने दस से अधिक करार पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों को किसानों से सीधे जमीन लेकर उद्योग खोलने की छूट दे दी किंतु जब संताल किसानों ने इसका विरोध किया तो पुलिस ने बहुराष्ट्रीय कंपनी के पक्ष में खड़े होकर संतालों पर गोली चलायी जिससे कई लोग मारे गये तथा तत्कालीन सत्ता ने भी पुलिस कार्रवाई का ही बचाव किया। इस प्रकर देखा जाय तो सत्ता और मीडिया आदिवासियों के खिलाफ है । इनके आगे शरणार्थी बनने के सिवा ओरकोई रास्ता नहीं है ।

आदिवासियों केजमीन और जंगलही तो उनकी एकमात्र भौतिक सम्पत्ति हैं जिसके साथ उनका भावात्मक संबंध भीहै। डॉ. वीरभारत तलवार के अनुसार, 'जब से झारखण्ड राज्य बना है (2000 ई०) तब से अभी तक 11 साल के अंदर झारखंड से 11 लाख आदिवासी पलायन कर चुके हैं। अपने जिंदा रहने के लिये हर साल 1 लाख आदिवासी अपना गाँव-घर छोड़कर रोजगार की खोज में जाने के लिये मजबूर

हैं। वे आपके उत्तर-प्रदेश में आकर ईंट के भट्टों में काम करते हैं या पंजाब में जाकर खेतों में काम करते हैं या हिमाचल में जाकर चीन की सीमा पर सड़कें बनाने का काम करते हैं। इसी गरीबी और बेरोजगारी की वजह से 1200 लड़कियाँ हर साल झारखंड से गायब हो जाती हैं। इस पूँजीवादी राष्ट्र ने उनका सब कुछ ले लिया जिसके बल पे वे हजारों सालों से जिंदा थे। बदले में उनको क्या मिला?'[4] यहाँ तक कि राष्ट्रीय पार्कों और जानवरों के लिए अभयारण्यों के नाम पर भी आदिवासियों को ही अपनी जमीन से विस्थापित होना पड़ रहा है। सरकार को हिरण की दुर्लभ प्रजातियों को व हाथी, चीता आदि विलुप्त हो रही प्रजातियों को बचाने की चिंता है, जानवरों की चिंता हैकिंतु मूल निवासियों को, आदिवासी को बचाने की नहीं। जबकि जनवरों की रक्षा से अधिक महत्त्वपूर्ण है आदिवासियों की रक्षा है। जानवरों की विलुप्ति की तुलना में इन आदिवासी सभ्यता एवं संस्कृति का विलुप्त होना सम्पूर्ण मानवता के लिए शर्मनाकहै।

झारखंड की कवयित्री निर्मला पुतुल की वाणी में संथाली संवेदना भरी है। कवयित्री महसूस करती है कि अपनी संथाल जाति की अस्मिता जो अब नष्ट हो रही है। उनकी कविताओं में अदिवासी, स्त्री, जंगल, पृथ्वी आदि के शोषण के खिलाफ प्रतिरोध तो है। संथालियों के तीर-धनुष-नगाड़ा-मांदल-बांसुरी, उनके औजार आदि सभी संग्रहालय की शोभा बढ़ाने लगे हैं। झारखंडी भाषा और मिट्टी का रंग भी बदलने लगा है। भूमंडलीकरण का प्रभाव इन लोगों पर किस प्रकार है देखिए;

'संथाल परगना
अब नहीं रह गया संथाल परगना!
बहुत कम बचे रह गये हैं।
अपनी भाषाओं, वेषभूषा में यहाँ के लोग बाजार की तरफ भागते
सब कुछ गड्डमड्ड हो गया है इन दिनों यहाँ
उखड़ गये हैं बड़े-बड़े पुराने पेड़
और कंक्रीट के पसरते जंगल में
खो गयी है इसकी पहचान।'[5]

ग्लोबल गाँव के विकास सिर्फ आदिवासी के खिलाफ नहीं रहा बल्कि ग्लोबल वार्मिंग, ओजोन परत में छेद, ग्लेशियरों का पिघलना, समुद्र एवं नदियों का प्रदूषण, मौसमी बदलाव जैसी घटनायें इसी भूमंडलीकरण की देन है, प्रकृति से छेड़छाड़ का नतीजा जिसका दुष्परिणाम सम्पूर्ण मानव-जाति को भोगना पड़ेगा। इसमें सब कुछ नकली हैं। असली कुछ भी नहीं है। इससे हमारी स्वाभाविकता नष्ट होती जा रही है। बाजारवाद ने हमें ऐसी स्थिति पर रखा है कि हम इसके अलावा कुछ सोच ही नहीं सकते हैं। लोग अपनी जिन्दगी भूल ही गये हैं। वर्तमान में जीवन जीने का अर्थ है, अलग है। इस प्रकार, भौतिक मूल्यों पर केंद्रित भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया से एक ऐसी उपभोक्तावादी संस्कृति पैदा होती है जो बेतहाशा भोग में विश्वास करती है। इस प्रक्रिया में थोड़े-से मजबूत व्यक्तियों अथवा राष्ट्रों द्वारा अधिकांश कमजोर व्यक्तियों अथवा राष्ट्रों का शोषण तो होता ही है, प्राकृतिक संसाधनों का भरपूर दोहन भी होता है, जो पर्यावरण संकट का कारण है'।[6] आज जहाँ सत्ताधारी आदिवासी इस शोषक तंत्र का हिस्सा बन चुका

है, वहीं सत्ताहीन आदिवासी अपने अस्तित्व को बचाने के लिये संघर्षरत है। एक ओर जहाँ आधुनिकता व्यक्तिवाद और कृत्रिमता पर आधारित है वहीं आदिवासी सभ्यता एंव संस्कृति सहअस्तित्व, सहभागिता, सहजीविता एंव सामूहिकता पर बल देती है । वे प्रकृति में रहते हैं, इसीलिए प्रकृति के संरक्षक भी हैं। प्रकृति संबंधित सारी वस्तुओं को वे पूजते हैं। इसके प्रति उनके मन में आदर तथा भय मिश्रित श्रद्धा हैं। ये ही प्रकृति के असली वारिस हैं तथा हम सभी को इनके साथ बराबरी के साथ पेश आना चाहिए तभी जाकर 'वसुवैध कुटुम्बकम्' की अवधारणा सार्थक होगी।

संदर्भ

1. रमणिका गुप्ता, आदिवासी साहित्य यात्रा, संस्करण 2016, पृ.सं. 24,
2. इस्पातिका (आदिवासी विशेषांक), सं. -अविनाश कुमार सिंह, जनवरी-जून 2012, पृ. 16
3. वही, पृ. 17
4. वही, पृ. 18-19
5. काव्ययात्रा, सं. के. वनजा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 35
6. समकालीन भारतीय साहित्य, सं.-ब्रजेन्द्र त्रिपाठी, नवम्बर-दिसम्बर 2007, पृ. 8

सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग,
कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय,
कोच्ची विश्वविद्यालय पी.ओ., 682022

कच्छ के छोटे रण में अगरिया समुदाय की सामाजिक आर्थिक स्थिति का अध्ययन

- डॉ. हसमुख पंचाल

विश्व में नमक उत्पादन में चीन और अमरिका के बाद भारत तीसरा सबसे बडा देश हैं। 2022 में चीन में 64 मिलियन मेट्रिक टन, यु.एस में 42 मिलियन मेट्रिक टन और भारत में 45 मिलियन मेट्रिक टन नमक उत्पादन हुआ। भारत में नमक उत्पादन गुजरात में 71 प्रतिशत, राजस्थान में 17 प्रतिशत और तमिलनाडु में 11 प्रतिशत होता हैं। गुजरात में कच्छ के छोटे रण, खाराघोडा, भावनगर और पोरबंदर नमक उत्पादन के महत्वपूर्ण विस्तार हैं। जिसमें मुख्य रूप में अगरिया समुदाय, जो नमक बनाने वाले श्रमिक है। नमक का काम वहीं से शुरू होता है, जहाँ सभ्यता खत्म होती है। मुख्यधारा के समाज से इस दूरी का मतलब यह हैं कि नमक श्रमिक न केवल असंगठित हैं, बल्कि अपरिचित भी हैं। समाज को इसकी सबसे बुनियादी सामग्री प्रदान करने में उनकी भूमिका पर काफी हद तक ध्यान नहीं दिया गया है। असंगठित और अनौपचारिक क्षेत्र, किसी भी आर्थिक प्रणाली के सबसे कमजोर घटक हैं। इन क्षेत्रों में कामगारों की समस्याओं से निपटना अपने आप में एक चुनौती है। उनकी समस्याओं को पहचानना और ऐसे क्षेत्रों में अगरिया श्रमिकों के जीवन की गुणवत्ता में सुधार के लिए व्यवहार्य समाधान खोजना आवश्यक हैं। इसी प्रयास में योगदान के रूप में, कच्छ के छोटे रण में अगरिया समुदाय की सामाजिक आर्थिक स्थिति पर यह अध्ययन हैं।

भारत में, प्रमुख नमक उत्पादक राज्य गुजरात, तमिलनाडु, राजस्थान, आंध्रप्रदेश, महाराष्ठज, उडीसा और पश्चिम बंगाल है। जो मिलकार भारत के नमक उत्पादन का लगभग 99 प्रतिशत हिस्सा बनाते है और प्रति दिन 1,00,000 से अधिक श्रमिकों को रोजगार देते है। महात्मा गांधी ने दांडी नमक मार्च और अंग्रेजों द्वारा लगाए गए अन्यायपूर्ण कर कानूनों की अपनी अवज्ञा के माध्यम से नमक को भारत के इतिहास में एक विशेष स्थान दिया।[1]

नमक उत्पादन एक मौसमी गतिविधि है। लगातार दो मानसून के बीच की अवधि में मौसम होता है। पूरे देश में मौसम की अवधि अलग-अलग होती है और आमतौर पर 6 से 10 महीनों के बीच होती है। देश के तटीय क्षेत्रो में नमक उत्पादन का प्रमुख स्त्रोत समुद्री नमकीन है, लेकिन गुजरात में कच्छ क्षेत्र के छोटे रण में और राजस्थान में उपमुद्रा बाइन नमक उत्पादन का प्रमुख स्त्रोत है। नमक की खेती गुजरात में कच्छ क्षेत्र के छोटे रण में प्रमुख आर्थिक गतिविधियों में से एक है। यहाँ यह बताना उचित हैं कि यह नमक भारत की लगभग 30 प्रतिशत जरूरतों को पूरा करता है।[2]

नमक की गुणवत्ता भी एक महत्वपूर्ण मुद्दा है और उद्योग के भविष्य के विकास के लिए महत्वपूर्ण होगा।[3] रण नमक की खेती करने वालों के एक समुदाय का घर है, जिसे अगरिया कहा जाता है, अगर का अर्थ नमक होता है। अगरिया समुदाय का रण के साथ एक अनूठा आजिविका का संबंध है। वे नमक की खेती के लिए हर साल अक्टूबर

से अप्रैल के महीने में 6 से 8 महीने की अवधि के लिए रण के आसपास के गाँवों से पलायन करते हैं। नमक की खेती उपमुद्रा बाइन निष्कर्षण के माध्यम से की जाती है। यह एक स्वदेशी प्रथा है, जो लगभग विलुप्त हो चुकी है, जो पारिस्थितिक रूप से टिकाऊ है और इसकी चक्रीय प्रवृति के लवणता के स्तर को बनाए रखती है। अगरिया, नमक बनाने के पुराने कुशल, कौशल में ज्ञान होने के बावजूद, आज भी प्रशासनिक रुप से उपेक्षित और सतत रूप से शोषित एवं सामाजिक-आर्थिक रुप से पिछडे हुए हैं। कृषकों और मरूस्थलों के अध्ययन से मनुष्य और भूमि एवं संसाधनो के उपयोग के बीच एक अनोखे संबंध का पता चलता है।[4] अगरिया समुदाय का उद्देश्य अगरिया का कार्यस्थल कच्छ के छोटे रण का अध्ययन करना है साथ ही अगरिया समुदाय की सामाजिक-आर्थिक स्थिति का अध्ययन भी रहा है।

कच्छ का रण एक अंतदेर्शीय खाडी थी जिसका तल भूकंपीय गडबडी और नदियों एवं तटों से निक्षेपों के कारण उठा हुआ था। निक्षेप, खनिजों और लवणों से भरपूर थे, इसलिए मिट्टी अत्यधिक खाराश वाली है। जून से सितंबर के मानसून के महीनों के दौरान, कच्छ की खाडी से पानी ढेर हो जाता है, कच्छ के छोटे रण पर धीरै-धीरै बढता है और बारिश के साथ-साथ रण को कुछ इंच से लेकर कुछ फीट की गहराई तक पानी से भर देता है। विभिन्न स्थलों में आर्दभूमि अलग-अलग मौसमी विशेषताओं को अपनाती है, जिसमें गर्मी के महीनो के दौरान टूटे हुए बंजर मैदान, मानसून के दौरान उथले हुए तालाब और प्रवासी पक्षियों के लिए मैदान बनते है।[5]

गुजरात का प्रत्येक नक्शे में कच्छ के रण - ग्रेटर एंड द लिटिल के रूप में पहचाना जाता है। अधिकांश लोग कल्पना कर सकते हैं कि यह जीवन और गतिविधि से रहित क्षेत्र है। किन्तु इस की वास्तविकता का एक दिलचस्प इतिहास है, जिसमें अगरिया समुदाय, उनके निवास स्थान, जानवरों और पक्षियों के साथ इस भू-भाग के साथ एक मजबूत संबंध है। एक विरल फैली हुई प्रवासी आबादी, अगरिया समुदाय मुख्यरूप से शामिल है, जो नमक कामगार बनाते है। अत्यधिक तापमान और जानवरों, पक्षियों और मनुष्यों द्वार किए गए अनुकूलन को विस्तार से देखना आवश्यक है। अध्ययन क्षेत्र में छोटे रण के साथ-साथ परिधीय गाँव शामिल हैं जो रण को तीन तरफ से घेरे हुए है। जिसमें एक परिधीय शहर खाराघोडा और पाटडी हैं, जो रण के दक्षिण-पूर्व जंक्शन पर है। यह औपनिवेशिक ऐतिहासिक प्रासंगिकता वाला एक पुराना शहर है, जिसमें 400 से अधिक वर्षो से नमक की खेती की प्रथा है।[6]

भूवैज्ञानिक रूप से, कच्छ का छोटा रण भारत और दुनिया के सबसे जटिल क्षेत्रों में से एक है। यह नमक में गहरी गाद तह बनाने वाले बडे सूखे मिट्टी के फ्लैटों की विशेषता है। बारिश के दौरान निचली भूमि पर लवणों की सतह पर नमक का प्याला बन जाती है। जंगली गधा अभ्यारण इस परिदृश्य के केंद्र में स्थित है और अधिकांश आवास अभ्यारण के चारों ओर फैले हुए है। परिदृश्य आजीविका के सीमित अवसर प्रदान करता है, जिस पर अगरिया समुदायों को निर्भर रहना पडता है। यह भारत का सबसे गर्म क्षेत्रों मे से एक है - गर्मियों में तापमान 49.5 डिगी सेल्सियस तक बढ जाता है।[7]

खाराघोडा एक पूर्व-औपनिवेशिक नमक निर्माण शहर है, जिसे 1977 में एक

जनगणना शहर के रूप में बनाया गया था। आज अंग्रेजों द्वारा स्थापित औपनिवेशिक शहर, जो तीन भागों में है- जुनागांम, नवागाम और स्टेशन। जुनागाम पूरी तरह से अंग्रेजो द्वारा अपने अधिकारियों और नमक श्रमिकों के लिए बनाय गया था। खाराघोडा अंग्रेजों और बाद में हिन्दुस्तान साल्ट लिमिटेड द्वारा संचालित नमक कार्यो में काम करने वाले अगरियाओं द्वारा बसा हुआ है, जिसमें शहर की कुल आबादी का 50 प्रतिशत हिस्सा शामिल है। खुद को एलआरके के परिधीय इलाकों में रखते है और मानसून के बाद नमक की खेती का मौसम शुरू करने के लिए पलायन करते है।

अगर हम अगरिया की जीवनशैली की बात करें तो अगरिया का अर्थ है, अगर (नमक) बनाने वाला। अगरिया कोई जाति नहीं है, किन्तु कच्छ के छोटे रण में परंपरागत ढग से पीढी दर पीढी नमक पैदा करते समुदाय की व्यवसायिक पहचान है। नमक की खेती, अपना परंपरागत व्यवसाय है। सदियों से अपने पूर्वजों से मिला हूनर और अपनी सूझ-बूझके अनुसार नमक की खेती करते हैं। नमक की खेती उनका परंपरागत कौशल है, नमक-पैन, कोई इंजीनियरी साधनों के बिना यह कार्य करते है, वे इस कार्य को सिर्फ अपने पावों से करते हैं। वे कई हजारों लाखों लोग अपने पाँवों से पा-पा पगली करते है, तब काम होता है। कहा जाता है कि अगर आज भी उस रण की धरती पर हम अपने कान रखेंगे तो कई सालों से स्त्री-पुरुष द्वारा की हुइ पगलियों की मधुर ध्वनि सुनाइ देगी। नमक उत्पादन से जुडी गतिविधियाँ किसी वैज्ञानिक पद्धति के अलावा कर्मकांडों से निर्देशित होती हैं। अगरिया के लिए कुआँ खोदना एक दैवीय प्रक्रिया है। वे पानी के स्रोत की पहचान करने के लिए अपनी परंपरागत विधि का उपयोग करते है। यदि कुआ बंजर हो जाता है तो इसके लिए महिलाओं को दोषी माना जाता है। 0 डिग्री से 50 डिग्री तामपमान में काम करते है। ये लोग समुद्र के पानी से 6-8 गुना ज्यादा नमकीन पानी में, 6-8 माह काम करते है। कभी-कभी मन में होता है की इन विषम परिस्थितियों में घुडखर और अगरिया ही जिंदा रह सकते हैं। यही अगरिया समुदाय की कठोर जीवन शैली है।

अगरिया नमक की खेती के लिए परिवार समेत रण में पलायन करते है। पति-पत्नी और अपरणित बच्चों का परिवार होता है और तीन पीढी के सदस्य साथ में रहते हैं।वह संयुक्त परिवार बनता है। परिवार में पुरुष का स्थान महत्वपूर्ण है, सारे निर्णय वही करता है। अधिकांश अगरियाओं के चार से अधिक बच्चे हैं। कुछ के सात से आठ बच्चे हैं। काम में अधिक श्रम की माँग, वृद्धावस्था में काम करने की क्षमता के बारे में असुरक्षा और उच्च मृत्यु दर के कारण बच्चों को पसंद किया जाता है। बालश्रम और गरीबी साथ-साथ चलते है। प्रवासी जीवन और गरीबी न केवल उन्हें सुरक्षा और विकास के उनके बुनियादी बाल अधिकारों से वंचित करती है, बल्कि उन्हें परिवार के शोषण के लिए स्वतंत्र मजदूर बनने के लिए भी प्रेरित करती है। परिवार में कठिनाइयाँ झेलते हुए साथ-साथ रहते है।

अगरिय परिवार में महिलाओं का निम्न स्थान है। अगरिया महिलाएँ ज्यादातर अनपढ हैं और शायद ही कभी बाहरी दुनिया के संपर्क में आती हैं। ये महिलाएँ नमक के खेतों में नियमित रूप से काम नहीं करती लेकिन घरकाम, रसोइ, बच्चे पालन का कार्य करती

है। अगरिया समय, सीमा और नमक पैन के साथ-साथ घर से जुडी जिम्मेदारियों को पूरा करने के लिए काफी हद तक महिलाओं पर निर्भर है। अपनी हैसियत को जायज ठहराने के लिए दिन में 10-12 घंटे से ज्यादा काम करना पडता है, ज्यादा बच्चे पैदा करने पड़ते है और घरेलू हिंसा का भी सामना करना पड़ता है। नमक खेती में एक विशिष्ट नमक-पैन की देखभाल एक जोडे द्वारा की जाती है, जिसमें एक पुरुष और एक महिला को जिम्मेदारियाँ सौंपी जाती है। प्रत्येक सीजन के अलग-अलग समय में नमक-पैन के संचालन में योगदान देती है।

अगर में अगरिया का घर होता है, जो सिर्फ चार बांस के खंभे और जूट या प्लास्टिक से बना हुआ होता है। एक अगरिया परिवार के पास आम तौर पर 10 एकड़ का सोल्ट पैन होता है, जो साल के 8 महीनों के लिए उनका घर होता है। रसोई के लिए दो-चार एल्यूमीनियम के बर्तन, पानी के लिए मिट्टी के बर्तन, और मिट्टी का चूल्हा होता है। कई घरों मेंटीवी-चेनल हैं।सभी के घर में मोटर साइकल हैं , जो आवश्यक चीजों को लाने के लिए उपयोगी रहती है और साइकल भी है। सभी के पास मोबाइल उपलब्ध होता है। सादगी पूर्ण जीवन है लेकिन 90 प्रतिशत व्यसन करते है।

अगरिया के परिवारों में, निरक्षरता ज्यादा हैं। शिक्षा कम होने का कारण यह है कि अगरिया परिवार 8 माह तक रण में रहता है। रणशाला अगरिया के बच्चों के लिए स्कूल है। रणशाला आमतौर पर किसी शुभचिंतक द्वारा दान किए गए या किसी गैर सरकारी संगठन द्वारा योगदान किए गए टेंट होते हैं। स्कूल के बजाय अगरिया लोगों के बिच निरक्षरता के दुष्चक्र को कायम रखते हुए नमक के तवें पर काम करते है। वर्तमान में मरूस्थल के दक्षिण-पूर्वी खाराघोडा किनारे में 19 स्कूल हैं जो अगरियाओं के लिए रेगिस्तान के माध्यम से यात्रा करने और रेगिस्तान से दूरी के संबंध में उनके आवासों का भौगोलिक पता लगाने के लिए स्थानीय स्थलचिन्ह हैं।

अगरिया आठ माह अगर में नमक की खेती करते हैं। नमक की खेती के समय में जब तक नमक तैयार नहीं होता तब तक उनके पास कोई आय नहीं होती है। उस समय में वह उनके मालिक या ठेकेदार के पास से खर्च के लिएरकम लेता है और जब नमक तैयार होता है तब बीक्री के बाद हिसाब होता है। हालांकि अगरिया प्राथमिक नमक उत्पादक है, रूण ऋणग्रस्तता और अन्य बाजार प्रथाओं ने उन्हें दिहाडी मजदूर बना दिया है। नमक बनाने में शामिल सभी शारीरिक श्रम और कौशल के लिए उन्हें बाजार मूल्य का केवल एक प्रतिशत प्राप्त होता है, जबकि व्यापारियों और अन्य लोगों के पास बाजार मूल्य का लगभग 99 प्रतिशत हिस्सा होताहै।[8] आर्थिक रूप से विवश स्थिति में, नमक श्रमिकों के श्रम अधिकारों का हनन होता है। यह भी आम है कि कई अगरिया कर्ज के साथ रेगिस्तान में प्रवेश करते है और मौसम के अंत में अतिरिक्त कर्ज के साथ चले जाते है, इसी प्रकार यह दुष्चक्र जारी रहता है। नमक की खेती के बाद बाकी के समय में वह कोई भी मजदूरी का काम करते हैं। जिनके पास जमीन है, वह कर्ज से बचते हैं। अगरिया अत्यधिक वर्चस्व वाले लोग हैं, जो उन पर निर्भर राजनीतिक और सामाजिक शक्तियों द्वारा अत्यधिक दुर्व्यवहार के अधीन है। उनकी शिक्षा की कमी, खराब रहने की स्थिति और आर्थिक पिछडेपन ने उन्हें अज्ञानी एवं प्रक्रियाओं और

नियमों से अनजान रखा है।

निष्कर्षतः कच्छ का छोटा रेगिस्तान एक मौसमी नमक दलदल है, जो साल के आठ महीनों के लिए 1,00,000 से अधिक अगरियाओं का घर है, जो डेल्टा में आता हैं और एक वर्ष में दस लाख टन नमक निकालने के लिए क्रूर धूप में काम करते हैं। अगरिया नमक किसान है, जों स्वतंत्र पारिवारिक कृषि प्रथाओं के बावजूद समुदाय की भावना रखते हैं। बच्चों को कम उम्र से ही नमक के खेतों में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है और अक्सर मजबूत किया जाता है, इसलिए वे स्कूल छोड देते हैं और पीढी दर पीढी तक पिछड़े एवं अशिक्षित रहते हैं। नमक की खेती की यह अनोखी प्राचीन पद्धति आज एक विरासत है, जो हमारे आहार के सबसे बुनियादी घटकों में से एक द नमक प्रदान करती है। एलआरके में कोई भी बदलाव अगरियाओं के रहने की स्थिति में सुधार के लिए एक क्रमिक और धीमी प्रक्रिया होनी चाहिए। सामुदायिक उत्थान की कुंजी शिक्षा और उसके महत्व को बढावा देना है। तब स्थानीय लोग अगरिया संचालन की संरचनाओं और नीतियों में शामिल हो सकते हैं, बिचौलियों को खत्म कर सकते हैं एवं अगरिया समुदाय के समर्थन और सरकारी फंडिंग के माध्यम से खुद को बनाए रखने की अनुमति दे सकते है।

संदर्भ :

1. Socio-Economic Status of Workers in the Salt Industry in India 2006, The Salt Commissionerls Org. Ministry of Commerce and Ind., Gov. of India, Chennai, 2. Vinay, C. (2008). Yet to be Freed. Ahmedabad, 3. Socio-Economic Status of Workers in the Salt Industry in India 2006, The Salt Commissionerls Org. Ministry of Commerce and Ind., Gov. of India, Chennai, 4. वार्षिक रिपोर्ट 2020-21, नमक विभाग, भारत सरकार, 5. पटेल वल्लभभाई 1929, गुजरात प्रांत, धी गुजरात ओरीएन्टल बुक डीपो, अहमदाबाद 6. Vinay, C. (2008). Yet to be Freed. Ahmedabad. 7. Phukan, D. (2013). Livelihood and Conservation: A Study of Agariya Community of Gujarat. Delhi. 8. SAVE. (2005) A Pinch of Salt. Ahmedabad. 9. Brahma Robin & Bhushan Sudhakar 2022 JPPW, Vol 6, No 5, 5029-5031..

सहायक अध्यापक, समाजशास्त्र विभाग,
गूजरात विद्यापीठ, आश्रमरोड,
अहमदाबाद - 380009

सहयोग और सहकारी संघवाद

- डॉ. सुमन यादव

सहयोग और सहकारी संघवाद पर इस लेख के लिखने का उद्देश्य सहयोग की विषयवस्तु, सहकारी संघवाद की अवधारणा, शासन और नीति निर्धारण में इसके महत्व और विभिन्न देशों या क्षेत्रों में इसके व्यावहारिक अनुप्रयोगों कि यथासम्भवऔर व्यावहारिक खोज प्रदान करना है। सहयोग के सिद्वान्त के साथ-साथ सहकारी संघवाद को परिभाषित करते हुए इसके मूलभूत सिद्धांतों पर प्रकाश डालना जैसे सरकार के विभिन्न स्तरों (राष्ट्रीय, राज्य और स्थानीय) के बीच शक्तियों और जिम्मेदारियों का बंटवारा, और इन स्तरो के बीच सहयोग को बढ़ावा देने में इसकी भूमिका पर जोर देना है।

विभिन्न देशों या क्षेत्रों में इसके विकास को प्रदर्शित करते हुए सहयोग एवं सहकारी संघवाद के विकास का एक ऐतिहासिक अवलोकन तथा उन प्रमुख मील के पत्थरों या घटनाओं पर चर्चा जिन्होंने इनके उद्भव और विकास को आकार दिया है तथा आधुनिक शासन में सहकारी संघवाद की महत्ता इससे मिलने वाले लाभों पर चर्चा जैसे कि संसाधन आवंटन में बेहतर दक्षता, बेहतर नीति समन्वय और स्थानीय आवश्यकताओं के प्रति बेहतर प्रतिक्रिया की सम्भावना भी लेख का उद्देश्य है। सहयोग के उपागम एवं सहकारी संघवाद को लागू करते समय उत्पन्न होने वाली चुनौतियों और बाधाओं का पता लगाना, इनमें सत्ता-साझाकरण, हितों का टकराव और समन्वय संबंधी कठिनाइयाँ तथा चुनौतियों पर काबू पाने के लिए रणनीतियों पर चर्चा करने से लेकर इसमें स्वास्थ्य देखभाल, शिक्षा, पर्यावरण विनियमन या आपदा प्रबंधन को शामिल करके किस प्रकार सहयोगात्मक दृष्टिकोण से इन क्षेत्रों में सफल परिणाम प्राप्त किय जा सकते हैं का भी विश्लेषण असम्भवी हैं।

सहयोग और सहकारी संघवाद के मुख्य बिंदुओं और निष्कर्ष के संक्षिप्त सारांश के रूप में सरकार के विभिन्न स्तरों के बीच सहयोग और तालमेल को बढ़ावा देने, समकालीन राजनीतिक प्रणालियों संघीय, राज्य और स्थानीय सरकारों के बीच सहयोग के तंत्र और मॉडल की व्याख्या प्रस्तुत करने के साथ-साथ अंतर सरकारी समझौतों, साझा निर्णय लेने और संसाधन पूलिंग की भूमिका पर जोर देता है। यह लेख विभिन्न क्षेत्रो में सहयोग और सहकारी संगठनों कीभूमिका पर भी प्रकाश डालता है। इसके अलावा, यह लेख विविध संदर्भों में सहकारी संघवाद में विविधताओं और सर्वोत्तम प्रथाओं की जानकारी प्रदान करने के लिए सहयोगात्मक दृष्टिकोण से जुड़े फायदों और चुनौतियों पर भी चर्चा करता है। भारत के संदर्भ में इस लेख के सार के रूप में यह सहयोग एवं सहकारी संस्थाओं में महिलाओ की भागीदारी की पुरजोर वकालत भी करता है।

जैसा कि विदित है कि सहयोग और सहकारी संघवाद की अवधारणा दुनिया भर के कई देशों में शासन और राजनीतिक संरचना का एक महत्वपूर्ण पहलू है। यह एक ऐसे ढाँचे का प्रतिनिधित्व करता है जहाँ सरकार के विभिन्न स्तर, चाहे वह राष्ट्रीय

या अन्तरराज्य स्तर पर हों, आम चुनौतियों का समाधान करने, साझा लक्ष्यों को प्राप्त करने और अपने नागरिकों की भलाई को बढ़ावा देने के लिए सहयोगात्मक रूप से काम करते हैं। सहयोग एक मौलिक सिद्धांत के रूप में, सामान्य उद्देश्यों की दिशा में मिलकर काम करने के महत्व को रेखांकित करने की व्यवस्थित प्रणाली है। शासन के क्षेत्र में, यह व्यक्तिगत सरकारों की सीमाओं से परे फैला हुआ है और कई प्राधिकरणों के बीच समन्वय और सहयोग की आवश्यकता पर जोर देता है। यह सहयोगात्मक दृष्टिकोण विशेष रूप से संघीय प्रणालियों में प्रासंगिक है, जहां शक्ति और जिम्मेदारियाँ केंद्रीय व राज्य सरकार और राज्यों, प्रांतों या क्षेत्रों की विभिन्न संस्थाओं के बीच विभाजित होती हैं।

सहकारी संघवाद, सहयोग की अवधारणा के विस्तार के रूप में, एक शासी ढांचे का प्रतिनिधित्व करता है जो केंद्रीय और राज्य सरकारों के बीच पारस्परिक रूप से सहायक संबंध को बढ़ावा देता है। संघवाद के प्रति अधिक प्रतिकूल या पदानुक्रमित दृष्टिकोण के विपरीत, सहकारी संघवाद जटिल मुद्दों से निपटने के लिए संयुक्त निर्णय लेने, साझा जिम्मेदारियों और संसाधनों और विशेषज्ञता के संयोजन पर जोर देता है। सहयोग और सहकारी संघवाद के सिद्धांतों और प्रथाओं पर प्रकाश डालते हुए, इस लेख का उद्देश्य इन अवधारणाओं और आधुनिक शासन में उनकी प्रासंगिकता की व्यापक समझ प्रदान करना है। यह आज राष्ट्रों के सामने आने वाली बहुमुखी चुनौतियों से निपटने में सहयोग, आम सहमति निर्माण और लचीली शासन संरचनाओं के महत्व को रेखांकित करेगा।

सहयोग का अर्थ सरकार के विभिन्न स्तरों के बीच बातचीत और समन्वय से है, जिसका उद्देश्य अक्सर साझा चुनौतियों का समाधान करना या सामान्य उद्देश्यों को पूरा करना होता है। इसमें केन्द्र सरकार और राज्य या प्रांतीय सरकारों के साथ-साथ एक ही देश के विभिन्न राज्यों या प्रांतों में संगठित विभिन्न संस्थाये भी शामिल हो सकती है जिनके बीच परस्पर मेल-मिलाप व समन्वय सेकोई सहकारी उदेश्य पूर्ण किया जाना शामिल हो सकता है। इन संस्थाओं व सरकारों के बीच सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, परिवहन, पर्यावरण संरक्षण और अन्य कई मुद्दों एवं सेवाओं में आपसी सहयोग किया जा सकता हैं। वे बेहतर परिणाम प्राप्त करने के लिए अनुकूल नीतियां विकसित करने, संसाधन साझा करने और सूचनाओं का आदान-प्रदान करने के लिए मिलकर काम कर सकते हैं। सहकारी प्रयासों में राज्य या स्थानीय परियोजनाओं के लिए संघीय वित्त पोषण, आपात स्थिति या सुरक्षा चिंताओं को दूर करने के लिए संयुक्त कार्य बल गठित करना शामिल हो सकता है।

जहाँ तक संघवाद का प्रश्न है यह सरकार की संघीय प्रणालियों में एक अवधारणा है जहां सरकार के विभिन्न स्तर निकट सहयोग करते हैं और विभिन्न नीति क्षेत्रों के लिए जिम्मेदारियाँ साझा करते हैं। यह अधिक कठोर या दोहरे संघवाद के विपरीत है, जहां सरकार के प्रत्येक स्तर की भूमिकाएँ और शक्तियां अधिक विशिष्ट और अलग हैं। एक सहकारी संघीय प्रणाली में, संघीय और राज्य या प्रांतीय प्राधिकरण के बीच की रेखाएँ धुंधली हो सकती हैं। सरकार के दोनों स्तर नीतियों और कार्यक्रमों को डिजाइन और

कार्यान्वित करने के लिए मिलकर काम करते हैं। इसमें अक्सर वित्तीय भागीदारी शामिल होती है, जहाँ संघीय सरकार विशिष्ट पहलों का समर्थन करने के लिए राज्यों या प्रांतों को धन मुहैया कराती है। समय की आवश्यकता के चलते सहकारी संघवाद विकसित हुआ है, जिसमें विभिन्न देशों ने अलग-अलग मॉडल अपनाए हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका में, राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट के तहत न्यू डील युग को अक्सर उस अवधि के रूप में उद्धृत किया जाता है जब सहकारी संघवाद प्रमुख था, क्योंकि संघीय और राज्य सरकारों ने महामंदी से निपटने के लिए मिलकर काम किया था। कनाडा में, स्वास्थ्य सेवा जैसे क्षेत्रों में सहकारी संघवाद देखा जाता है, जहां संघीय सरकार सार्वभौमिक स्वास्थ्य देखभाल कवरेज का समर्थन करने के लिए प्रांतों और क्षेत्रों को धन मुहैया कराती है। सहयोग और सहकारी संघवाद के पीछे मुख्य विचार विभिन्न स्तरों पर सरकारों को जटिल और परस्पर जुड़े मुद्दों को प्रभावी ढंग से संबोधित करने के लिए अपने संसाधनों, विशेषज्ञता और अधिकार को एकत्रित करने में सक्षम बनाना है। इन अवधारणाओं का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि संघीय प्रणालियों में शक्तियों का विभाजन सरकारों की अपने नागरिकों की जरूरतों को पूरा करने और उभरती चुनौतियों का जवाब देने की क्षमता में बाधा न बने।

सहकारी संघवाद एक अवधारणा है जो एक संघीय प्रणाली में केंद्र सरकार और राज्य सरकारों के बीच संबंधों का वर्णन करती है, जहां वे सामान्य लक्ष्यों और उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सहयोगात्मक रूप से काम करते हैं। भारत के संदर्भ में, सहकारी संघवाद संविधान में निहित है और देश की संघीय संरचना की एक अनिवार्य विशेषता है। चूकि भारत एक संघीय देश है जिसमें केंद्र सरकार और राज्य सरकारों के बीच शक्तियों का विभाजन है। सहकारी संघवाद एक सिद्धांत है जो संपूर्ण राष्ट्र के लाभ के लिए सरकार के इन स्तरों के बीच सहयोग और समन्वय को बढ़ावा देता है।

भारत का संविधान सातवीं अनुसूची के माध्यम से केंद्र सरकार और राज्य सरकारों के बीच शक्तियों को विभाजित करता है, जो विषयों को तीन सूचियों - संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची के अंतर्गत सूचीबद्ध करता है। संघ सूची में वे विषय शामिल हैं जिन पर केवल केंद्र सरकार कानून बना सकती है, राज्य सूची में वे विषय शामिल हैं जिन पर केवल राज्य सरकारें कानून बना सकती हैं, और समवर्ती सूची में वे विषय शामिल हैं जिन पर सरकार के दोनों स्तर कानून बना सकते हैं। सहकारी संघवाद का विचार है कि केंद्र और राज्य दोनों सरकारों को समस्याओं को हल करने और नीतियों को लागू करने के लिए मिलकर काम करना चाहिए। इसमें आर्थिक विकास, स्वास्थ्य देखभाल, शिक्षा और बुनियादी ढांचे जैसी आम चुनौतियों का समाधान करने के लिए जिम्मेदारियों और संसाधनों को साझा करना शामिल है।

राष्ट्रीय विकास परिषद (एनडीसी) एक ऐसा मंच है जो आर्थिक योजना और विकास सहित राष्ट्रीय महत्व के मामलों पर चर्चा और समन्वय करने के लिए प्रधान मंत्री, राज्यों के मुख्यमंत्रियों और केंद्रीय कैबिनेट मंत्रियों को एक साथ लाता है। यह सहकारी संघवाद के लिए एक मंच के रूप में कार्य करता है। वित्त आयोग भी भारत की एक महत्वपूर्ण संस्था है जो राजकोषीय संघवाद में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यह

संसाधनों का उचित आवंटन सुनिश्चित करते हुए, राज्यों को कर राजस्व और सहायता अनुदान के वितरण की सिफारिश करता है। इससे राज्यों के बीच वित्तीय असमानताओं को कम करने में मदद मिलती है। केंद्र और राज्य सरकारों के बीच बेहतर समन्वय को बढ़ावा देने के लिए अंतर-राज्य परिषद की स्थापना की गई थी। यह संघीय ढांचे और राज्यों के बीच सहयोग से संबंधित मुद्दों को संबोधित करता है।

भारत में जीएसटी (वस्तु एवं सेवा कर) की शुरूआत सहकारी संघवाद का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। इसने अप्रत्यक्ष करों की एक जटिल प्रणाली को एक एकीकृत, राष्ट्रव्यापी कर व्यवस्था से बदल दिया। केंद्र और राज्य दोनों सरकारें जीएसटी राजस्व के प्रशासन और संग्रह में सहयोग करती हैं। योजना आयोग, जिसे नीति आयोग द्वारा प्रतिस्थापित किया गया था, एक अन्य संस्था थी जिसका उद्देश्य सहकारी संघवाद था। इसमें राज्यों को योजना और विकास की प्रक्रिया में शामिल किया गया और नीति निर्माण में उनकी भागीदारी सुनिश्चित की गई। विभिन्न आयोगों ने भारत में केंद्र-राज्य संबंधों और सहकारी संघवाद की समीक्षा की और सुधार की सिफारिश की। उनकी सिफारिशों से केंद्र और राज्य सरकारों के बीच सहयोग बढ़ाने में मदद मिली।

संघीय संरचना भारत की संघीय संरचना शक्तियों का विभाजन सुनिश्चित करती है, यह बदलती परिस्थितियों के अनुकूल लचीलेपन की भी अनुमति देती है। सहकारी संघवाद सरकार के दोनों स्तरों को एक-दूसरे की स्वायत्तता का सम्मान करते हुए कुशलतापूर्वक एक साथ काम करने में सक्षम बनाता है। सहकारी संघवाद के सिद्धांतों के बावजूद, केंद्र और राज्य सरकारों के बीच राजनीतिक मतभेद, संसाधन असमानताएँ और हितों के टकराव जैसी चुनौतियाँ हो सकती हैं। प्रभावी सहयोग के लिए आपसी विश्वास और व्यापक भलाई के प्रति प्रतिबद्धता की आवश्यकता होती है।

भारतीय संघवाद को अक्सर 'सहकारी संघवाद' कहा जाता है। यह शब्द भारत में संघीय प्रणाली की अनूठी प्रकृति का वर्णन करता है, जहां केंद्र सरकार और राज्य सरकारें विभिन्न शासन और नीतिगत मुद्दों को संबोधित करने के लिए मिलकर काम करती हैं। भारतीय संविधान सातवीं अनुसूची के माध्यम से केंद्र सरकार (संघ) और राज्य सरकारों (राज्यों) के बीच शक्तियों को विभाजित करता है, जो उन विषयों को सूचीबद्ध करता है जिन पर सरकार का प्रत्येक स्तर कानून बना सकता है। कुछ विषय विशेष रूप से केंद्र सरकार (संघ सूची) के अधिकार क्षेत्र में हैं, कुछ राज्य सरकारों (राज्य सूची) के विशेष क्षेत्राधिकार के अंतर्गत हैं, और अन्य समवर्ती हैं, जहां सरकार के दोनों स्तर कानून बना सकते हैं (समवर्ती सूची)। संविधान वित्त आयोग जैसे तंत्र के माध्यम से केंद्र और राज्य सरकारों के बीच राजस्व के विभाजन को भी निर्धारित करता है। यह सुनिश्चित करता है कि सरकार के दो स्तरों के बीच संसाधनों का उचित आवंटन किया गया है। सहकारी संघवाद केंद्र और राज्य सरकारों के बीच सहयोग और समन्वय पर जोर देता है। सरकार के दोनों स्तरों को राष्ट्रीय मुद्दों, आर्थिक विकास और सामाजिक कल्याण के समाधान के लिए मिलकर काम करना चाहिए।व्यवहार में, कई नीतिगत क्षेत्रों में केंद्र और राज्य दोनों सरकारों की भागीदारी की आवश्यकता होती है। इसमें आर्थिक नियोजन, शिक्षा, स्वास्थ्य और आपदा प्रबंधन जैसे मुद्दे शामिल हैं। ऐसे

मामलों में, सरकार के दो स्तर नीतियों और कार्यक्रमों को डिजाइन करने और लागू करने में सहयोग करते हैं।

भारत में सहकारी संघवाद देश में केंद्र सरकार और राज्य सरकारों के बीच सहयोगात्मक संबंध को संदर्भित करता है। यह भारत की संघीय प्रणाली की एक अनिवार्य विशेषता है, जहां सरकार के दोनों स्तर विभिन्न मुद्दों को संबोधित करने और राष्ट्र के समग्र विकास को बढ़ावा देने के लिए मिलकर काम करते हैं। हालाँकि, भारत में सहकारी संघवाद से जुड़ी कई चुनौतियाँ जरूर हैं।

भारतीय शासन और संघवाद के संदर्भ में सहयोग और सहकारी संघवाद मौलिक सिद्धांत हैं। ये अवधारणाएँ उस सहयोगात्मक दृष्टिकोण को दर्शाती हैं जिसे भारत ने राष्ट्रीय और राज्य दोनों स्तरों पर अपनी विविध और जटिल चुनौतियों से निपटने के लिए अपनाया है। भारत का संविधान सहकारी संघवाद के लिए एक ठोस आधार प्रदान करता है। यह सरकार का एक संघीय ढाँचा स्थापित करता है जहाँ शक्तियाँ और जिम्मेदारियाँ केंद्र और राज्य सरकारों के बीच विभाजित होती हैं, लेकिन उनके बीच सहयोग और समन्वय को भी प्रोत्साहित करती हैं। भारत की विशाल और विविध आबादी, विभिन्न क्षेत्रीय आवश्यकताओं के साथ, सहयोग को आवश्यक बनाती है। विभिन्न राज्यों की अलग-अलग आवश्यकताएँ होती हैं, और सहयोग केंद्र सरकार और राज्यों को इन अनूठी चुनौतियों से प्रभावी ढंग से निपटने के लिए मिलकर काम करने की अनुमति देता है। सहकारी संघवाद ने भारत के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। वस्तु एवं सेवा कर (जीएसटी) और योजना आयोग जैसी पहलों को आर्थिक विकास को बढ़ावा देने, राज्यों में आर्थिक सहयोग और एकरूपता को बढ़ावा देने के लिए डिजाइन किया गया है।

पिछले कुछ वर्षों में, केंद्र और राज्य सरकारों के बीच संबंधों में विकास हुआ है। जबकि तनाव और संघर्ष के दौर रहे हैं, सहयोग के लाभों की मान्यता बढ़ रही है, जिससे समस्या-समाधान के लिए अधिक सहयोगात्मक दृष्टिकोण सामने आया है। प्रगति के बावजूद, सच्चे सहकारी संघवाद को प्राप्त करने में चुनौतियाँ बनी हुई हैं। संसाधन आवंटन, राजनीतिक मतभेद और केंद्र और राज्यों के बीच कभी-कभी सत्ता संघर्ष से संबंधित मुद्दे सहकारी भावना में बाधा डाल सकते हैं। अंतः सहकारी संघवाद को मजबूत करने के लिए, भारत को अंतर-सरकारी सहयोग के लिए प्रभावी तंत्र की आवश्यकता है। संवाद और समन्वय को सुविधाजनक बनाने के लिए अंतर-राज्य परिषद और नीति आयोग जैसी संस्थाओं की स्थापना की गई है, लेकिन उनकी प्रभावशीलता में सुधार किया जा सकता है। सहकारी संघवाद को अंततः नागरिकों के हितों की पूर्ति करनी चाहिए। सहयोग और सहकारी संघवाद भारत की शासन संरचना और समावेशी विकास प्राप्त करने की दिशा में इसकी यात्रा का अभिन्न अंग हैं। तथापि सहकारी संघवाद के लाभ देश के हर कोने तक पहुंचें में अभी कुछ समय ओर लगेगा।

एसोसिएट प्रोफेसर (राजनीति विज्ञान)
शहीद भगत सिंह इवनिंग कॉलेज, शेख सराय फेज-2,
नई दिल्ली 110017

हिंदी साहित्य में सौंदर्य-वर्णन

- भारती गोरे

मनुष्य सौंदर्यासक्त प्राणी है। सौंदर्य, उसे सदैव अभिभूत करता आया है। सौंदर्य एक ऐसा तत्व है, जिसमें सत्य और शिव दोनों ही अंतर्भूत हैं। सौंदर्य के विषय में, भारतीय और पाश्चात्य मान्यताओं में कमोवेश रूप में मतैक्य पाया जाता है। जैसे-पाश्चात्य मान्यता के अनुसार सौंदर्य वह है, 'जो परम आनंद और ऐन्द्रिय सुख' प्रदान करता है जब कि भारतीय मान्यतानुसार 'सौंदर्य, मनुष्य को आनंद प्रदान करनेवाली एक चेतना' है। पाश्चात्य और भारतीय, दोनों मान्यताओं में 'आनंद' प्रदान करने वाले तत्व के रूप में सौंदर्य का स्वीकार पाया जाता है। सौंदर्य को लेकर एक और मुद्दा चर्चा में है और वह यह कि सौंदर्य, 'वस्तुनिष्ठ' होता है या 'व्यक्तिनिष्ठ' ?...दूसरे शब्दों में, सौंदर्य की सत्ता 'विषयगत' होती है या 'विषयिगत' ?...पश्चिम के मान्यवर विद्वान सौंदर्य को किसी मृगनयनी की आँखों में नहीं बल्कि देखनेवाले की दृष्टि में निहित मानते हैं, जैसे कि रामविलास शर्मा कहते हैं-'कभी-कभी दीवाने को लोग, किसी कुरूप स्त्री पर रीझते देखकर आश्चर्य करते हैं। देखने वालों को लगता है, उस दीवाने को कुरुपता ही सुंदर लगती है। वे नहीं समझ पाते कि उनकी आँखों से कुरुप नारी के चरित्र की जो विशेषताएँ ओझल हो चुकी हैं, उन्हें कोई तथाकथित दीवाना ही देखता है। ... सौंदर्य, इन्द्रिय बोध के साथ-साथ भावों और विचारों में भी निहित रहता है।'[1]

विशेष विचारणीय बात यह है कि भारतीय विचारक सौंदर्य बोध और रसानुभूति की स्थिति को लगभग समान मानते हैं। सौंदर्य, वस्तु में निहित होता है यह बात सही है लेकिन रुचिनुसार जन्मा सौंदर्य तो आखिर रचनाकार के मन में ही निहित होता है। अनुभव के आधार पर मन के भीतर का वह सौंदर्य ही वस्तु के सौंदर्य को समझ पाता है। सौंदर्यानभिूति इससे अलग और क्या हो सकती है!... सौंदर्य का सीधा संबंध हमारी मानसिकता से होता है। स्वस्थ मानसिकता का धनि व्यक्ति ही वस्तुओं, दृश्यों और साहित्य में निहित सौंदर्य को समझ पाने की क्षमता रखता है। परिष्कृत चेतनावाले विवेकशील मनुष्य ही सौंदर्य को अनुभूत कर पाते हैं। इस संदर्भ में मुक्तिबोध कहते हैं- ''सौंदयार्नुभूति' के लिए मनुष्य में स्वयं से ऊपर उठने की क्षमता चाहिए।''[2] रस के क्षेत्र में इसे साधारणीकरण कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि सौंदर्य जिस तरह मन के भीतर होता है ठीक उसी तरह वह मन के बाहर भी होता है। बाहरी सौंदर्य जब भीतरी सौंदर्य से जुड़ जाता है तो निश्चित रूप से सौंदर्य की परम अनुभूति होती है।

सौंदर्य की यह अनुभूति रचनाकार तथा पाठक दोनों में होती है। फर्क मात्र यह कि रचनाकार सौंदर्य से प्रेरित होकर, शब्दों में बांधकर उसे प्रस्तुत करता है तो भावक पढ़कर ही उसकी अनुभूति प्राप्त कर लेता है। सारतः 'सौंदर्य' सृष्टि के प्रत्येक उपादान में विद्यमान होता है लेकिन कोई कलाकार ही तीव्र सौंदयार्नुभूति को कलाकृति के माध्यम से प्रस्तुत कर सकता है। कलाकृति में निहित उस सौंदर्य को समझने के लिए मनुष्य में सौंदयार्नुभूति की क्षमता चाहिए। साथ में उसका परिवेश, परिस्थितियाँ तथा संस्कारों का पूरक होना भी इसके लिए अपेक्षित है।

स्पष्ट है, सौंदर्य और सौंदर्यबोध के संदर्भ में भारतीय मान्यता, पश्चिमी मान्यता की तुलना में अधिक सुस्पष्ट है। उसमें इंद्रिय बोध के साथ-साथ भाव, विचार और अनुभूति की क्षमता भी निहित है। भारतीय मान्यता सौंदर्य को विश्वव्यापी तत्व मानती है। समस्त जीवन को प्रभावित करनेवाली अर्थगत सत्ता के रुप में सौंदर्य को देखती है। जीवन को प्रभावित करनेवाला यह तत्व जब साहित्य में आ जाता है तो अत्यधिक व्यापक रुप धारण कर लेता है। साहित्य का कोई पहलू ऐसा नहीं है जो सौंदर्य के प्रभाव से अछूता हो। साहित्य में 'सौंदर्य', मनुष्य के अस्तित्व से जुड़े सामाजिकता, सांस्कृतिकता, धार्मिकता, नैतिकता आदि सभी अंगों को स्पर्श करता चलता है। यही कारण है, साहित्य में 'सौंदर्य' विभिन्न रूपों में विद्यमान रहता है। मतलब कहीं यह सौंदर्य स्थूल रुप में तो कहीं सूक्ष्म रुप में वर्णित रहता है। कभी यह रस, छंद, भाषा, शैली, अलंकार आदि बा' पक्ष में निहित होता है तो कभी भावों के विभिन्न रूपों में छलकता, प्रतिबिंबित होता रहता है।

साहित्य में सौंदर्यबोध का समावेश कब से होने लगा, यह एक स्वतंत्र चिंतन का मुद्दा है लेकिन, यह सत्य है कि सौंदर्य के प्रति आकृष्ट होना मनुष्य का स्वभाव है और यह भी कह सकते हैं कि मनुष्य की चेतना और सौंदर्य की चेतना का विकास कमोबेश मात्रा में एक साथ ही हुआ है। चेतना में हुए परिवर्तन के साथ सौंदर्य के स्वरुप में भी परिवर्तन आता रहा तथा सभ्यता और संस्कृति के साथ-साथ सौंदर्य की चेतना का भी विकास होता रहा। समाज और समाज का दर्पण कहलाने वाले साहित्य के चिंतन की दिशाएँ जैसे-जैसे बदलती रहीं, स्वाभाविक ही है, सौंदर्य के रुप भी समयानुकूल परिवर्तनों सहित सामने आते रहे।

देखिए, संस्कृत मात्र हिंदी ही नहीं प्रत्युत कई भारतीय भाषाओं की जननी है। जहाँ तक हिंदी भाषा और साहित्य का सवाल है, इसमें कोई दो राय नहीं कि हिंदी भाषा और साहित्य संस्कृत से कुछ ज्यादा ही प्रभावित है। संस्कृत का यह प्रभाव हिंदी साहित्य में निहित सौंदर्यबोध से संबंधित संकल्पना में भी देखा जा सकता है।

श्रीमद्भागवत में आध्यात्मिक आभा से परिपूर्ण ईश्वर के सौंदर्य का वर्णन उपलब्ध है। संस्कृत के कई आचार्य काव्य को सुंदरता प्रदान करनेवाले तत्वों की बात करते आए हैं। भरतमुनि 'रस' में, कुंतक 'वक्रोक्ति' में, वामन 'अलंकार' में, 'रीति' में सौंदर्य देखते हैं। कालिदास, शकुंतला के सौंदर्य का दुष्यंत पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका सविस्तार वर्णन करते हैं। मात्र इतना ही नहीं बल्कि अपने सौंदर्य की प्रशंसा सुनकर संकोच में पड़ी लज्जाशील शकुंतला का सुंदर चित्र भी खींचते हैं। जयदेव 'गीत गोविंद' में भागवत सौंदर्य के अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

हिंदी साहित्य में आदिकाल से आधुनिक काल तक सौंदर्यबोध के अद्वितीय, अनुपम उदाहरण उपलब्ध हैं। आदिकाल, हिंदी साहित्य का आद्यकाल है। इस काल के साहित्य में भी सौंदर्य-चेतना के कई अप्रतिम उदाहरण मिलते हैं। इस काल का धार्मिक तथा लौकिक साहित्य भी सौंदर्यबोध से भरपूर है। कहीं यह सौंदर्य व्यापक लोककल्याण की आकांक्षा में निहित मिलता है तो कहीं अपने धर्म को सर्वांग सुंदरता प्रदान करनेवाले तत्वों में दृष्टिगोचर होता है। 'चंदनबाला रास', 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' में शील

और संयम की अहमियत अत्यंत सुंदरता के साथ अभिव्यक्त हो चुकी है। पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो या संदेस रासक जैसे भिन्न-भिन्न साहित्य परंपराओं के द्योतक रासोकाव्य में भी सौंदर्य के अनगिनत रुप देखे जा सकते हैं। सिद्धकवि विरोधमूलक अलंकारों या उलटबाँसियों द्वारा अपनी बात को अत्यधिक सुंदरता के साथ अभिव्यक्त करते हैं। भाव तथा अभिव्यक्ति के इसी सौंदर्य को आगे चलकर कबीर जैसे अन्य कवियों ने भी अपना लिया है।

सुंदरियों के रंग-रूपों की चर्चा करना आदिकालीन कवियों का प्रिय विषय रहा है। 'पृथ्वीराज रासो' इस दृष्टि से उल्लेखनीय काव्य है। कवि ने संयोगिता के सौंदर्य को अत्यंत जीवंतता के साथ चित्रित किया है, उसके शरीर में समुद्र से निकले चौदह रत्नों को गिना दिया है। कल्पना के माध्यम से कवि ने सौंदर्य चेतना की मानों अद्भुत मिसाल ही प्रस्तुत की है। आदिकालीन सौंदर्यबोध की बात हो और विद्यापति का नाम न आए, यह तो संभव ही नहीं। जयदेव के 'गीतगोविंद' की परंपरा को विद्यापति ने ही आगे बढ़ाया है। सौंदर्य वर्णन चाहे अर्धनारी नटेश्वर का हो, कालीमाता का हो, नायिका का हो, ऋतुपति वसंतराज का हो या भाषा का हो, विद्यापति का सौंदर्यबोध अद्भुत एवं अप्रतिम है।

युद्ध-वर्णन भी अपूर्व उत्साह तथा सौंदर्य-प्रयोग के साथ किया गया है। यह वर्णन पढ़ते समय, भाषा व छंदों का प्रयोग इतनी सुंदरता तथा सावधानी से किया गया है कि सहृदय पाठक शस्त्रों की खनखनाहट का स्वर स्वतः महसूस कर सकता है।

भक्तिकाल हिंदी साहित्य का 'सुवर्णकाल' रहा है। इस काल में सूर, कबीर, तुलसी, जायसी जैसे सभी कवियों द्वारा सौंदर्य की अप्रतिम अभिव्यक्ति हुई है। सभी कवियों ने ईश्वर के प्रति अपने समर्पण को अत्यधिक सुंदरता के साथ प्रस्तुत किया है। विविध रूपों में ईश्वर की कल्पना करते-करते ये भक्त कवि आनंद विभोर होते रहे हैं। इनके काव्य में अभिव्यक्त मानवीय संवेदना ने तो उनके सौंदर्य वर्णन में चार चाँद लगा दिए हैं। सूर-काव्य में व्यक्त पारिवारिक संवेदना हो, तुलसी-काव्य में व्यक्त समन्वयवादी संवेदना हो या कबीर-काव्य में व्यक्त सामाजिक संवेदना हो, ये सब इसके सुंदर प्रमाण हैं। माता, पिता, गुरु, सखा, बंधु और प्रियतम के रुप में ईश्वर का स्मरण करना, उसके सामने नतमस्तक होना, भक्तिकालीन कवियों को अकसर भाता रहा है। भक्तिकाव्य सहज जन्मा काव्य था अतः उसकी उस सहजता में ही उसका सौंदर्य है।

जायसी ने अपने 'पद्मावत' में पद्मावती के सौंदर्य का अलौकिक वर्णन किया है। कवि ने लिखा है कि पद्मावती का सौंदर्य पारस की तरह है तथा जो भी उसके दर्शन कर लेता है, उसे उसका मनोवांछित प्राप्त हो जाता है। मात्र पद्मावती ही नहीं बल्कि सिंहलद्वीप की एक साधारण-सी स्त्री भी कवि की दृष्टि में अद्भुत सुंदर है। सूफी सिद्धांतों के अनुसार जायसी पद्मावती को ब्रह्म के रुप में देखते हैं। अतः उसके सौंदर्य का वर्णन भी उतना ही सुन्दर, अलौकिक बन पड़ा है।

कबीर के ब्रह्म की 'लाली' भी निश्चित रुप में बड़ी सुंदर है। जब वे अपने ब्रह्म की उस लाली के दर्शन करने जाते हैं तो स्वयं उस लाली से अपने आप को रंगे हुए पाते हैं। इसी कारण शायद कबीर अपने ब्रह्म को, अपने उस प्रियतम को सदैव अपनी आँखों में छिपाये रखने की बात करते हैं -

'नैना अन्तरि आंव तूं तो हौं नैंन झँपेऊ
ना मैं देखूं और कूं ना तुझ देखन देऊं''[3]

रतिभाव के साथ अभिव्यक्त ईश्वर-मिलन की आस का यह वर्णन निश्चित रूप से विचारणीय है। मयार्दाओं में लिपटा तुलसी का सौंदर्यबोध ही उनके काव्य की वास्तविक सुंदरता के कारक धर्म हैं। वनगमन के पश्चात गाँव की सामान्य स्त्रियाँ सीता से राम-लक्ष्मण का परिचय जानना चाहती हैं तो सीता उन्हें (लक्ष्मण को) अपना देवर बताती है पर राम का परिचय वह अपनी आँखों और भ्रू-भंगिमाओं द्वारा ही दिलाती, सूचित करती है। भारतीय स्त्री का इतना सुंदर एवं मयार्दाशील चित्र दुर्लभ ही कहा जा सकता है। समय की आवश्यकतानुसार तुलसी ने जिस समन्वयवाद को अपनाया है, उसमें स्थित सौंदर्य भी अवर्णनीय है।

'सूर' साहित्य के 'सूर्य' कहलाए जाते हैं। उनके काव्य में वर्णित सौंदर्यबोध भक्तिकालीन साहित्य में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। सौंदर्य चाहे कृष्ण की बाललीलाओं का हो, राधा-कृष्ण का हो, प्रकृति का हो, रासलीला का हो या सौंदर्य की अभिव्यक्ति का हो, सूर ने उसे, अत्यधिक सुंदरता के साथ चित्रित किया है। कृष्ण की गोचारण लीला हो या दुग्धदोहन प्रसंग हो, आस्वाद के अविस्मरणीय विषय हैं।

उल्लेखनीय बात यह कि उक्त सभी कवियों में जबरदस्त अभिव्यक्ति कौशल था। अपनी अनुभूत बात को पूरी ताकत के साथ पाठकों तक पहुँचाने की उनमें क्षमता थी। कबीर की 'खिचड़ी भाषा' में व्यक्त भाव हो या सूरदास-तुलसीदास द्वारा शैली, रस, छंद, अलंकार आदि के जरिए प्रस्तुत भाव हो, 'सौंदर्य' समान रूप से निखरता, बिखरता नजर आता है। बात जहाँ तक भक्तिकालीन कवियों की है, मेरी दृष्टि में, इन कवियों के काव्य में स्थित सर्वाधिक सुंदर मुद्दा प्रासंगिकता का है। मनुष्य को जड़वत बनानेवाली यांत्रिकता के स्थान पर भावनाओं की प्रतिष्ठा करना इस काव्य का सर्वाधिक सुंदर तत्व है। प्रासंगिकता के कारण इस काव्य में 'न भूतो न भविष्यति' वाली सुंदरता का समावेश हो चुका है।

रीतिकालीन साहित्य का सौंदर्यबोध अलबत्ता कुछ स्थूल ही रहा है। नायिका के सौंदर्य को भी उन कवियों ने काव्यांगों के लक्षणों में बांधकर ही प्रस्तुत किया है। लौकिक सौंदर्य का अंकन ही मानों इन कवियों का लक्ष्य रहा है। अलंकार प्रधान चमत्कृति से भरपूर काव्य ही सुंदर माना जाता रहा है। इस स्थिति में भी बिहारी, घनानंद जैसे कतिपय कवियों ने काव्य में भागवत सौंदर्य को जतन करने का प्रयास किया है, यह विशेष बात है।

जहाँ तक आधुनिक साहित्य में सौंदर्यबोध का सवाल है, इस काल के साहित्य में वर्णित सौंदर्य की अनेकरुपता एवं बहुविधता तो देखते ही बनती है। प्राचीन-मध्ययुगीन काव्य में चित्रित सौंदर्य अनायास था या अल्पायास था पर इस वक्त सौंदर्य एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में अस्तित्व में आ गया है। सौंदर्यशास्त्र के दृष्टिकोणों के साथ ही आज काव्य का विवेचन-विश्लेषण किया जा रहा है। सौंदर्यशास्त्र के पश्चिमी दृष्टिकोण, भारतीय विचारकों के अध्ययन का विषय बन चुके हैं। आपाततः भारतीय दृष्टिकोण में भी आमूल परिवर्तन आ गया है। अर्थात् इसका केंद्रीय विषय 'सौंदर्य' ही है तथापि आधुनिक काल

में कल्पना, मिथक, बिंब, प्रतीक, फैंटसी, व्यंग्य और यहाँ तक कि यथार्थ बोध भी सौंदर्यगत तत्वों के अंतर्गत समाहित है। ये ऐसे तत्व हैं जो हर तरह काव्य में सौंदर्य की वृद्धि करते हैं।

कल्पना, बिंब, प्रतीक, मिथक जैसे कई महत्वपूर्ण तत्वों के ही योगदान का परिणाम है कि छायावादी काव्य पूर्ववर्ती काव्य की तुलना में कई गुना अधिक निखर कर सामने आ सका है। प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी के काव्य में वर्णित सौंदर्य शायद ही कहीं मांसल नजर आयेगा। संस्कृति, सभ्यता और इतिहास के गहन अध्ययन से ओतप्रोत जीवन-दृष्टि के परिणामस्वरुप छायावादी सौंदर्यबोध में एक मासूमियत थी। प्रसाद का 'नारी तुम श्रद्धा हो' कहना, महादेवी का स्वयं को, 'नीर भरी दुख की बदली' कहना, सौंदर्य के न जाने कितने ही नए आयामों को प्रशस्त कर देता है। प्रकृति के प्रति सहज आकर्षण की दृष्टि से पंत का सौंदर्यबोध विचारणीय है। इसी कारण 'पंत प्रथम रश्मि का आना रंगिणी तूने कैसे पहचाना' कहते हैं। यही सौंदर्यबोध समय के साथ यथार्थवादी दृष्टि के संस्पर्श की चपेट में आकर 'मानव तुम हो सब से सुंदर' में बदल गया। 'जुही की कली' का वर्णन करनेवाले निराला सड़क पर पत्थर तोड़ने वाली औरत के श्रम में सौंदर्य की वास्तविक आभा को महसूस करते हैं। आगे मार्क्सवाद-प्रगतिवाद ने तो सौंदर्य की परिभाषा ही बदल दी। इसके अंतर्गत असुंदर की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति भी सुंदर कहलाई गई। वस्तुओं की सुंदरता भी उपयोगिता की कसौटी पर जाँची-परखी जाने लगी। सौंदर्य से जुड़ी अधिकांश अवधारणाओं को इस काल में बदल दिया गया। अलौकिकता, आध्यात्मिकता, दिव्य शक्ति और यहाँ तक कि ईश्वर में भी आस्था न रखने वाले मार्क्सवादियों ने या तो यथार्थ या फिर चेतना जैसी ठोस बातों को सौंदर्य का आधार बना दिया। इन्हीं की कृपा कहिए कि सौंदर्य, श्रमिकों में देखा गया तथा परिश्रम में ही उसे स्थापित, प्रतिष्ठित किया गया।

हिंदी में हुए मनोवैज्ञानिक लेखन से भी सौंदर्य के कई नए आयाम सामने आए हैं। मानवीय संवेदना, अतृप्ति, संघर्ष, घुटन और मानसिक द्वन्द्व में सौंदर्य की तलाश इन्हीं की दृष्टि की देन है। 'शेखरः एक जीवनी' इसका बेहतरीन उदाहरण है।

सारतः कहा जा सकता है कि 'सौंदर्य' असीमित लेखन का विषय है, अनवरत चिंतन का विषय है। अतः इस संदर्भ में जितना भी देखा, लिखा और सोचा जाए, कम ही है। प्रस्तुत लेख उसे समझने का ही एक अल्प-सा प्रयास मात्र है।

संदर्भ :

1. भाषा, साहित्य और संस्कृति-रामविलास शर्मा
2. मुक्तिबोध रचनावली
3. कबीर, संपादक : आ. हजारीप्रसाद द्विवेदी

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग,
डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर मराठवाडा
विश्वविद्यालय, औरंगाबाद.

उत्तर आधुनिकता की स्थापनाएँ और सीमाएँ

- डॉ. शशिभूषण मिश्र

किसी भी शब्द के साथ जब 'उत्तर' शब्द का प्रयोग होता है तो सामान्यतः इसके दो अर्थ निकाले जाते हैं - पहला यह कि पूर्व स्थिति नहीं रह गयी है और नयी स्थिति उभरकर सामने आई है, दूसरा अर्थ ये कि यह पूर्व स्थिति का अगला चरण या विस्तार है। 'उत्तर आधुनिकता' के सम्बन्ध में अधिकांश चिन्तक एवं समीक्षक पहले वाले अर्थ को अधिक महत्व देते हैं। यह आधुनिक विचारधाराओं की भांति कोई एक सर्वसमावेशी अवधारणा प्रस्तुत नहीं करती , यह तो विचारधाराओं के ही अंत की घोषणा करती है। दरअसल उत्तर आधुनिकता मानव जीवन के किसी पक्ष को एक दूसरे की तुलना में निम्न या उच्च नहीं मानती है और जीवन के विविध पक्षों में कोई असंगति भी नहीं देखती। आधुनिकता ने जीवन की समग्रता के जिस विचार को जन्म दिया था उत्तर आधुनिकता उस समग्रता को ही नकारती है। उत्तर आधुनिकता जब किसी विचारधारा को और अवधारणा को स्वीकृति ही नहीं देती तब ऐसी परिस्थिति में उसे किसी परिभाषा विशेष में व्यक्त नहीं किया जा सकता। डॉ. गोपीचंद नारंग लिखते हैं कि, 'इस चेतावनी की बहरहाल आवश्यकता है कि उत्तर आधुनिकता स्वरूप की दृष्टि से विद्रोहपरक , स्वतंत्र एवं विश्लेषणात्मक है, इसलिए उत्तर आधुनिकता की कोई परिभाषा नहीं की जा सकती। उसका कोई भी माडल स्वयं उसकी आत्मा के विरुद्ध है।'[1]

उत्तर आधुनिकता, आधुनिकता की प्रतिस्थिति है। यह इतिहास, दर्शन और विचारधारा में ही अविश्वास प्रकट नहीं करती, बल्कि अभिजात कला और साहित्य का भी निषेध करती है। इस तरह उसका विश्वास न तो व्यक्ति की पूर्णता में है, न अपूर्णता में। वह पूंजीवाद को वृद्ध पूंजीवाद घोषित करती है और उपनिवेशवादी पूंजीवादी ढर्रे के विरुद्ध तकनीक को महत्व देती है। वस्तु-उत्पादन से आगे विक्रय से भी अधिक महत्व 'उपभोक्ता' को देती है। उत्तर आधुनिकता की उद्घोषणा है कि मनुष्य ने प्रकृति के विरुद्ध अपने ज्ञान के बल पर जिस सभ्यता और संस्कृति को खड़ा किया है वे मान्य नहीं हो सकते। उत्तर आधुनिकता के सम्बन्ध में डॉ. बैजनाथ सिंघल लिखते हैं -'उत्तर आधुनिकता, आधुनिकता का ही एक प्रकार से अगला चरण भी है, विरोध भी है और उसे पुनः लिखने का एक नया प्रयास भी है।'[2] इसने महावृतान्तों को अमान्य घोषित करते हुए समाज से लेकर संस्कृति तक की तमाम मान्यताओं को एक सिरे से खारिज कर दिया। उत्तर आधुनिकता पर विचार करने से पहले आधुनिकता की संकल्पना व इसके संबंधों पर विचार करना जरूरी हो जाता है। इससे पहले कि हम उत्तर आधुनिकता के मुख्य आयामों का विश्लेषण करें, हमें उत्तर आधुनिकता से जुड़े चिंतन की पृष्ठभूमि में निर्णायक भूमिका अदा करने वाली परिस्थितियों और परिवेश का आकलन करन होगा। उत्तर आधुनिकता से सम्बद्ध विचारों का उदय अठाहरवीं सदी के मध्य से ही होने लगा था, लेकिन बीसवीं सदी में दो विश्वयुद्धों ने विचारकों को इस दिशा में और अधिक प्रेरित किया। इसके विकास में जिन महत्वपूर्ण विचारकों का योगदान रहा है उनमें दर्शन के क्षेत्र में जैक्स देरिदा, ज्यां फ्रांस्वा ल्योतार, इतिहास के क्षेत्र में मिशेल फूको, हेडेन व्हाइट,

मनोविश्लेषण के क्षेत्र में जैक्स लका, आर.डी. लेंग, नार्मन ओ ब्राउन , राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में हर्बर्ट मर्क्यूज, ज्यां बौद्रिया , जर्गन हैबरमास , विज्ञान के क्षेत्र में फियराबेंड, साहित्यिक सिद्धांत के क्षेत्र में रोला बार्थ, जूलिया क्रिस्टीना तथा कला के क्षेत्र में जोसेफ बीयूज आदि प्रमुख हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासकार टायनबी ने 1870 ई. के बाद के तर्क-निरपेक्ष चिंतन और उदार मानववाद के पतन को केंद्र में रखकर 1920 ई. में 'पोस्ट मॉडर्न' शब्द का प्रयोग किया। इसके पश्चात पश्चिम में कितनी ही पुस्तकें आधुनिकता की समाप्ति को संकेतित करते हुए सामने आईं। 1922 ई. में टी.एस.इलियट की प्रसिद्ध कविता 'दि वेस्टलैंड' प्रकाशित हुई।

उत्तर आधुनिकता से जुड़े चिंतकों में डेनियल बेल का प्रमुख स्थान है। डेनियल बेल का ध्यान औद्योगिक समाज की ओर गया। इस क्रम में उन्होंने उत्तर औद्योगिक समाज की अवधारणा का विकास किया। उत्तर आधुनिकता का दौर उत्तर औद्योगिक दौर के रूप में जाना जाता है। पहले वाली स्थिति से इस उत्तर औद्योगिक स्थिति में मुख्य अंतर विचारकों के अनुसार यह है कि अब उद्योग अर्थव्यवस्था के केंद्र में नहीं हैं। इसका सीधा सा अर्थ यह है कि अब उत्तर आधुनिक दौर में उत्पादन केंद्र में नहीं रह गया , उसका केंद्रीय स्थान अब उपभोक्ता समाज ने ले लिया है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि आधुनिक युग में औद्योगीकरण ने जिस तीव्र गति से विकास किया और पारम्परिक क्षेत्रों के वर्चस्व को तोड़ा उससे समाज में नए समीकरण स्थापित हुए। 1988 ई. में उनकी चर्चित पुस्तक ' द एंड ऑफ आइडियोलॉजी' ने उत्तर आधुनिकता के विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उत्तर आधुनिकता का नकार वर्तमान की उलझनों और भविष्य के प्रति अनिश्चितता को लेकर चलने वाली सोच के प्रति है। अतीत के नकार पर उसका बहुत अधिक बल रहा है और वर्तमान की विडम्बनाओं का वह पोषण करती हुई प्रतीत होती है। कुछ विद्वानों का मानना है कि उत्तर आधुनिकता, आधुनिकता का ही पुनर्लेखन है। दूसरे शब्दों में कहें तो जिन तत्वों या बिन्दुओं को आधुनिकता प्रस्तुत नहीं कर पाई , उनका विमर्श उत्तर आधुनिकता ने प्रस्तुत किया। सामान्यतः हम अपने रोजमर्रा के जीवन में यह कहते और सुनते रहते हैं कि अब कहीं कुछ नहीं रह गया है और आगे क्या होगा ..! वास्तव में उत्तर आधुनिकता की यही व्याख्या हो सकती है। भविष्य के शून्य को जानते हुए भी उसके पास भरने के लिए कुछ भी नहीं है। भरने के लिए उसके पास इसलिए कुछ नहीं है क्योंकि आज सारी चीजें बाजार के हवाले कर दी गई हैं।

आधुनिकता के दौर में मीडिया एक सीमा तक बाजार से मुक्त था और बाजार पर सरकार का सभी देशों में एक सीमा तक नियंत्रण भी था।परन्तु अब मीडिया और बाजार में एक नया सम्बन्ध सामने आया है। उत्तर आधुनिकता का आधुनिकता से अलग दिशा पकड़ने का मुख्य आधार 'तकनीक' और 'माध्यम' के महत्व से जुड़ा है। इसने मशीन और तकनीक के पर्यायवाची होने के भ्रम को तोड़ा है। अभी तक यह माना जाता था कि तकनीक, विज्ञान का व्यावहारिक पक्ष है परन्तु अब यह माना जाने लगा है कि तकनीक का विज्ञान से एकनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। तकनीक का प्रसार तो पूरे जीवन में है। तकनीक वास्तव में वह व्यवहार है जो लक्षित परिणाम के लिए साधनों का उपयोग करती है। तकनीक विज्ञान की सीमाओं के बाहर समझी जाने लगी है और सामाजिक , आर्थिक

और प्रशासनिक क्षेत्रों में तकनीक का प्रयोग किया जा रहा है। इस तकनीक के माध्यम से बाजार ने पूरी दुनिया में अपना नव साम्राज्य खड़ा कर लिया है। बाजार की इस ताकत और गुसपैठ को रेखांकित करते हुए पत्रकार जितेद्र भाटिया लिखते हैं, 'टेक्नोलॉजी के वर्तमान कैनवास एवं सूचना-युग ने दुनिया के बीच भौगोलिक दूरियों को काफी कम कर दिया है लेकिन एक ओर जहाँ इसके प्रभाव से साहित्य, कला और संस्कृति के प्रति हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन आने लगे हैं वहीँ दूसरी ओर सूचना क्रांति के रथ पर सवार होने के बाद विश्व के बड़े-बड़े बहुराष्ट्रीय संस्थानों के लिए दुनिया के विकासशील देशों और उनकी नई संभावनाशील मंडियों में घुसपैठ करना अब पहले से अधिक आसान हो गया है।'[3]अब इस तरह तकनीक ने विज्ञान की परिधि से बाहर निकलकर अपने अर्थ को काफी व्यापक बना लिया है। आर्थिक क्षेत्र की सारी योजना और शासन-व्यवस्था के सारे मुद्दे एक तकनीक में ही बंधकर नियोजित होते हैं। तकनीक की यह विज्ञानेतर पकड़ पहली बार उत्तर -आधुनिकता द्वारा उद्घाटित की गई और जीवन के प्रत्येक पक्ष में प्रत्येक स्तर पर तकनीक और उसके प्रभावों का आकलन किया जाने लगा। उत्तर आधुनिकता के विकास में तकनीक की जिस तरह महत्वपूर्ण भूमिका रही उसमें आडियो-वीडियो की निर्णायक भूमिका दिखाई देती है। इस तकनीक ने ज्ञान और सूचना को दूर-दूर तक पहुँचाने का कार्य किया है। आज हम जिस वैश्विक गाँव की बात करते हैं वह इस नयी तकनीक के द्वारा ही संभव बन पाया है।

उत्तर आधुनिकता का भारतीय परिप्रेक्ष्य क्या रहा है यह हमारे लिए एक महत्वपूर्ण चिंतन बिंदु है। तीसरी दुनिया और विकासशील देशों के सन्दर्भ में, जिनमें भारत भी सम्मिलित है,उत्तर आधुनिकता की पहचान तथा प्रभाव का आकलन आवश्यक है। प्रामाणिक सन्दर्भों में भारत में उतर आधुनिकता अपरिहार्य है। उत्तर आधुनिकता का भारतीय स्वरुप काफी जटिल और बहुस्तरीय है। इन जटिल सन्दर्भों और व्यावहारिक स्थितियों का विश्लेषण करते हुए आलोचक और कथन पत्रिका के सम्पादक रमेश उपाध्याय कहते हैं, 'हमारा देश अभी पूरी तरह से आधुनिक भी नहीं बन पाया था कि हमारे कई लेखक उत्तर आधुनिक हो गए। हम अभी अपने इतिहास को ठीक तरह से जान भी नहीं पाए थे और यह कहा जाने लगा कि इतिहास का अंत हो गया है।'[4] कोई भी विचार जो सहज तरीके से स्वाभाविकता के साथ स्वीकार किया गया हो वही प्रासंगिक हो पाता है किन्तु उत्तर आधुनिकता के सन्दर्भ में हम जब भी बात करते हैं तो निश्चित तौर पर पाते हैं कि इसे बहुधा अधकचरे रूप में ग्रहण किया गया है। इसका दुष्प्रभाव यह हुआ कि हमारे निजी सांस्कृतिक विरासत से हमारा नाता टूटता गया और आरोपित मानदंडों से ही हम अपने समय समाज और संस्कृति की व्याख्या करने लगे। यों भी भारत जैसे विशाल देश में जहां आदिवासी , अशिक्षित समूहों से लेकर आधुनिकतम कहे जाने वाले लोग रह रहे हैं,वहाँ चिंतन-मनन और अनुभूति का प्रतिनिधित्व तो मुट्ठी भर लोंगों तक सिमट कर रह जाता है। भारतीय सन्दर्भ में चिंतन की बागडोर सम्हालने वाली यह मुट्ठी भर लोंगों की 'हाई कमान' जो भी पिक्चर पेंट करती है, वही स्वीकृत मान ली जाती है। ये मुट्ठी भर लोग पूँजी और तकनीक के गठजोड़ को तोड़ने में असफल साबित हुए हैं पर स्वयं को निर्णायक स्थिति में पहुँचा हुआ मानने में कतई गुरेज नही करते। पूँजी

और तकनीक की इस ताकत के सम्मुख इन बुद्धिजीवियों ने घुटने टेक दिए हैं। इस तथ्य को रेखांकित करते हुए लेखक अनिल त्रिपाठी ने महत्वपूर्ण टिप्पणी की है , 'पूंजी और तकनीक का ऐसा भीषण गठजोड़ जो पहले नहीं था आज सारे तामझाम के साथ अपनी पूरी संहारक शक्ति के साथ 'युद्धं -देहि' की मुद्रा में भुजा उठाए खड़ा है।'

उत्तर आधुनिकता ज्ञानोदय और उससे निष्पन्न विचारधाराओं तथा आख्यानों का खंडन तो कर रही है परन्तु कहीं पहुँच नहीं रही है। ज्ञानोदय के बाद आधुनिकता की प्रक्रिया ने समाज को एक दिशा दी थी जबकि उत्तर आधुनिकता परिवर्तन के संकेत तो दे रही है लेकिन वह परिवर्तन को दिशा देने में सफल नहीं रही है। इसने इतिहास को प्रायः नकार दिया है और उसके अंत की घोषणा कर दी है किन्तु जब हमारा इतिहास ही नहीं होगा तब हम किस आधार पर अच्छे भविष्य की कल्पना कर सकते हैं ! जहाँ तक भारतीय इतिहास का प्रश्न है तो यह माना जाता रहा है कि विदेशी शासकों ने जानबूझकर इसे तोड़ा-मरोड़ा है और उसकी अवांछित व्याख्याएं प्रस्तुत की गयी हैं। उनका उद्देश्य सन्दर्भों को अपने हित में ढालना था इसीलिए भारतीय इतिहास के पुनर्लेखन पर लगातार बल दिया जाता रहा है। उत्तर आधुनिकता ने विखंडन पर जोर देते हुए यह उद्घोषणा की है कि सम्पूर्णता जैसी कोई चीज नहीं होती। जब समाज के हित और स्वार्थ अलग अलग रहेंगे तो सम्पूर्णता की बात करना बेमानी है। यह व्यक्तिगत अनुभवों को महत्व देते हुए उन तमाम स्थितियों को सामने लाती है जो हमारे समय से जुड़े हुए हैं।

भारत को आज विश्व एक 'विशाल उपभोक्ता देश' के रूप में देख रहा है। भारतीय अर्थव्यवस्था में उदारीकरण की ढील के बाद यहाँ की उपभोक्ता चेतना और अधिक तीव्र हो गई है। शहरी क्षेत्रों में मध्य वर्ग उपभोक्ता समाज के रूप में तेजी से आगे आया है । इस प्रक्रिया में लेखक के सामने बड़ी चुनौती उपस्थित हुई है और एक बेहतर विकल्प के अभाव में वह उत्तर आधुनिकता का स्वांग रच रहा है। उत्तर आधुनिकतावादी भारतीय लेखकों की स्थिति को रेखांकित करते हुए रमेश उपाध्याय लिखते हैं, 'उत्तर-आधुनिकतावादी लेखकों की सबसे बड़ी बुराई यह है कि वे सबसे बड़े प्रगतिशील होने और मार्क्सवादियों से आगे के चिन्तक-विचारक होने का स्वांग रचते हैं,लेकिन पूंजीवाद को निर्विकल्प बताते हैं। ऐसे लेखक लोंगों को किसी तरह की नैतिकता के चक्कर में न पड़ कर उसके आगे आत्मसमर्पण करने की सीख देने का सांस्कृतिक धंधा करते हुए वास्तव में आज के पूंजीवाद और साम्राज्यवाद की बौद्धिक दलाली करते हैं।'[5]

भारत में उत्तर आधुनिकता का प्रभाव अब काफी हद तक दिखाई देने लगा है। समाज में जो भाषा, जाति, धर्म इत्यादि को लेकर अलग-अलग स्तर थे - वे तिरोहित हो रहे हैं और उपभोग के स्तर पर एक समान मंच उन्हें मिल रहा है । टी.वी.कल्चर ने सामाजिक सहभागिता को बहुत सीमित कर दिया है और इसका असर गांवों तक में देखा जा सकता है । उपभोक्ता-मानसिकता वस्तु से अधिक, वस्तु के विज्ञापन में निहित सौंदर्य को खरीदता है। इस प्रकार विज्ञापन अब सौन्दर्य छवियों और चिह्नों तक सीमित होकर रह गया है । जरूरत और विलासिता का अंतर अब मिटता सा जा रहा है। लोग ब्रांड के भ्रम में सीमित होकर रह गए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि भारत में कई स्तरों पर ऐसी उत्तर आधुनिक प्रवृतियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं। उदारीकरण और बहुराष्ट्रीय कंपनियों

के आगमन से उत्पन्न स्पर्धा ने यह सिद्ध कर दिया है कि आज बाजार के उत्पादनों की संख्या मांग से कहीं अधिक हो गई है । अर्थ -व्यवस्था पर इसका गहरा प्रभाव यह पड़ा है कि बैंक जो पहले ऋण देने में बहुत सी कठिनाइयां पैदा करते थे अब बिना गारंटर के कम ब्याज पर ऋण लेने वालों की तलाश करते हुए दिखाई पड़ते हैं। अतः भारतीय परिप्रेक्ष्य में उत्तर आधुनिकता के प्रभावों का विश्लेषण करते समय न तो हमें पूर्वाग्रही नजरिये से इसे देखना चाहिए और न ही इसके प्रभावों को जबरन प्रतिस्थापित किया जाना चाहिए। कहीं न कहीं उत्तर आधुनिकता ने हमारे समय-समाज के कई पहलुओं को उपयोगी बनाया है। उसकी कमियाँ अपनी जगह हैं पर हमें उसे खुले मन से समझना तो पड़ेगा ही क्योंकि यह एक वैश्विक और समकालीन अनिवार्यता है। इसने विकेंद्रीकरण के द्वारा संस्कृति के समुच्चय को अगर तोड़ा है तो दूसरी ओर छोटे -छोटे क्षेत्रों और पिछड़े से पिछड़े वर्गों की संस्कृति को महत्व दिया है और उनमें अस्मिता की भावना जगाई है। उत्तर आधुनिकता के सम्बन्ध में विचारक देवेन्द्र इस्सर ने लिखा है कि, 'समय वास्तव में बदल गया है। आज चिंतन के इतने सारे रूप सामने आ रहे हैं कि व्यक्ति चकित रह जाता है। नारी आन्दोलन और दलित आन्दोलन की चेतना को उत्तर आधुनिकता ने एक नयी जमीन और नयी दिशा दी है।'[6]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उत्तर आधुनिकता एक वैश्विक परिघटना है जिससे बचकर निकल पाना संभव नहीं है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने इसे हमारे लिए एक अनिवार्य जरूरत के रूप में प्रस्तुत किया है। समकालीन भारतीय समाज में उत्तर आधुनिक प्रवृतियां बड़ी तेजी से अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना रही हैं। यह हमारे समय का एक ऐसा सच है जिसके बाहर हम किसी मानव समाज की कल्पना नहीं कर सकते।

सन्दर्भ :

1 नारंग गोपीचंद, संरचनावाद उत्तर संरचनावाद एवं प्राच्य काव्य शास्त्र,साहित्य अकादमी दिल्ली,2004,पृष्ठ-439, 2.सिंघल बैजनाथ,उत्तर आधुनिकताः स्वरूप और आयाम,हरियाणा साहित्य अकादमी,पंचकूला,2003,पृष्ठ-23, 3.भाटिया जीतेन्द्र,वैश्वीकरण,विज्ञापन और बाजार की राजनीति,आलोचना(पत्रिका),जन-मार्च,21,पृष्ठ-147-148, 4 उपाध्याय रमेश,भाषा और भूमंडलीकरण,शब्द संधान प्रकाशन ,दिल्ली,2008,पृष्ठ-46, 5. त्रिपाठी अनिल,आज की हिंदी कविता तमाम विपर्ययों के बीच,आलोचना(पत्रिका)2005,पृष्ठ-243, 6. इस्सर देवेन्द्र,उत्तर आधुनिकता : साहित्य और संस्कृति,इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन,दिल्ली,2010,पृष्ठ-33

असिस्टेंट प्रोफेसर,हिंदी
राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय,बाँदा (उ.प्र.)

नवजागरण और स्त्री

- डॉ. जितेंद्र कुमार बाजपेयी

भारतीय नवजागरण के मुख्य रूप से दो सोपान माने जाते हैं, पहला औपनिवेशिक आधुनिकता का और दूसरा राष्ट्रवाद का। सर्वप्रथम ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने 1856 ई. में विधवा पुनर्विवाह पर लगे प्रतिबंध को हटाने का अभियान चलाया, जिसमें वे काफी हद तक सफल भी हुए, लेकिन समाज इसको पूरी तरह से स्वीकार नहीं कर पा रहा था। इस सन्दर्भ में भारतेन्दु के इस कथन को देख सकते हैं- जो विधवा विवाह नहीं करती है, उसको पाप तो नहीं होता, पर जो नहीं करती, उसको पुण्य अवश्यक होता हैं। स्पष्ट है कि समाज में यह धारणा थी कि जब एक विधवा स्त्री दूसरा विवाह करती है तो वह पाप की भागीदार बनती है। इस सन्दर्भ में गरिमा श्रीवास्तव लिखती हैं कि, 'स्त्री से जुड़े मुद्दे पहले चरण के आरम्भ में केन्द्रीय सरोकार की तरह उभर कर सामने आए ; चाहे वह स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, अनमेल विवाह, शादी की उचित उम्र का सवाल हो। नवजागरण के इस दौर में विभिन्न युग निर्माण करने वाले व्यक्तियों ने समाज सुधार की परियोजना में इन मुद्दों को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान दिया और साथ ही इसका समाधान तत्कालीन औपनिवेशिक व्यवस्था के सहारे हल करने का प्रयास किया।'[1]

स्त्री नवजागरण का स्वाधीनता आन्दोलन से गहरा रिश्ता रहा है। स्वतंत्रता आन्दोलन के प्रमुख लक्ष्यों में एक लक्ष्य स्त्री-उत्थान भी था। स्त्री नवजागरण का उद्देश्य था स्त्रियों में शिक्षा के द्वारा नयी चेतना का विकास करना; उन्हें ज्ञान-विज्ञान के नए आयामों से परिचित कराना। समाज सुधारकों के लिए स्वतंत्रता के बहुत गहरे आशय थे, उनके लिए स्वतंत्रता एक बहुआयामी मूल्य था जिसे प्राप्त करने की दिशा में सबसे बड़ी बाधा अशिक्षा थी। स्त्री नवजागरण की दिशा में काम करने वाले व्यक्तित्वों ने सबसे पहले सामजिक बुराइयों और कुरीतियों को समाप्त करने के लिए आन्दोलन चलाये। स्त्री-हित की दृष्टि से ये प्रयास काफी हद तक कारगर साबित हुए। इसी का प्रभाव था कि सती प्रथा जैसी घृणित कुरीति के खिलाफ व्यापक प्रयास को सफलता मिली। आगे चलकर बाल विवाह और परदा प्रथा जैसी कुरीतियों को बंद कराया गया। इस प्रकार हिन्दी नवजागरण को स्त्री-उत्थान के प्रस्थान बिंदु के रूप में देखा जा सकता है।

नवजागरण के नायकों के जीवन, कार्य और उपलब्धियों पर हिन्दी समाज यह देख-जान ही नहीं पाता कि उनकी सहभागी कौम में भी नवजागरण की निरंतरता और उत्कर्ष के ऐसे शिखर हैं जिनके बिना हम भारतीय नवजागरण की समग्र तस्वीर को समझ ही नहीं सकते। समीर कुमार पाठक लिखते हैं कि, 'यही कारण है कि हिन्दी प्रदेश में झूठी आत्ममुग्धता और नासमझ घृणा की लपटें जब-तब जलने भभकने लगती हैं और परस्पर की महानता और उपलब्धियों से अनजान लोग इस घृणा आधारित श्रेष्ठताबोध की आँच में जलने-झुलसने के लिए अभिशिप्त से हैं।'[2] हम एक ही पाठ की बार-बार आवृत्ति के बीच यह भूल जाते हैं कि सर सैयद अहमद खाँ के मुकाबले राष्ट्रीय चेतना से सम्बद्ध स्वाधीनचेता उलेमा की महान परम्परा ने मौलाना महमूद-उल-हसन (1851-1921) तथा मौलाना रशीद गंगोही (1882-1905) द्वारा स्थापित

देवबंद उत्तर प्रदेश के मशहूर धर्मविज्ञान शिक्षण संस्था दारूल उलूम से प्रेरणा ग्रहण की थी। सर सैयद अहमद खाँ के समानान्तर देवबंद का महत्व इसलिए है कि दारुल उलूम से सम्बद्ध उलेमा ने अक्टूबर 1888 में एक फतवा जारी कर मुसलमानों के कांग्रेस की गतिविधियों में सहभागी होने के काम को न्यायसंगत ठहराया था। 'उनके उत्तराधिकारियों ने उनका अनुकरण किया और अपने अनुयायियों के दिलो-दिमाग पर यह सच्चाई अंकित की कि हिन्दुस्तानी मुसलमानों के व्यापक हितों की रक्षा के लिए हिन्दू-मुस्लिम सहयोग जरूरी है।'[3]

स्त्री नवजागरण की दिशा में विद्यालय खोले गए और लड़कियों का विद्यालयों में प्रवेश लेने की शुरूआत होने लगी। हालाकि रूढ़िवादी परिवारों में लड़कियों का घर की चौखट लांघकर के लिए जाने का विरोध किया गाया। उस समय के समाज सुधारक और साहित्यकार स्त्री की ऐसी छवि गढ़ रहे जिसमें मुक्ति की आकांक्षा थी। साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से स्त्री शोषण के विभिन्न रूपों को समाज के सामने लाने का प्रयास किया। यह वही समय था जब स्त्री को आदर्श पत्नी व कुलीन बहू जैसे चरित्रों से जोड़कर प्रस्तुत किया जा रहा था। इसका प्रभाव यह हुआ कि स्त्री के खुद के मन में भी उसकी यह छवि अंकित हो गई। परिणामस्वरूप स्त्री ने खुद ही आदर्श पत्नी व कुलीन बहू के संस्कारों को अपना लिया। कमोबेश यह सोच स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी नहीं बदली। समाज में उसी स्त्री को 'आदर्श-स्त्री' माना जाता रहा जो पुरुष नियंत्रित हदबंदियों के भीतर रहते हुए अपना जीवन यापन करती रही। गरिमा श्रीवास्तव लिखती हैं - 'स्त्री अगर शोषित या उत्पीड़ित है तो उसका एक कारण यह है कि स्त्री खुद अपने ऊपर हो रहे अत्याचारों को चुपचाप सहन कर लेती है। जब तक स्त्री खुद अपने उत्पीड़न का प्रबल विरोध नहीं करेगी तब तक स्त्री, आदर्श पत्नी व कुलीन बहू जैसे तमगों के कारण उत्पीड़ित होती रहेगी। हिन्दी नवजागरण में रख्माबाई, पण्डिता रमाबाई एवं ताराबाई शिंदे जैसी स्त्री समाज सुधारकों ने ही स्त्री हक के लिए सर्वप्रथम प्रयास किए थे। जिसके परिणामस्वरूप उस समय स्त्री अपने अधिकारों के प्रति जागरुक हुई जबकि उस समय के पुरुष समाज सुधारकों द्वारा स्त्री हित के लिए जो भी प्रयास किए गए वह कहीं न कहीं उनके खुद के स्वार्थ हेतु थे।'[4]

यहाँ विचारणीय यह है कि ऐसी मान्यताओं के चलते यदि कोई विधवा स्त्री अपना पुनर्विवाह कर भी ले तो क्या वह शोषित होने से बच जाएगी? उसके सामने वही परिस्थिति पुनः भी आ सकती है। इस सन्दर्भ में अज्ञात हिन्दू महिला का कहना है कि- 'पुनर्विवाह करने की इच्छा करने वालियों को याद रखना चाहिए कि हमें भी शादी करने के पीछे इन्हीं के मानिंद रोना पड़ेगा। जहाँ हजार-लाख-करोड़ को ठोकर खाते देखा, हमको चाहिए कि हम भी अंधों के माफिक अपने तई गिरवें नहीं बल्कि देख के कदम रख उसको जीत लेवें। 'हे प्यारी बहनों, वही काम करों जिससे तुम्हें इस दुनिया में सुख मिले। बड़े भारी दुखों की जड़ काम है। पहले काम को रोको। इसको रोकने की यह तजवीह है की जब इसका ख्याल पैदा हो तक इसके दुखों का ख्याल करो।'[5] औपनिवेशिक पश्चिम को भौतिक रूप से श्रेष्ठ मानने के बाद स्वयं को आध्यात्मिक रूप से प्रभुतासंपन्न और अपरतन्त्र ठहराना भारतीय राष्ट्रवाद की ऐसी रणनीति थी जिसमें

अध्यात्म का केंद्र घर और घर का केंद्र स्त्री को स्वायत्त ही मानकर चला जा सकता था। यही कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्त्री मुक्ति का प्रश्न राष्ट्रवादी आन्दोलन के पब्लिक एजंडे से गायब हो गया मालूम पड़ता है। लेकिन क्या यह सामान्यीकरण हिन्दी क्षेत्र पर भी लागू किया जा सकता है? गरिमा श्रीवास्तव लिखती हैं कि 'हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत माने जाने वाले भारतेंदु अपनी मृत्यु से तीन वर्ष पूर्व 1882 में पश्चिमोत्तर प्रांत में लड़कियों के दो सौ स्कूल बंद कर दिए जाने पर हंटर आयोग के सामने स्त्री शिक्षा के प्रति लोगों की उदासीनता दूर करने के लिए सरकार को उसके कर्तव्य की याद दिला रहे थे।'[6]

अधिकांश सामाजिक बुराइयों का संबंध हिंदू समाज से था जो भारत की कुल आबादी का तीन चौथाई था। कोई समाज कितना प्रतिशत है और कितना पिछड़ा हुआ इसका पता उस समाज में स्त्रियों की दशा से लगाया जा सकता है। भारत के दो प्रमुख धर्मों हिंदू और इस्लाम दोनों में स्त्रियों की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। उनका ना घर में और न समाज में किसी तरह की स्वतंत्रता और अधिकार प्राप्त थे। उन्हें ऐसे धार्मिक और सामाजिक रिवाजों से बांधा गया था कि वे अपनी इच्छा से कुछ भी कल सकने की स्थिति में नहीं थी। स्त्री संबंधी बहुत से प्रतिगामी का में रिवाज सवर्ण हिंदू परिवारों में प्रचलित थे। आरंभिक में शिक्षित हिंदू और मुसलमान वर्ग ने अपने अपने समाजों की बुराइयों की आलोचना प्रस्तुत की और उनमें सुधार लाने का प्रयत्न किया। इस उभरते मध्यवर्ग ने भारतीय समाज में व्याप्त प्रतिगामिता को तीखे रूप से महसूस किया था और उसमें आवश्यक सुधार लाने का बीड़ा उठाया था। समाज में परिवर्तन का काम एक-दो व्यक्तियों द्वारा नहीं बल्कि एक आंदोलन के रूप में हुआ और इसकी व्यापकता पूरे देश में दिखाई दे रही थी इसलिए इसे नवजागरण के आंदोलन के रूप में याद किया जाता है। सारतः कहा जा सकता है कि नवजागरण के कारण धर्म संबंधी सुधार और सामाजिक रीति रिवाज संबंधी सुधारों को गति मिली। इस सुधार के लिए उन्होंने सिर्फ विचारों का प्रचार ही नहीं किया बल्कि नई तरह की संस्थाओं का गठन किया, नए ढंग के स्कूल और कॉलेज खोले और पत्र पत्रिकाएं प्रकाशित की। नवजागरण के दौर में सामाजिक परिवर्तन के जो काम हुए वो अभूतपूर्व थे।

सन्दर्भ :

1. श्रीवास्तव गरिमा, हिन्दी नवजागरण और स्त्री (संपादक), अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2018, पृष्ठ, 03
2. रमेश उपाध्याय,संज्ञा उपाध्याय(संपादक),स्त्री सशक्तिकरण की राजनीति,शब्द संधान, दिल्ली, 2012, पृष्ठ,17
3. पाठक समीर कुमार, भारतीय मुसलमानः परंपरा और नव जागरण, पहल, अक्तूबर-दिसंबर 2020, पृष्ठ,215
4. श्रीवास्तव गरिमा, हिन्दी नवजागरण और स्त्री(संपादक),अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2018 पृष्ठ, 07
5. शर्मा हेमंत(संपादक)भारतेंदु समग्र,प्रचारक ग्रंथावली परियोजना, वाराणसी, 1989 पृष्ठ,1013
6. सिन्हा रमण, प्रस्तावना, हिन्दी नवजागरण और स्त्री (संपादक) दिल्ली, 2018 पृष्ठ, 03

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी, पंडित जवाहरलाल नेहरू महाविद्यालय, बाँदा

धूमिल की राजनीतिक दृष्टि

- डॉ. सन्दीप सिंह

हिन्दी कविता में समय-समय पर जीवन के विभिन्न सरोकारों, मूल्यों, लोकरंगों और मानवता के संघर्ष को बड़ी ही मुखरता के साथ चित्रित किया गया है। साठोत्तरी हिन्दी कविता भी इसी जीवन्त परम्परा की अमूल्य धरोहर है। विशेष रूप से मानवीय सरोकारों के प्रति मुखरित स्वर भी इसमें उल्लेखनीय है। इस परम्परा में सुदामा पाण्डे 'धूमिल' का नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यदि हम इसकी परम्परा एवं विकास पर दृष्टिपात करें तो हम देखते हैं कि जो विद्रोहात्मकता, क्रान्तिदर्शिता, असहमति, उग्रता, आक्रोश हम भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य के क्रान्तिकारी कवि कबीर में पाते हैं, वही आधुनिक हिन्दी कविता में निराला, नागार्जुन से लेकर समकालीन हिन्दी कविता में रघुवीर सहाय, राजकमल चौधरी के पश्चात धूमिल में है। धूमिल में समसामयिकता बोध, प्रगतिवादी चेतना, सपाटबयानी का स्वर अलग किन्तु विशिष्टता के साथ मुखरित हुआ है।

'राजनीति' व 'जन' के परिप्रेक्ष्य में क्रान्तिकारी कवि धूमिल के काव्य का मूल्यांकन वर्तमान में अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं नैतिक है। अपने काव्य में जिस बेबाकी के साथ मानवीय सरोकारों के उन्होंने उठाया है वह अत्यन्त प्रासंगिक है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए उनके काव्य का मूल्यांकन 'राजनीति' व 'जन' के परिप्रेक्ष्य में हो रहा है। उनका पहला काव्य संग्रह ही 'संसद से सड़क तक' है, जिसमें 'संसद' अर्थात् भारतीय राजनीति और 'सड़क' अर्थात् भारतीय मामूली आदमी जिसे हम 'जन' कह रहे हैं। सारांश यही है कि धूमिल के काव्य में वर्तमान एंव भविष्य के लिए 'राजनीति' व 'जन' हेतु जो तत्व उपयोगी और लाभप्रद हैं, उन्हें उजागर किया गया है।

धूमिल ने अपनी काव्य यात्रा की शुरूआत 'अकविता आन्दोलन' से किया और धीरे-धीरे सामाजिक विसंगतियों ने उन्हें राजनीति के करीब ला खड़ा किया। धूमिल की राजनीतिक चिन्ता वैयक्तिक न होकर सामाजिक थी। स्वतंत्रता के पश्चात शासन वर्ग ने निरन्तर जन संवेदनाओं और जनवादी मूल्यों पर प्रहार किया। आम लोगों का जीवन अत्यन्त कठिन हो गया। धूमिल ने इन सभी दृश्यों का नग्न रूप देखा और उनकी राजनीतिक चेतना जाग्रत और मुखर हुई। उनका साहित्य अव्यवस्था, चुनाव, लोकतंत्र के भ्रष्टाचार, संसद इन सभी का विरोध करता नजर आया। इनके लेखन को लेकर विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का कथन है - ''उत्तेजनाओं से अलग धूमिल की कविता मनुष्य के केन्द्रीय प्रश्नों से जुड़ी हुई कविता है, जिसमें रोटी और भूख, शहर और गाँव, जनतंत्र और समाजवाद, संसद और सड़क प्रमुख हैं। यह गतिशील और संघर्षशील चेतना की कविता है। यह समकालीन वास्तविकताओं का साक्षात्कार कराने वाली कविता है।''[1]

धूमिल का मानना था कि कवि में गहरी राजनीतिक दृष्टि का होना जरूरी है। वह इसी के बल पर लोकतंत्र और राजनीतिक सत्ता को दुरुस्त करने की कोशिश करता है। उन्होंने राजनीतिक समझदारी को लेखन के लिए अत्यन्त आवश्यक बताया- ''युवा लेखन के लिए राजनीतिक समझदारी जरूरी है, बिना इस राजनीतिक समझदारी के आज का लेखन सम्भव नहीं।''[2] देश में एक ओर भुखमरी है, वहीं दूसरी ओर अनाज का निर्यात किया जा रहा है, देश में अकाल है और संसद मौन है, सभी योजनाएँ फाइलों

तक सिमट कर रह गयी हैं, इस तरह की तमाम विसंगतियों के प्रति धूमिल में भयंकर आक्रोश है - ''अपने यहाँ संसद / तेली की वह घानी है/ जिसमें आधा तेल / और आधा पानी है।''[3]

हिन्दी कविता में प्रगतिशील विचारधारा के अगले चरण के रूप में जनवादी लेखन अस्तित्व में आया। मूलतः सन् 1967 के बाद नक्सलबाड़ी आन्दोलन में किसान विद्रोह के रूप में जनवादी शक्ति की स्थापना हुई। जनवादी होने का वास्तविक अर्थ है साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, सामंती व्यवस्था और उसके जीवन मूल्यों का सक्रिय विरोध तथा श्रमिक वर्ग और पीड़ित जन के साथ वास्तविक हमदर्दी तथा सो रही जनता को जगाना। धूमिल अपने समय की व्यवस्था को देख रहे थे कि किस तरह राजनीतिक लाभ के लिए लोगों ने अपनी नैतिकता और सद्धांतों को त्याग दिया है। वह व्यवस्था परिवर्तन की बात इसी नाते करते हैं ताकि राजनीति में स्वार्थी तत्व न आने पाएं - ''हाँ यह सही है कि कुर्सियाँ वही हैं/ सिर्फ टोपियाँ बदल गयी हैं।''[4]

वह आम आदमी के कवि हैं - साहसी और निडर सवाल जवाब करने वाले समकालीन कविता के समर्थ कवि; जो हर तरह के शोषण,दमन और अत्याचार का विरोध करता है। वह कविता में उपेक्षित तिरस्कृत व्यक्ति की आवाज बनकर आते हैं। कठिन श्रम के बावजूद भी भरपेट भोजन की व्यवस्था नहीं कर पाता, ऐसे आम आदमी को ही कविता में 'जन' कहा गया है, जिसका चित्रण कवि पूरी संवेदनशीलता, मार्मिकता के साथ करता है एवं उसे हिम्मत देकर जगाने का प्रयास करता है - ''अपनी आदतों में/फूलों की जगह पत्थर भरो/मासूमियत के हर तकाजे को/ठोकर मार दो/ अब वक्त आ गया है कि तुम उठो/और अपनी ऊब को आकार दो।''[5] वह जनता में प्रतिरोधी चेतना का विकास करना चाहते थे ताकि लोकतंत्र सही रास्ते पर आ सके। सच्चे अर्थों में धूमिल असमति, साहस और प्रतिरोध के कवि हैं - ''तनो/ अकड़ो/ अमरबेलि की तरह मत जियो/जड़ पकड़ो /बदलो अपने आपको।''[6]

धूमिल की कविता का मूल स्वर जनपक्षधरता है। पूँजीवादी व्यवस्था के परिणामस्वरूप उत्पन्न पतनशील मूल्यों और सामाजिक विकृतियों तथा विद्रूपताओं को जनवादी कवियों ने अपनी रचनाओं में बेनकाब किया है। सामाजिक सम्बन्धों में अर्थ की प्रधानता के कारण अलगाव, अजनबीपन, अमानवीयता और व्यवस्था की साजिशों के कारण घिसटता हुआ, घुट-घुटकर जीता हुआ आम आदमी ही 'जन' है, जिसका सशक्त चित्रण धूमिल की रचनाओं में देखने को मिलता है। वर्ग विभाजित समाज में शोषक तथा शोषित वर्गों में से किसी एक के प्रति सबको अपनी पक्षधरता और प्रतिबद्धता घोषित करनी पड़ती है, ऐसे में मेहनतकश जनता के संघर्ष का सहभागी जनकवि ही होता है। व्यवस्था के दमन और तानाशाही तथा शोषण की नयी-नयी व्यवस्थाओं को बनाये रखने के लिए नये काले कानूनों के जरिये जनता के अधिकारों में कटौती, हक और न्याय के लिए आवाज उठाने वालों का बर्बर दमन कर रही अत्याचारी व्यवस्था पर जन कवि गहरी चोट करता है।

धूमिल लगातार मजदूरों, कर्मचारियों, अधिकारियों , किसानों, आम जनता के बीच रहे हैं, संघर्ष किया है, बड़ी-बड़ी चुनौतियों का सामना किया है, अतः धूमिल के काव्य

में 'जन' अर्थात आम जनता/सर्व साधारण की अभिव्यक्ति व्यापक रूप से निहित है। उन्हें जन कवि कहने में तनिक भी संकोच नहीं होना चाहिए। वास्तव में वे सच्चे अर्थों में जनकवि ही हैं, उन्होंने अपने काव्य में सड़क किनारे के 'मोची' से लेकर 'संसद' तक को समाहित किया है। 'मोचीराम' कविता में उन्होंने कहा है - ''और बाबू जी !असल बात तो यह है कि जिंदा रहने के पीछे /अगर सही तर्क नहीं है/तो रामनामी बेचकर या रण्डियों की/ दलाली करके रोजी कमाने में /कोई फर्क नहीं है। ''[7] विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने लिखा है कि 'धूमिल की कविता सच्चे अर्थों में सड़क और संसद अर्थात जनता और जनतंत्र की कविता है। उनकी कविता की सारी शब्दावली सामाजिक और राजनीतिक संसार की शब्दावली है। वे सही अर्थों में सामाजिक राजनीतिक चेतना के कवि हैं।'[8]

धूमिल एक तरफ राजनीति के घालमेल से असहमति जताते हैं तो दूसरी ओर सामाजिक अव्यवस्था से नाखुशी जाहिर करते हैं। इनके जैसा अदम्य साहस विरले कवियों में देखने को मिलता है- धूमिल की प्रतिबद्धता मात्र नारों तक सिमटी नहीं है अपितु उनकी प्रतिबद्धता 'जन' के मानवीय सरोकारों के प्रति पूरी ईमानदारी के साथ खड़ी है - ''लोहे का स्वाद /लोहार से मत पूछो/ उस घोड़े से पूछो/ जिसके मुँह में लगाम है। ''[9] कहा जा सकता है कि जब तक सामाजिक विसंगतियाँ बनी रहेंगी तब तक धूमिल जैसे विद्रोही कवि की प्रासंगिकता निश्चित रूप से रहेगी। सामान्य 'जन' अर्थात आम आदमी को जिस ढंग से उन्होंने नये तेवर के साथ जगाने का प्रयास किया है, समाज सदैव उनका ऋणी रहेगा, विशेष रूप से सर्व साधारण समाज। धूमिल ने अपने समय की कविता को एक रास्ता दिखाया। उनकी 'मोचीराम', 'अकाल दर्शन', 'गाँव', 'नक्सलबाड़ी', 'किस्सा जनतन्त्र', 'जनतंत्र के सूर्योदय में सच्ची बात , 'रोटी और संसद' 'पटकथा' आदि कविताएँ आज भी अपना विशिष्ट महत्व रखती हैं।

सन्दर्भ :

1. तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद, समकालीन हिन्दी कविता, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, 2021, पृष्ठ-243
2. पाण्डेय, रत्नशंकर (सम्पा.) धूमिल समग्र, खण्ड-3, राजकमल पेपर बैक्स,नई दिल्ली, 2021, पृष्ठ-320
3. पाण्डेय, रत्नशंकर (सम्पा.)धूमिल समग्र, खण्ड-1,संसद से सड़क तक, राजकमल प्रकाशन,दिल्ली,2021, पृष्ठ-138
4. वही, पृष्ठ-135, 5. वही, पृष्ठ-126, 6. वही, पृष्ठ-75, 7. वही, पृष्ठ-69
8. तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद, समकालीन हिन्दी कविता, लोकभारती,प्रयागराज, 2021, पृष्ठ-234
9. पाण्डेय, रत्नशंकर (सम्पा.) धूमिल समग्र, खण्ड-1, राजकमल, दिल्ली, 2021, पृष्ठ-182

असिस्टेंट प्रोफेसर,हिंदी
पंडित जवाहरलाल नेहरू महाविद्यालय,बाँदा

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का हिंदी के प्रति दृष्टिकोण

- डॉ. विनय कुमार पटेल

हिंदी के बिना राष्ट्र गूंगा है 'भाषाई संकीर्णता कभी भी हमारे व्यवहार और विचारों की अभिव्यक्ति में बंधक नहीं होनी चाहिए' - महात्मा गॉधी

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी,भले ही खुद गुजराती भाषा- भाषी थे,लेकिन हिंदी के प्रति उनका दृष्टिकोण बहुत उदार था' स्वतंत्रता आंदोलन में कदम रखने के पूर्व अपने राजनीतिक गुरु गोपाल कृष्ण गोखले के निर्देश पर संपूर्ण भारत का भ्रमण किया और देखा की हिंदी ही एकमात्र ऐसी भाषा है जो पूरे देश को एक सूत्र मे बांध सकती है, इसी वजह से उन्होंने हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने की बात कही थी। महात्मा गांधी का कथन है कि- 'मेरी मातृभाषा में कितनी भी कमी क्यों ना हो, मैं उसे उसी तरह लिपटा रहूंगा, जिस तरह अपनी मां की छाती से। वही मुझे जीवनदायी दूध दे सकती है। मैं अंग्रेजी को भी उसकी जगह पर प्यार करता हूँ लेकिन अगर अंग्रेजी उस जगह को हड़पना चाहती है जिसकी वह हकदार नहीं है तो, मैं उससे सख्त नफरत करूँगा। यह बात मानी हुई है, कि अंग्रेजी आज सारी दुनिया की भाषा बन गई है, इसलिए मैं उसे दूसरी जबान के तौर पर जगह दूँगा। लेकिन विश्वविद्यालय की पाठ्यक्रम में, स्कूलों में नहीं। वह कुछ लोगों की के सीखने की वस्तु हो सकती है, लाखों, करोड़ों की नहीं। आज जब हमारे पास प्राथमिक शिक्षा को भी मुल्क में लाजमी बनाने के जरिए नहीं है तो हम अंग्रेजी सिखाने के जरिए कहां से जुटा सकते है? रुस ने बिना अंग्रेजी के विज्ञान में इतनी प्रगति कर ली है कि, आज अपनी मानसिक गुलामी की वजह से ही हम यह मानने लगे हैं कि,अंग्रेजी के बिना हमारा काम नहीं चल सकता।मैं इस चीज को नहीं मानता हूँ।'[1]

महात्मा गांधी का मानना था कि,अंग्रेजी वाणिज्य एवं कूटनीति की भाषा हो सकती थी' परंतु वह भारतीय भाषाओं का स्थान ले, यह उन्हें मंजूर नहीं था। उनका मानना था कि,राष्ट्रीय आत्म सम्मान की रक्षा के लिए अंग्रेजी का प्रभुत्व समाप्त होना चाहिए।जिस प्रकार ब्रिटेन में यूरोपीय लोग लैटिन वा यूनानी सीखते हैं। वैसे ही वे भी भारतीय भाषाएं सीखें। अपनी मातृभाषा की उपेक्षा कर विदेशी भाषा अंग्रेजी सीखने से समय और धन दोनों का नाश होता है। गांधी जी के अनुसार–'जिस देश ने इतने लंबे समय तक हमें गुलाम बनाकर रखा। हमारा शोषण किया,हमारी ऋषि व्यवस्था और उद्योग धंधों को चौपट कर दिया, हमारी सभ्यता एवं संस्कृति पर हावी हो गए,उनका व्यवहार कर हमारा राष्ट्रीय चरित नष्ट होता है''[2] गांधी जी ने अपनी आत्मकथा सत्य के प्रयोग में अंग्रेजी माध्यम द्वारा अध्ययन में होने वाली परेशानियों का वर्णन करते लिखा है कि, 'कक्षा चौथी में जब उनकी शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो गया तो काफी कठिनाई का अनुभव होने लगा''[3] यद्यपि अंग्रेजी के समर्थन में यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि,यह विश्व व्यापी भाषा है। परंतु यह विश्वव्यापी इसलिए है क्योंकि,अंग्रेजी साम्राज्य विश्व व्यापी था। यह धारणा गलत है कि,अंग्रेजी समृद्ध भाषा है और हिंदी व प्रांतीय भाषाएँ दरिद्र हैं' गांधी जी का मानना था कि,भारतीय जनमानस की असली भाषा राष्ट्रभाषा हिंदी है।राष्ट्रीय एकता के लिए उन्होंने हिंदी को सबसे सही माना और इसे राष्ट्रीय व्यवहार में

लाना देश की उन्नति के लिए अति आवश्यक है'

महात्मा गांधी ने हिंद स्वराज में राष्ट्रभाषा हिंदी की समस्या पर लिखा था कि, 'प्रत्येक पढ़े-लिखे हिंदुस्तानी को अपनी भाषा हिंदी व संस्कृत, मुसलमान को अरबी व फारसी एवं पारसी को पर्शियन के साथ-साथ सबको हिंदी का भी ज्ञान होना चाहिए ''[4] गांधी जी का विचार था कि,हिंदी और उर्दू अलग नहीं है, उनमें समानता है। जबकि ऐसी दलील दी जाती थी कि,हिंदी व उर्दू अलग भाषाएं हैं जो कि सही नहीं है। वह हिन्दुस्तानी जुबान के पक्षधर थे। महात्मा गांधी राष्ट्रभाषा हिंदी को स्वराज प्राप्ति का एक साधन मानते थे। उनका कहना था कि - 'मेरे विचार में स्वराज प्राप्ति की गति में तीव्रता लाने के लिएस्वदेशी, हिंदू- मुस्लिम एकता तथा राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी का प्रचार आवश्यक है''[5]

गांधी जी का मानना था कि, भारतीय जनता की असली राष्ट्रभाषा हिंदी है।राष्ट्रीय एकता के लिए उन्होंने हिंदी को सबसे उपयुक्त माना। ब्रिटेन एवं दूसरे देशों में जहां शिक्षा मातृभाषा में दी जाती है,वहां विद्यार्थी स्कूलों में जो कुछ पढ़ते हैं वह घर आकर अपने माता-पिता को सुनाते हैं और घर के नौकर व दूसरे लोगों को वह मालूम पड़ जाता है। इस प्रकार जो शिक्षा बच्चों को स्कूलों में मिलती है उसका लाभ अन्य लोगों को मिल जाता है। हम लोगों को तो स्कूल, कॉलेज में जो ज्ञान मिलता है, उसे वहीं पर छोड़ आते हैं। उन्होंने अहिंदी भाषी प्रांतों के लोगों को हिंदी सीखने का परामर्श दिया। अगस्त 1942 को काशी हिंदू विश्वविद्यालय में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने दीक्षांत समारोह में जो विचार व्यक्त किया वह आज भी प्रासंगिक है। उनका कहना था कि, 'अंग्रेजों को हम गालियां देते हैं कि,उन्होंने हिंदुस्तान को गुलाम बना रखा है लेकिन,अंग्रेजी के तो हम खुद ही गुलाम बन गए हैं ''[6]

1915 ई. में दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटने पर महात्मा गांधी ने पाया कि,हिंदी के विरोध में अंग्रेजी सरकार,कांग्रेस की अधिकतर नेता व अंग्रेजी राज चलाने वाली नौकरशाही खड़ी थी। गांधी जी ने इस सब का सामना किया। उन्होंने दक्षिण के चारों पांचों तमिलनाडु,आंध्र प्रदेश,केरल व कर्नाटक को हिंदी की अनुकूल बनाया। बाद में बचे प्रांत असम, बंगाल, उड़ीसा,महाराष्ट्र,गुजरात एवं सिंधी में हिंदी का प्रचार कराकर यहां के लोगों को हिंदी के अनुकूल बनाया। उन्होंने अनेक प्रभावशाली नेताओं को हिंदी के पक्ष में किया जो कि आसान कार्य नहीं था''[7] महात्मा गांधी ने हिंदी को राष्ट्रभाषा का गौरव प्रदान करने की जो कोशिश किया, उनका उद्देश्य था कि, 'प्रत्येक पाठशाला में हिंदी का उपयोग बढ़ाना,पारिभाषिक शब्दों पर शोध, विदेशी भाषा का उपयोग,राजनीति आदि में नहीं हो,इस बात का ध्यान रखना,जहां पर हिंदी अध्यापक की जरूरत हो वहां सहायता देना तथा बिना कोई शुल्क लिए हिंदी शिक्षक स्वयं सेवक तैयार करना था।'[8] गांधी जी के अथक परिश्रम के कारण मद्रास में 'हिंदी प्रचार सभा' की स्थापना की गई। हिंदी साहित्य सम्मेलन के मद्रास अधिवेशन में एक प्रस्ताव द्वारा कांग्रेस की महासभा एवं कार्यकारी महाशक्ति ने हिंदी में समस्त कार्यवाही का प्रस्ताव पारित किया। इस अवसर पर गांधी जी का भाषण प्रसिद्ध है जिन्होंने जिसमें उन्होंने कहा था कि, अंग्रेजों ने यदि अंग्रेजी के स्थान पर प्रांतीय भाषाओं या हिंदी को महत्वपूर्ण स्थान दिया होता तो आज

प्रांतीय भाषाएँ आश्चर्यजनक रूप से समृद्ध होती। मै भाषा पर इतना जोर इसलिए देता हूँ क्योंकि राष्ट्रीय एकता प्राप्ति का यह सबसे मुख्य साधन है एवं इसका आधार जितना दृढ़ होगा, उतनी ही प्रशस्त हमारी एकता होगी '

गांधी जी राष्ट्रभाषा का प्रयोग नहीं करना राष्ट्रभाषा का अपमान समझते थे। उन्होंने कहा था कि - देश सेवा करने के लिए उत्सुक सब है परंतु राष्ट्रसेवा तब तक संभव नहीं है जब तक कोई राष्ट्रभाषा न हो ' गांधी जी के दो मूलभूत सिद्धांत थे-कटाई एवं हिंदी सीखना। उन्होंने कहा कि,अगर मुझे अकेले छोड़ दिया जाए तो आप मुझे अपनी शक्ति भर सूत काटने एवं दत्तचित्त होकर हिंदुस्तान की पुस्तकों को पढ़ते हुए ही पाएंगे। उनका मानना था कि,विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा पाने से दिमाग पर अत्यधिक बोझ पड़ता है यह बोझ हमारे बच्चे उठा तो सकते हैं लेकिन उसकी कीमत उन्हें चुकानी पड़ती है। वे दूसरा बोझ उठाने के लायक नहीं रह जाते है इससे हमारे अधिकतर स्नातक निकम्मे, कमजोर, निरुतशाही एवं नकलची बन जाते हैं, उनमें वीरता,निर्भयता एवं अन्य गुण बहुत छीण हो जाते हैं। इससे हम नई योजनाएं नहीं बना सकते और यदि बनाते भी है तो उन्हें पूरा नहीं कर पाते। कुछ लोग जिनमें उपर्युक्त गुण दिखाई देते हैं, वे अकाल ही काल के गाल में चले जाते हैं। हम वैज्ञानिक जगदीश चंद्र बसु और तो प्रफुल्ल चंद्रराय जैसे देशभक्त को देखकर उत्तेजित हो जाते हैं। मुझे विश्वास है कि, हमने 5 वर्ष तक मातृभाषा द्वारा शिक्षा पाई होती तो इसमें इतने बसु एवं राय होते कि, उन्हें देखकर हमें अचंभा होता है। यदि हम यह विचार एक तरफ रख दे कि, जापान का उत्साह जिस ओर जा रहा है,वह ठीक है या नहीं,तो हमें जापान का साहस आशाजनक मालूम होगा। उन्होंने मातृभाषा द्वारा जन-जागृत की है। इसलिए उनके प्रत्येक कार्य में नयापन दिखाई देता है,वे शिक्षकों के भी शिक्षक बन गए हैं' महात्मा गांधी ने हिंदी के साहित्य सम्मेलन,कांग्रेस सम्मेलन के भाषाओ व पत्र -पत्रिकाओं में लेखों के माध्यम से एक भाषा हिंदी और एक लिपि देवनागरी की खुलकर वकालत की थी।

उन्होंने एक भाषा,एक लिपि के लिए विभिन्न तर्क और उदाहरण भी प्रस्तुत कर भारतीय साहित्य परिषद व कांग्रेस के सामने कार्य योजना भी प्रस्तुत किया ' भारत को अगर एक राष्ट्र होने का दावा सिद्ध करना है तो हमारी अनेक बातें भी एक जैसी होनी चाहिए। इस बात पर सहमति है कि,यह माध्यम हिंदुस्तानी ही होना चाहिए। जो हिंदी या उर्दू के मेल से बने और जिसमें ना तो संस्कृत की और ना ही फारसी की भरमार हों। हमारे रास्ते की सबसे बड़ी रुकावट हमारी देशी भाषाओं की लिपियां है। यदि एक सामान्य लिपि बनाना संभव हो तो एक सामान्य भाषा का,हमारा जो सपना है उसे पूरा करने के मार्ग की एक बड़ी बाँधा दूर हो जाएगी ' गांधी जी हिंदी भाषा एवं देवनागरी लिपि को स्वतंत्रता आंदोलन का एक सशक्त माध्यम मानते थे। वे इस बात को स्वीकार करते थे कि, राष्ट्रभाषा राष्ट्रीय एकता की कड़ी एवं सांस्कृतिक,सामाजिक व सार्वभौम जीवन मूल्यों की आध्यात्मिक शक्ति है। गांधी जी ने जीवन भर हिंदी को रास्ट्रभाषा के रूप में सम्मान दिलाने का प्रयास किया था। उन्हीं के प्रयासों के फलस्वरूप जब भारत गुलामी की जंजीरों से मुक्त हुआ तब संविधान सभा में अनुच्छेद 343 के अंतर्गत 14 सितंबर 1949 ई को हिंदी को संघ की राजभाषा एवं राजलिपि देवनागरी स्वीकृत की

गई।

सन्दर्भ :

1 गाँधी, महात्मा, हरिजन सेवक,अहमदाबाद, 25 अगस्त 1947, पृ. 221
2 संपूर्ण गाँधी वॉडमय, खण्ड-39, नवजीवन ट्रस्ट अहमदाबाद, 1960, पृ. 394
3 गाँधी, महात्मा, सत्य के प्रयोग,नवजीवन प्रकाशन मन्दिर अहमदाबाद, 2008, पृ. 14
4 गाँधी, महात्मा, हिंद स्वराज, शिक्षा भारती, दिल्ली, 2020, पृ. 69
5 उपर्युक्त, पृ. 69-70
6 शर्मा, रमेश,महात्मा गाँधी के विचार आज भी प्रासंगिक हैं, पृ. 185
7 कालेलकर, काका , गाँधी हिंदी दर्शन, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, पृ. 300
8. गाँधी, मोहनदास करमचंद, हिंदी नवजीवन, अहमदाबाद,26 दिसंबर 1939

असि. प्रोफेसर इतिहास
राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय,

समाज सुधार और आधुनिकीकरण

- संदीप सामंत सिंह

स्वतंत्रता आंदोलन की बहुआयामी संरचनाओं को समझने के लिए पुनर्जागरण और भारतीय आधुनिकीकरण को गति देने वाले समाज सुधारकों, आंदोलनकारियों और क्रांतिकारियों के उद्देश्यों और लक्ष्यों को समझना बेहद आवश्यक है क्योंकि स्वतंत्रता आंदोलन के बीज इन्हीं परिवर्तनों के भीतर मौजूद हैं । भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की पूर्वपीठिका में पुनर्जागरण और आधुनिकीकरण की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका रही है। समाज सुधारकों ने जिस तरह से सामाजिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों और कुप्रथाओं के खिलाफ आंदोलन चलाएं उसका समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा। स्वतंत्रता आंदोलन को पुनर्जागरण कालीन सुधारों से एक नई शक्ति मिली। पुनर्जागरण आंदोलन के फलस्वरूप समाज में नई चेतना का सूत्रपात हुआ जिससे शिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय सुधार हुए।

गोविंद रानाडे ने सामाजिक सुधार और राजनीति के बीच अटूट सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए लिखा है कि, 'जब आप अपने को राजनीतिक अधिकारों की तुला पर कमजोर पाते हैं, तो आप सामाजिक व्यवस्था भी अच्छी नहीं बना सकते और जब तक आपकी सामाजिक व्यवस्था तर्क और न्याय पर आधारित नहीं है, तब तक आप राजनीतिक अधिकारों का उपयोग करने के योग्य भी नहीं हो सकते। यदि आपकी सामाजिक व्यवस्था अच्छी नहीं है, तो आप अच्छी आर्थिक व्यवस्था की स्थापना नहीं कर सकते। यदि आपके धार्मिक विचार निम्न स्तर के और तुच्छ हैं, तो आप सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में सफलता प्राप्त नहीं कर सकते।'[1] यह पारस्परिक निर्भरता आकस्मिक नहीं है। यह हमारी प्रकृति का नियम है। रानाडे ने स्त्री की दशा में सुधार के लिए कई महत्वपूर्ण प्रयास किए। उन्होंने मराठी लोगों को एकजुट करके सहिष्णुता के मार्ग पर ला खड़ा किया; मुसलमानों के साथ मेलजोल का रास्ता दिखाया और कुछ हद तक ऐसा मेलजोल कायम भी रहा। उन्होंने विदेशी प्रभुत्व की जगह एक देशी सत्ता को फिर से कायम करने के लिए इस तरह तैयार किया जैसा उस काल के किसी अन्य भारतीय प्रांत में नहीं दिखता है। यह धर्म एक साथ सहिष्णु और सुदृढ़ है, आध्यात्मिक है और किसी दूसरे की निंदा नहीं करता है। रानाडे के बारे में के.दामोदरन लिखते हैं कि, 'रानाडे के नेतृत्व में प्रार्थना समाज ने जाति प्रथा, बाल -विवाह, मूर्तिपूजा तथा हिन्दू समाज की अन्य कुरीतियों के विरुद्ध आन्दोलन में जीवंत भूमिका अदा की।'[2]

आधुनिकीकरण के पुरोधा के रूप में भारतीय समाज के आधुनिकीकरण को नेतृत्व देने वालों की पंक्ति में राजा राममोहन राय अग्रणी थे। अरबी, फारसी और संस्कृत के इस विद्वान ने हिंदू धर्म, इस्लाम, ईसाइयत और उदारतावादी विचारों को संश्लेषित करने का प्रयास किया। पहले वे सूफी मत से प्रभावित हुए और फिर ईसाइयत से। राम मोहनराय की मान्यता थी कि स्वशासन हासिल करने के लिए भारतीय समाज का नवीनीकरण करना होगा। उन्नीसवीं शताब्दी के सामंतविरोधी, उपनिवेश विरोधी आन्दोलन की अपनी

सीमाएं थीं। इन सीमओं के बीच राजा राममोहन राय ने बहुदेववादी कर्मकांडों के विरोध में अपनी बातें रखीं और समाज को बदलने के प्रयत्न किया - 'उन्होंने एक ही ईश्वर और मानवीय मूल्यों की स्वीकृति पर आधारित एक विश्व धर्म की कल्पना की। उन्होंने जनता का आ'ान किया कि मूर्तिपूजा और बहुदेववादी कर्मकांडों को त्याग दे...उन्होंने पश्चिमी विज्ञान द्वारा सृजित नए मूल्यों को आत्मसात करने और उन्हें भारत के परम्परगत मूल्यों से सम्मिश्रित करने का प्रयत्न किया ताकि नए युग की चुनौती का सामना किया जा सके।'[3]

नवीनीकरण को बल देने वाले अन्य सुधारक नेताओं में ईश्वर चंद्र विद्यासागर से लेकर श्रीनिवास आयंगार जैसे उदारतावादी भी शामिल थे। आगे चलकर महान उदारतावादी गोपाल कृष्ण गोखले ने सर्वेंट ऑव इंडिया सोसाइटी की स्थापना की। गोखले ने ही कांग्रेस के नरमदली धड़े का नेतृत्व किया। लेकिन, गोखले खुद सुधारवादी न होकर राजनीति के माध्यम को उचित मानते थे। ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने विधवा विवाह के समर्थन और बालविवाह के विरोध में जो काम किया, वह स्त्रियों के जीवन में मील का पत्थर साबित हुआ।विद्यासागर के द्वारा चलाये गये आंदोलन की वैचारिक भूमिका बनाने के लिये तारानाथ तर्कवाचस्पति जिम्मेदार थे, ईश्वरचंद्र विद्यासागर को उनके मत की पुष्टि के लिये धर्मशास्त्रों से उद्धरण तर्कवाचस्पति देते थे। आनंदराम बरुवा, बाल गंगाधर तिलक, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, त्र्यम्बक भण्डारकर, परशुराम नारायण अप्पासाहेब पाटणकर आदि संस्कृत के मनीषी इस पुनर्जागरण तथा स्वतन्त्रता संग्राम के पुरोधा बने। भारतीय पुनर्जागरण आंदोलन में दयानंद सरस्वती के योगदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता। आर्य समाज के संस्थापक दयानन्द सरस्वती का दृष्टिकोण राजा राममोहन राय और रानाडे जैसे आधुनिक सुधारकों के दृष्टिकोण से मूलतः भिन्न था। उन्होंने भी राष्ट्रीय एकता के लिए आवाज उठायी, किन्तु राष्ट्रीय एकता की उनकी अवधारणा सभी भारतवासियों द्वारा वेदों की सत्ता और हिन्दू धर्म को स्वीकार करने पर आधारित थी।

जब हम भारतीय आधुनिकीकरण की बात करते हैं तब सर सैयद अहमद खान को कैसे भुला सकते हैं। सर सैयद अहमद खां ने पश्चिम को नयी सभ्यता के आधार पर मुसलमानों को शिक्षित करने का कार्य अपने सामने रखा- अनेकानेक लेखों और भाषणों के माध्यम से उन्होंने मुसलमानों में फैले रूढ़िवाद, धार्मिक चमत्कारों में उनके विश्वास, दैवी सत्ता तथा अन्य अंधविश्वासों की भर्त्सना की। वह कहते थे कि कोई भी धर्म जो सच्चा है, या सच्चा होने का दावा करता है, अपने में ऐसे तत्वों का समावेश नहीं कर सकता, जो प्रकृति के विपरीत हैं और मानव सूझ-बूझ को इस तरह झुठलाते हैं कि किसी भी समझदार आदमी के लिए उनमें विश्वास करना असम्भव होगा - 'अहमद खां ने आगे बढ़कर मुसलमानों को रूढ़िवाद और पुनुरुत्थानवाद से मुक्त करने का प्रयत्न किया और उन्हें सामाजिक सुधार के मार्ग पर अग्रसर किया।'[4] कोई भी सच्चा धर्म अपने प्राचीन शुद्ध रूप में ऐसे अलौकिक और अतार्किक तत्वों से पूर्णतः मुक्त होता है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के गठन के साथ समाज सुधारो और आधुनिकीकरण को एक नई दिशा मिली। कांग्रेस ने तकरीबन साठ साल तक आजादी की लड़ाई का नेतृत्व

किया। कांग्रेस का गठन और विकास उन्नीसवीं सदी में चली समाज सुधार की मुहिमों, उसके बाद हुए बेमिसाल बौद्धिक और सामाजिक पुनर्जागरण के साथ-साथ प्रशासन, शिक्षा, कानून और संचार के क्षेत्रों में हुई प्रगति का नतीजा था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में हुए सामाजिक-राजनीतिक पुनर्जागरण की विशेषता थी कि इनके कारण संगठन के प्रति निष्ठा, नेताओं के प्रति व्यक्तिगत निष्ठा, कार्यक्रम के प्रति निष्ठा और विचारधारा के प्रति निष्ठा में आपसी तालमेल हो गया।

सुधार आंदोलनों ने सामाजिक जागरण की दिशा में महत्वपूर्ण काम किया साथ ही भारतीय समाज में फैली दीर्घकालीन जड़ता को तोड़ने में मदद की; लेकिन ध्यान रहे कि कोई भी परिवर्तन तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था को बदले बिना संभव नहीं था। इस सन्दर्भ मे प्रख्यात समाजशास्त्री सच्चिदानंद सिन्हा की टिप्पणी रेखांकित की जानी चाहिए कि, 'कोई भी बड़ा परिवर्तन राज्य व्यवस्था के वर्तमान ढाँचे के भीतर संभव नहीं।' 5 अनुसार सुधार आंदोलन की शायद सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि इसने जागरण का संदेश एक ऐसे समय पर दिया जब देश गुलामी की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था और समस्त जन-जीवन अंधविश्वास, रूढ़िवादिता एवं अज्ञान के अंधकार में भटक रहा था।

सन्दर्भ :

1. शर्मा रामविलास,परम्परा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन,दिल्ली,2000, पृ.-19
2. दामोदरन के.,भारतीय चिंतन परम्परा,पीपीएच, दिल्ली,चौथा संस्करण,2001,पृष्ठ-382
3. उपर्युक्त,पृष्ठ,363
4. उपर्युक्त,पृष्ठ-401
5. सिन्हा,सच्चिदानंद,संस्कृति और समाजवाद,वाणी प्रकाशन,दिल्ली,2004,पृष्ठ-118

असिस्टेंट प्रोफेसर समाजशास्त्र
राजकीय महिला स्नतकोत्तर महाविद्यालय,बाँदा

स्वातंत्र्योत्तर मराठी कविता

- प्रो. विजयकुमार रोडे

भारत देश की साहित्यिक तथा सांस्कृतिक विविधता को यदि परिपूर्णता के साथ समझना हो तो उसकी भाषायी भिन्नता को समझना बहुत आवश्यक है। भारत में जितनी अधिक प्रादेशिक भिन्नता है उतनी ही भाषायी भिन्नता भी हमें प्राप्त होती है। इन्हीं भाषायी भिन्नता ने उन-उन प्रादेशिकता को साहित्य और सांस्कृतिक परंपरा के द्वारा बनाए रखने का प्रयास किया है।

भारत में अन्य भाषाओं की तरह मराठी भाषा की भी अपनी प्राचीनता तथा उसका इतिहास रहा है। यह भाषा बोलचाल और साहित्यिक दृष्टि से आरंभ से ही समृद्ध रही है। इसकी लिपि देवनागरी होने के कारण यह हिंदी भाषा के बहुत-ही करीब मानी जाती है। देश के अन्य अहिंदी भाषिक राज्यों की तुलना में महाराष्ट्र के लोग मराठी के साथ-साथ हिंदी का भी प्रयोग बोलचाल के लिए करते हैं। इसलिए हिंदी साहित्य के विकास में मराठी साहित्यिकों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। स्वातंत्र्योत्तर मराठी कविता को समझने के पूर्व उसकी व्युत्पत्ति और प्राचीनता को समझेंगे।

मराठी भाषा की प्राचीनता के इतिहासकारों को कई प्रमाण मिले हैं। 'इस भाषा का सबसे पहला लिखित रूप चिकुर्डे ग्राम (जि. सातारा) में 736 ईस्वी का विजयादिस का ताम्रपट मिला है।'[1] इसी प्रकार प्राप्त दस्तावेजों के आधार पर यह कहा जाता है कि 'ग्यारहवीं शती के उत्तरार्ध में यशश्चंद्र नामक जैन पंडित के 'राजमती प्रबोध' नाटक में मराठी है। बारहवीं शती में 'विवेकसिंधू' जैसे वेदांत के ग्रंथ महाराष्ट्री में लिखे गए। 1290 में होयसल वंश के राजाओं ने मैसूर राज्य में द्रविड भाषाओं के साथ-साथ मराठी पढ़ायी थी ऐसा उल्लेख है। बारह सौ अठहत्तर में महानुभावों के 'लीला चरित्र' जैसे ग्रंथ मिलते हैं। तेरहवीं शती में तो 'ज्ञानेश्वरी' जैसा प्रौढ संस्कृतमय ग्रंथ रचा गया।'[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि मराठी भाषा की प्राचीनता और उसमें साहित्य का सृजनारंभ बहुत ही परिपक्वता के साथ पाया जाता है। मराठी का लेखन देवनागरी और मोडी लिपि में भी होता रहा है। अब मोडी लिपि बहुत ही कम प्रचलित है।

मराठी भाषा की व्युत्पत्ति को लेकर भी विभिन्न मत प्रचलित है। 'महाराष्ट्र की भाषा मराठी की उत्पत्ति के विषय में अनेक मत है। यह मान्यता है कि वैदिक भाषा और संस्कृत से मथुरामंडल, मगध बाल्हीक और महाराष्ट्र में क्रमशः शौरसेनी, मागधी, पैशाची और महाराष्ट्री प्राकृतें विकसिक हुई। इन प्राकृतों का भी विकास अपभ्रंशों के रूप में हुआ। महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी का उद्भव हुआ।'[3] इसी प्रकार 'एक दूसरी मान्यता यह भी है कि इसकी उत्पत्ति संस्कृत से हुई है क्योंकि मराठी में संस्कृत के शब्दों की भरमार है, किंतु मराठी भाषा सीधे संस्कृत से नहीं निकली। संस्कृत के बाद पाली, महाराष्ट्री प्राकृत, महाराष्ट्री अपभ्रंश इस क्रम से मराठी बसी।'[4] जिस प्रकार मराठी की उत्पत्ति और प्राचीनता को इतिहासकारों ने प्रमाणबद्ध कर उसके गौरव को संवर्धित कर रखने का प्रयास किया। उसी प्रकार मराठी के मध्ययुगीन संत कवियों ने भी अपने काव्य के माध्यम से उसे और अधिक परिष्कृत और सौंदर्यपूर्ण बनाया।

मराठी काव्य साहित्य की नींव को प्रशस्त करने का कार्य मध्ययुगीन कवियों ने किया

इनमें कवि मुकुंदराज (विवके सिंधू) तथा ज्ञानेश्वर (भावार्थ दीपिका) का उल्लेख महत्वपूर्ण हो जाता है। इसी युग में अन्य संत कवियों में प्रमुख रूप से संत नामदेव, एकनाथ, तुकाराम हैं। जिन्होंने भागवत संप्रदाय के माध्यम से भक्ति और काव्य को सृजित और प्रसारित करने का प्रयास किया। इन्हीं के समकालीन अन्य पिछडे वर्ग के कवियों में चोखामेला, गोरा कुंभार, सावता माली, जन्हाबाई, कान्होपात्रा का कार्य महत्वपूर्ण रहा है। 'मराठी काव्य-प्रवाह का क्षेत्र बहुत ही विशाल, व्यापक और समृद्ध माना जाता है। लगभग आठ शताब्दियों की परंपरा इस काव्यप्रवाह की रही है। यह काव्यक्षेत्र दार्शनिक परंपरा, कालजयी महाकाव्यों के संस्कार, लौकिक-अलौकिक जीवन के रसाविष्कार, कई चिंतकों का चिंतन कवि श्रेष्ठता का प्रतिभा, वैभव, लोकसंस्कृति का संचित सार, विभिन्न अभिव्यक्तियों के प्रकार तथा मौलिक साहित्यसृष्टि इन सभी विशेषताओं की संक्रमण प्रक्रिया में मराठी काव्य समृद्ध हुआ है।'[5]

प्राचीन मध्ययुगीन मराठी काव्य का समग्र रूप में अवलोकन यदि करें तो पाएंगे कि इस अवधि में मराठी कविता मुख्य रूप से तीन वर्गों में विभाजित होकर प्रवाहित होती नजर आती है। एक वह वर्ग जिसका हमने उपर उल्लेख किया है- भक्ति या संत साहित्य दूसरा वर्ग पांडित्य पूर्ण काव्य लेखन का रहा है। इस वर्ग के कवियों ने प्रमुख रूप से संस्कृत के महाकाव्य, आख्यायीकाएं और पौराणिक काव्यों को कृत्रिम रचनाबंधों के साथ अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। इन पंडित कवियों के द्वारा शब्दालंकार, अथार्लंकार, श्लोक आदि का प्रयोग किया गया। इनकी भाषा संस्कृत निष्ठ मराठी रही है। प्रमुख कवियों में मुक्तेश्वर, वामन पंडित, रघुनाथ पंडित, सामराज, श्रीधर, मोरोपंत आदि रहे हैं। इस युग के काव्य का तीसरा वर्ग शाहिरी काव्य का रहा है। इस प्रकार के काव्य के द्वारा कवि प्रादेशिक लोकजीवन, लोकपरंपरा, लोकरंजन, श्रृंगार, शौर्य आदि को उद्घाटित करता है। प्रमुख शाहिर या कवि राम जोशी, अनंतफंदी, सगनभाऊ, प्रभाकर, होनाजी बाला, परशराम आदि रहे है। इस काव्य प्रकार के बारे में मराठी चिंतक म. ना. अदवंत ने कहा है- 'मराठों का शौर्य तथा श्रृंगार, सामाजिक रिवाज एवं राजनीतिक गतिविधियों का प्रामाणिक चित्रण शाहिरी काव्य है।'[6]

अतः यह कहा जा सकता है कि प्राचीन मध्ययुगीन मराठी काव्य साहित्य में प्रमुख तीन जो प्रवाह या परंपराएं प्राप्त होती है, इन्हीं परंपराओं का निर्वाह हमें आधुनिक काल तक दिखायी देता है। आगे उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में ब्रिटिश सत्ता का आरंभ होने पर हमें भारतीय राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक क्षेत्र में बहुत बड़ा परिवर्तन दिखायी देता है। भारत में ब्रिटिशों की सत्ता आने से भारतीय समाज में नव विचार, नव मूल्य, नव शिक्षा आदि का स्वीकार होने लगा। महाराष्ट्र का जड़ सनातन समाज अब परिवर्तन की आहट सुनने लगा। जाहिर है इस बदलाव के आधुनिक मराठी कवियों ने अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति का दायरा बढाया। यह मराठी कवि नव संकल्पनाओं के साथ काव्यसृजन करने लगा। जो मराठी काव्य एक विशिष्ट चौखट में आविष्कृत होता था अब वह स्वच्छंदतावाद, मानवतावाद, प्रकृति, समाज, प्रेमभाव, परिवार स्त्रीसंवेदना मानव जीवन का अस्तित्व आदि विषयों के बारे में नयी पद्धति से आविष्कृत हो रहा था। स्वतंत्रता आंदोलन में मराठी कविता ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। विशेष तौर

पर 'रविकिरणमंडल' ने। मराठी नवकविता का आरंभ स्वतंत्रतापूर्व काल में ही हुआ था। परंतु इस मराठी नवकविता का चरमोत्कर्ष हमें 'स्वातंत्र्योत्तर मराठी कविता' में स्पष्ट रूप से दिखायी देता है।

स्वातंत्र्योत्तर मराठी नव कविता को प्रेरित और प्रभावित करनेवाली मुख्य तीन घटनाओं का उल्लेख करना आवश्यक होगा। स्वतंत्रतापूर्व काल में सन 1936-1939 के दरमियान घटित द्वितीय विश्व महायुद्ध। इस युद्ध ने भारतीय जनमानस में स्थित विश्वमांगल्य की या 'वसुधैव कुटुंबकम' की भावना को खंडित कर दिया। भारतीय समाज इस घटना के कारण घोर निराशा की गर्त में चला गया। दूसरी महत्वपूर्ण घटना स्वतंत्रता के पश्चात् सन 1948 में हुई महात्मा गांधी की हत्या। जिस महात्मा ने सत्य और अहिंसा के बलबूते इस देश को आजादी दिलायी और भारतीय ही नहीं बल्कि विश्व मानव समुदाय को सत्य और अहिंसा का महत्व और उसकी प्रासंगिकता को स्थापित करायी ऐसे व्यक्ति की निर्ममता के साथ हत्या ने भारतीय जनमानस गहरे प्रभावित हुआ। भारतीय व्यवस्था में तीसरी बड़ी घटना डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर द्वारा सन 1956 में हिंदू धर्म को त्यागकर बौद्ध धर्म को स्वीकार करना।

उपरी तीनों घटनाओं ने भारतीय समाज और साहित्य को वैचारिक घरातल पर व्यापक रूप में प्रभावित किया। परिणाम यह हुआ कि सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और साहित्यिक क्षेत्र में परिवर्तन आ गया साहित्य लेखन में नव प्रवाह उदित हुए। अनगिनत नव रचनाकार नव अनुभवों के साथ साहित्य में अपने भावविचारों को व्यक्त करने लगे।

स्वतंत्रतापूर्व काल में बा. सी. मर्ढेकर, अनिल तथा रविकिरण मंडल के कवियों ने मराठी नयी कविता का मार्ग प्रशस्त किया था। परंतु स्वातंत्र्योत्तर काल में विषय एवं अभिव्यक्ति की व्यापकता को लेकर जिन कवियों ने अपनी रचनाधर्मिता का दायित्व निभाया वे कवि हैं- विं. दा. करंदीकर, वसंत बापट, कुसुमाग्रज, मंगेश पाडगांवकर, सुरेश भट, शिरीष पै, शांता शेळके, इंदिरा संत, सदानंद रेगे, दिलिप चित्रे, अरूण कोलटकर आदि। इन समग्र कवियों ने स्वातंत्र्योत्तर काल में बदलते हुए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवेश को अपने काव्य में उतारने का प्रयास किया। इसी के साथ-साथ स्वतंत्रतापूर्व तथा पश्चात के भारतीय जन मानस की आशा-आकांक्षा, उसकी मोहभंग की स्थितियाँ, मनुष्य का अस्तित्व इन महत्वपूर्ण मुद्दों पर मराठी कविता लिखि जाने लगी थी। 'महाराष्ट्र में अति भावुकता के प्रति संदेह की भावना शुरू से ही रही है और उस व्यंग्य परिहास की कटुता ने यथार्थवाद के नए बोध के साथ मिलकर मराठी कविता में एक क्रांति-सी पैदा कर दी।'[7] ' इसी प्रकार स्वातंत्र्योत्तर प्रथम दशक के कवि और उनकी कविताओं के बारे में समीक्षक वसंत पाटणकर कहते हैं- 'काव्य-परिकल्पना विस्तृत करने तथा उसे अलग परिभाषा देने का एक मार्ग है बोध और अस्तित्व से जुड़े नए-नए रूपों को साकार करना। इस चरण के कुछ व्यष्टिपरक कवियों ने मानव-अस्तित्व का नया बोध व्यक्त करने का प्रयास किया।'[8]

सन् 1945 से 1960 इस अवधि में मराठी कविता में तीन काव्य प्रवाह दिखायी देते हैं। व्यक्ति केंद्रित काव्य प्रवाहों में इस दशक की मराठी कविता विकसित होती पायी

जाती है। 'आधुनिकतावादी आकलन से मराठी कविता के स्वरूप में अमूल परिवर्तन आया है। मानवीय जीवन को ईश्वर या बुद्धि ऐसा कोई केंद्र ही नहीं, सभी केंद्र खत्म हो गए हैं, और इसलिए उसका अस्तित्व असंबंद्ध, निरर्थक, तथा अविश्वसनीय बन गया है। यह अहसास आधुनिकतावाद का बिंदु है।'[9]

स्वतंत्रता के तुरंत बाद देश में सामाजिक क्षेत्र में तेजी से बदलाव की स्थिति आ जाती है। देश का बुद्धिजिवी युवावर्ग जीवन और अपने आस-पास की दुनिया की ओर नए दृष्टिकोण से देखने लगता है। इस दिशा में सुश्री कुसुमावती देशपांडे कहती है- 'आज की कविता वस्तुतः बहुरूपा और बहु-विषया है। नवयुवक कवियों की एक पीढी उत्पन्न हो गयी है। जो परिपूर्ण स्वच्छंदतावाद और संतुलित यथार्थवाद का अद्भूत समन्वय कर रही है। उसमें सौंदर्य-प्रेम है पर साथ ही जीवन की कुरूपता को सहन करने का साहस भी है। उसमें व्यंग्य की कलात्मकता है और बालसुलभ विस्मय के भावों का भी चित्रण है। भौतिकता के गौरव को विश्वासपूर्वक स्थापित करने के लिए उसके पास पुष्ट दार्शनिक पृष्ठभूमि है। फिर वह भी अपनी व्यंजना संगीतमय और सुंदर शब्दों में करती है। वह जब निराशा से परिपूर्ण होती है तो सारे संसार में निर्जिव शवों और उन पर छाये हुए लोग और लालच भरे दृष्टिकोणों का वर्णन करती है। लेकिन उसमें उज्ज्वल भविष्य की आशा भी है जो शीघ्र ही आनेवाला है।'[10] कवि अनिल के काव्य की पंक्तियां देखी जा सकती है-

'समूचे दीप कैसे मंद हुए अभी
ज्योतियां बूझ-बूझ-सी गयी
झपटकर पंतगा प्राण दें
ऐसा तेज कहीं नहीं।'[11]

इसी प्रकार कवि कुसुमाग्रज की 'निर्विकार इस कविता की पंक्तियां-

'दुःख को नहीं आकार नहीं रंग, नहीं नाम
वह मेरा है।
परंतु मैं नहीं पहचानता उसे।'[12]

अतः हम देखते हैं कि इन कविताओं में आशा और निराशा के भाव हमें दिखायी देते हैं। 'इन कवियों ने साहित्यिक मूल्यों की स्थापना पर बल दिया। अनेक राजनैतिक और सामाजिक कृतियों की रचना हुई। अनेक संपादकों ने पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित की जिनके माध्यम से साहित्य का प्रकाशन हुआ।'[13] इस प्रकार सन 1945 से 1960 तक की मराठी कविता एक तरह से नव विचार, नव विषय, नव भाषा और नव अभिव्यक्ति की दृष्टि से महत्वपूर्ण साबित होती है।

साठोत्तरकाल के कवियों का लक्ष्य अपनी स्वतंत्र काव्य-परिकल्पना निर्माण करने तथा उसे विस्तार देने का रहा है। व्यक्ति मूलक यथार्थ का अन्वेषण करने वाली कविता इस काल में विशेष प्रभावशाली रही। साठोत्तरकाल में विभिन्न कवियों के द्वारा जो कविताएँ लिखी गयी, उनमें मुख्य रूप से आशयसूत्र थे- 'विभिन्न संदर्भों में मनुष्य का अकेलापन, उसके जीवन की विफलता और दुःख, मनुष्य को महसूस होती असुरक्षा, उसकी अनुभूत संवादहीनता, उसका आत्मान्वेषण, स्वत्वलोप और संज्ञाहीनता, उसके

जीवन के अंतिर्विरोध, मनुष्य की क्षुद्रता संभ्रमावस्था उसकी आत्मिक आध्यात्मिक स्थिति, मृत्यु, प्रेमभाव, आदि।'[14] इस काल के प्रमुख कवियों में प्रमुख रूप से विं. दा. करंदीकर, मंगेश पाडगांवकर, शांता शेळके, बा. भ. बोरकर, वसंत बापट, सुरेश भट, ग्रेस, ना. धो. महानोर, नारायण सुर्वे, अरूण कोलटकर अनुराधा पाटिल, मल्लिका अमरशेख, प्रभा गणोरकर, नामदेव ढसाळ, दया पवार, चंद्रकांत पाटिल, वसंत डहाके, भालचंद्र नेमाडे, फ. मु. शिंदे आदि है। '1960 के बाद की कविता बहिर्मुखता की वृत्ति छोड़कर अधिक अंतर्मुख होने लगी। अब कवि अपने अंतर्मन की गहरी खोज करने लगे। मनुष्य मन की गहराई अपरिमित है, इसी कारण अनुभूति का विशाल खजाना वहाँ उपलब्ध है। इसलिए कविता का असली क्षेत्र यही मन है- इस प्रकार के विचार व्यक्त किए जाने लगे। समाज, वातावरण राजनीति आदि को मन की अतल गहराई में ले जाकर वहाँ से प्रतिक्रियाएं व्यक्त की जाने लगी। एक ओर मर्ढेकर की यह परंपरा है, तो दूसरी ओर कविता को समाज-जीवन के साथ जोड़ दिया गया तथा व्यक्ति और समाज के संघर्ष को प्रस्थापित व्यवस्था की भयंकरता को, व्यक्त किया जाने लगा।'[15]

उपर इस बात का उल्लेख किया गया है कि साठोत्तर मराठी कविता में मुख्य रूप से व्यष्टिपरक काव्यधारा, समष्टिपरक काव्यधारा तथा सौंदर्यपरक काव्य धारा चल पड़ी। इसके अलावा भी महानगरीय बोध, दलित जीवन, ग्रामीण जीवन, स्त्री जीवन इन बिंदुओं को केंद्र में रखकर भी प्रचूर मात्रा में काव्य साहित्य लिखा गया। इस काल में समग्र मराठी कविता विषय और अभिव्यक्ति के धरातल पर विस्तिर्ण होती पायी जाती है।

व्यष्टिपरक काव्यधारा में कवियों ने अपने जीवन की आत्मकेंद्रितता को विभिन्न रूपों में व्यक्त किया तो समष्टिपरक काव्यधारा के कवियों ने भावबोध तथा अस्तित्वविषयक नूतन आयाम तथा जीवनविषयक नितांत अलग सोच व्यक्त करने का प्रयास किया। इस दिशा में नारायण सुर्वे की कविता सबसे महत्वपूर्ण मानी जाती है। उनकी 'घोषणा-पत्र' इस कविता का अंश-

'मैं देख रहा हूँ
मेरे अस्तित्व के उगे पंख
फौलादी नसों में बज रहे हैं पंख
मैं एक सत्य, पृथ्वी का एक सत्य
सबके लिए हम, यह भी एक सत्य।'

तुलसी परब की कविता भी समष्टिपरक दृष्टि से महानगरीय जीवन-यथार्थ का चित्रण करती है।

'इस काल में लिखी सौंदर्यपरक कविता ने भी काव्य परिकल्पना को नया परिमान देने का प्रयास किया है। इस काल में लिखी सौंदर्यपरक कविता पु. शि. रेगे की सौंदर्यपरक कविता के समान अभिजातवादी परंपरा की न होकर अधिकतर रोमांटिक परंपरा की है' सौंदर्यपरक कविता के प्रमुख कवि ना. धो. महानोर, बा. भ. बोरकर, ना. घ. देशपांडे, आरती प्रभु, तथा ग्रेस माने जाते हैं।

दलित काव्यधारा इस काल की एक अन्य महत्वपूर्ण काव्यधारा मानी जाती है। इस

काव्यधारा के कवियों में बाबुराव बागूल, दया पवार, नामदेव ढसाल, केशव मेश्राम, गंगाधर पानतावने, अर्जुन डांगले आदि रहे हैं। भारतीय असमान सामाजिक या जातिवादी समाज व्यवस्था की उपज 'दलित साहित्य' है। सदियों से जातिवाद का डंक सहती दलित जनता डॉ. बाबासाहब आंबेडकर के सहवास में आकर परंपरा के विरोध में साहित्य के मार्फत विद्रोह करती है। इस पर बाबूराव बागूल कहते हैं- 'सदाशिव पेठी लेखक और अपने सरीखे विद्रोही लेखकों में मूलभूत फर्क है। उनके साहित्य में वही बिंब, वही प्रतीक, एक रंग, रूप, ऊंचाई के नायक और नायिकाओं का पुनः पुनः खेल चल रहा है। जबकि हमने मराठी में नया जीवन लाया। नए नायक और विद्रोही नायिकाएं लाई। जीवन के दुःख, दरिद्रता, दीनता, लैंगिकता, आनंद सभी पक्षों को हमने न्याय दिया। गर्दन सीधी करके प्रश्न पूछनेवाली स्त्री, अण्णाभाऊ, मैं व मेरी जैसी जाति से आए हुए लोग ही मराठी में ले आए। नकार और विद्रोह जैसे पूज्यों को स्थापित करने के लिए हमें जोरदार संघर्ष करना पड़ा।'[16] 'दलित काव्यधारा में नामदेव ढसाल की कविता वैशिष्ट्यपूर्ण है। उन्होंने अपनी कविता में महानगरीय दलित यथार्थ और वहाँ प्रचलित बोलचाल की भाषा दोनों को महत्व दिया। मूलतः 1960 के बाद की कविता विभिन्न शोषित समाज समूहों की वेदना और विद्रोह से परिपूर्ण रही है। आंबेडकरवादी काव्य लेखन के साथ-साथ आदिवासी और स्त्रीवादी काव्य भी आविष्कृत हुआ। साठोत्तरी मराठी कविता को समृद्ध करने में स्त्री कविता का योगदान भी महत्वपूर्ण रहा है। विशुद्ध भावाविष्कार, संवेदनशीलता, सक्षमीकरण आदि विषयों को इन कवयित्रियों ने अभिव्यक्त किया। अनुराधा पाटील, मल्लिका अमरशेख, प्रज्ञा पवार, नीरजा, अनुपमा उजगरे इन कवयित्रियों का उल्लेख किया जा सकता है। साठोत्तरी मराठी कविता में आदिवासी कविता (भुजंग मेश्राम) तथा ग्रामीण कविता (विठ्ठल वाघ) सुरेश भट (गजल) आदि का जिक्र करना आवश्यक है। विट्ठल वाघ 'तिफन' इस कविता में कहते हैं-

'काया डेकलात डोया हिर्व सपन पहिते
डोया सपन पहिते काटा पायात रुतते
लाल रगत सांडते हिर्व सपन फुलते
हिर्व सपन फुलते ढग बरसते'

स्वातंत्र्योत्तर मराठी कविता को कम शब्दों में बाँधना बहुत कठिन है। परंतु यह कविता समृद्ध और विविधांगी है। 'हर अच्छी कविता और हर अच्छा कवि काव्यविषयक परिकल्पना बनाने और उसे विस्तार देने का प्रयास करता है। वैसे ही किसी काल में काव्यविषयक परिकल्पना बनाने और उसे विस्तार देने का प्रयास करता है। वैसे ही किसी काल में काव्यविषयक व्यापक संश्लिष्ट परिकल्पना बनायी जाती है। कविता की विशेष परंपरा और संस्कृति निर्माण की जाती है। काल-विशेष के कवि-वैशिष्ट्य, काव्य-परंपरा, व्यापक सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश तथा भाषिक परंपरा आदि विभिन्न घटकों के पारस्परिक संवाद से युगीन काव्य परिकल्पना रूपायित होती है।'[17] यही स्वातंत्र्योत्तर मराठी कविता की मूल पहचान है।

सन्दर्भ :

1. भारतीय भाषाओं के साहित्य का संक्षिप्त इतिहास- सं. डॉ. गोपाल वर्मा, पृ. 251
2. भारतीय भाषाओं के साहित्य का संक्षिप्त इतिहास- सं. डॉ. गोपाल वर्मा, पृ. 251
3. भारतीय साहित्य- डॉ. नगेंद्र, पृ. 244-245
4. भारतीय साहित्य- डॉ. रामछबीला त्रिपाठी, पृ. 197
5. स्वातंत्र्योत्तर मराठी कविता- सं. डॉ. शरयू तायवडे, पृ. 4
6. स्वातंत्र्योत्तर मराठी कविता- सं. डॉ. शरयू तायवडे, पृ. 5
7. भारतीय भाषाओं के साहित्य का संक्षिप्त इतिहास- डॉ. गोपाल वर्मा, पृ. 263
8. कसौटी/8 (पत्रिका)- सं. नंदकिशोर नवल, पृ. 41
9. स्वातंत्र्योत्तर मराठी कविता- सं. वसंत पाटणकर, पृ.1
10. भारतीय साहित्य- डॉ. नगेंद्र, पृ. 290
11. स्वातंत्र्योत्तर मराठी कविता- सं. वसंत पाटणकर, पृ. 1
12. स्वातंत्र्योत्तर मराठी कविता- सं. वसंत पाटणकर, पृ. 73
13. भारतीय साहित्य की अवधारणा- डॉ. राजेंद्र मिश्र, पृ. 113
14. कसौटी/8 (पत्रिका)- सं. नंदकिशोर नवल, पृ. 41
15. प्रादेशिक भाषा और साहित्येतिहास- डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे, पृ. 70
16. पहल (पत्रिका), अप्रैल-जून 1999, पृ. 75
17. कसौटी/8 (पत्रिका)- सं. नंदकिशोर नवल, पृ. 38

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिंदी विभाग,
सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे-411 007

आगामी अंक

शोध-समीक्षा अंक

जनवरी - मार्च २०२४

Reg. No. MAHHIN / 2008 / 26222

समीचीन

(साहित्य-समाज-संस्कृति और राजनीति के खुले मंच की अर्द्ध वार्षिक-अव्यावसायिक पत्रिका)

कुछ महत्वपूर्ण विशेषांक